संस्कृति और समाजशास्त्र

भाग–२

संस्कृति और समाजशास्त्र

(CULTURE & SOCIOLOGY)

भाग—२

लेखक

डॉ० रांगेय राघव एम० ए०, पी-एच० डी०

श्री गोविन्द शर्मा



विनोद पुस्तक मन्दिर

हास्पिटल रोड, आगरा

प्रकाशक—
रामकिशोर अग्रवाल
विनोद पुस्तक मन्दिर
हॉस्पिटल रोड, आगरा

प्रथम संस्करण
सन् १९५१
मूल्य
८

मुद्रक—
रामकिशोर अग्रवाल
कैलाश प्रिंटिंग प्रेस
बाग मुजफ्फर खाँ

भूमिका

भारतीय समाज का अध्ययन विद्वानों को काफी समय से आकर्षित करता रहा है। अनेक विख्यात समाजशास्त्रियों ने इस क्षेत्र में श्रेष्ठ कार्य किया है। हमने समाजशास्त्रीय दृष्टि से कुछ विषयों का विवेचन करने का प्रयत्न किया है। भारत की समस्या वास्तव में बहुत ही उलझी हुई सी दिखाई देती है।

हमने अपनी सामाजिक यात्रा में आदिमयुगीन व्यवस्था से विकास किया है। हमारा इतिहास काफी पुराना है। पूरे रिकार्ड भी नहीं रखे गये हैं या कहें कि अब प्राप्त नहीं होते। इसलिए पुराने ग्रन्थों के विषयों में काफी अभाव बना रहता है।

परिवार और स्त्री-पुरुष के सम्बन्धों की समस्या बहुत पुरानी है। सारे धर्मों ने परिवार की निन्दा भी की है और उसे छोड़ कर ही मुक्ति का पथ अपनाया है। परन्तु परिवार के बिना समाज चल नहीं सकता। स्त्री-पुरुष का द्वन्द्व आज से नहीं है। महाभारत में स्वयं पितामह भीष्म ने ही कलियुग में स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध को 'द्वन्द्व' की संज्ञा दी है। पश्चिम ने हमारे सामने नैतिकता के नये मानदण्ड (Ethical values) रख दिये हैं, और विज्ञान के विकास के कारण आज प्रायः उन्हें सार्वभौम मानकर स्वीकार भी किया जा रहा है।

भारतीय समाज बहुत विचित्र है। हम मूल रूप से यह मानते हैं कि यह संसार दुःख की जगह है। हम लोग कर्मफल से बंधे हुए जन्म ले बैठे हैं। समाज में हमें इसलिए रहना ही है, क्योंकि अब हम मजबूर हैं। यह बाहरी दुनिया असल में मायावी है। अब क्योंकि यहाँ रहना ही है, जो एक विवशता है, तो ऐसे रहना चाहिए कि जैसे हम रह कर भी रहते नहीं, क्योंकि हम निरासक्त हैं। दार्शनिक दृष्टि से ऐसा करना श्रेष्ठ है, और यह भी बड़ा सत्य है कि यह बहुत ही कठिन है। सन्तानोत्पादन के लिए स्त्री-सम्पर्क करना किन्तु उस समय मानसिक रूप से निरासक्त रहकर वासना से परे रहना, जैसे

ही किसी योगी के लिए सम्भव हो, साधारण व्यक्ति के लिए तो यह एक असम्भव सी बात है। परन्तु साथ ही रहने के लिए मर्यादा भी चाहिए और मर्यादा बड़ी पुरानी ब्रह्मा की बनायी है। ऐसे द्वन्द्व में भारतीय समाज कई शताब्दियों से रहा है। आश्चर्य यह है कि वह इतना सिद्धान्तवादी होकर भी बहुत ही कट्टर है और बहुत ही कट्टर होकर भी वह बहुत ही सहिष्णु है।

समाजशास्त्रीय विद्यार्थी होने के नाते हमने इसके लिए तथ्य जुटा कर सामने रखे हैं और उनकी व्याख्या भी उपस्थित की है। हमारा दृष्टिकोण यह रहा है कि हम भारतीय संस्कृति के भीतरी स्वरूप को प्रगट कर सकें।

आधुनिक जीवन और भारतीय आदर्शों में बड़ा भेद दिखाई देता है। हमने उसमें व्यक्ति और समाज के अन्योन्याश्रित सम्बन्धों को देखने की चेष्टा की है, और यह भी जानने का प्रयत्न किया है कि हमारी विरासत म से कितना ऐसा है जो हमारे काम आ सकता है।

हमने यहाँ यह निर्णय देने का प्रयत्न नहीं किया कि समाज में यही होना चाहिए। हमने आदिम समाजों की व्यवस्था से अब तक के समाजों का विश्लेषण करने की चेष्टा की है।

समाज में कोई बात अकारण ही पैदा नहीं होती। उसके पीछे कोई रूढ़ि (mores) परम्परा (traditions) या रिवाज (customs) होते हैं। समाज का मानसिक स्तर जैसा होगा वही ही उसकी भिन्नता भी होगी। इस बात को हमने दिखाने का प्रयत्न किया है। विभिन्न समाजों म या विभिन्न कालो म क्या परिवर्तन हुए, और किस प्रकार हुए, यह हमने अध्ययन करने का प्रयत्न किया है।

विद्यार्थियों के लिए यह पुस्तक एक प्रकार से और अधिक आवश्यक है, कि इसमें भारत तथा अन्य स्थानों का तुलनात्मक अध्ययन किया गया है और पाश्चात्य समस्याओं से भारतीय प्रश्नों को मिला कर देखा गया है।

रांगेय राघव
गोविंद शर्मा

विषय-सूची

संस्कृति और समाजशास्त्र

भाग—२

१

आदिम समाज का विकास

मनुष्य अन्य जीवधारियों एवं निर्जीव पदार्थों के विषय में अद्भुत जानकारी रखता है, पर स्वयं अपने विषय में अपेक्षाकृत बहुत कम जानता है। मनुष्य कब एवं कैसे उत्पन्न हुआ? विभिन्न धार्मिक या पौराणिक मतानुसार क्या वह 'जोड़' के रूप में उत्पन्न हुआ अथवा सृष्टि के विकास की किसी निश्चित योजना के अन्तर्गत ही उसने यह विकसित रूप प्राप्त किया है ये कुछ ऐसे प्रश्न हैं जो प्रारम्भ ही से मानवीय खोज एवं अनुसन्धान के विषय रहे हैं। वस्तुतः मनुष्य के प्रादुर्भाव से उसके वर्तमान रूप तक की कहानी ही हमारी सभ्यता एवं संस्कृति का इतिहास है जिसके अन्तर्गत मनुष्य का विकास उसकी भिन्न भिन्न प्रजातियाँ (races) उनके मूल निवास-स्थान उनका विकास एवं बर्बर अवस्था से राज्य के नागरिक के रूप तक की अवस्थाओं का अध्ययन परम आवश्यक है। इसीलिए उन विभिन्न 'युगों' एवं 'अवस्थाओं' का उल्लेख करना आवश्यक है, जिनमें से होकर ही मनुष्य आज अपने वर्तमान स्तर को प्राप्त कर सका है। मानव एवं अन्य प्राणियों के प्रस्तरित-अवशेषों (fossilized remains) ने इस विषय के अनुसन्धान में महत्वपूर्ण सहायता प्रदान की है।

सृष्टि की रचना के साथ मनुष्य का जन्म नहीं हुआ है। इसके विपरीत, जन्म-काल की दृष्टि से वह अन्य सब प्राणियों के बाद उत्पन्न हुआ है। सृष्टि

के प्रारम्भ में अथवा सबसे प्राचीन युग में तो प्राणधारी थे ही नहीं। इस काल का 'अजीव युग' (Azoic period) कहा जाता है। इसके उपरान्त वह 'जीव युग' आता है जिसमें मनुष्य के अतिरिक्त अन्य प्राणी उत्पन्न हुए जैसे कि जैली युक्त पिंड (Jelly-like substance), समुद्री घास (Sea-weeds) छोटी-छोटी मछलियाँ, रेंगने वाले एवं जल के पशु, और पृथ्वी के अन्य पशु आदि। मनुष्य से पूर्व जिस क्रम से प्राणी उत्पन्न हुए उसके अनुसार निम्नलिखित युगों की गणना की जाती है —

(क) अत्यन्त प्राचीन काल (Archeozoic period)—यह युग आज से लग भग १५००,००० ००० वर्ष पूर्व प्रारम्भ हुआ था। यह सबसे अधिक पुराना युग था। इसमें 'एक-कोषीय-जीव' (Uni-cellular life) उत्पन्न हुआ। पुरातत्व शास्त्रियों (Paleontologists) के अनुसार पृथ्वी की अब तक की २ अरब वर्ष की आयु का ३० प्रतिशत समय इसी एक-कोषीय-जीव में बीता। इसी युग को अति-पुरातन-जीव-युग भी कहा जाता है।

(ख) अति प्राचीन काल (Proterozoic period)—यह युग उपयुक्त युग के बाद आया। इसे 'पुरातन-जीव-युग' भी कहते हैं। यह समय आज से ६२५ ००० ० ० वर्ष पूर्व प्रारम्भ हुआ था और पृथ्वी की आयु (२ अरब वर्ष) का २२ प्रतिशत समय इसी युग में बीता। इसी काल में 'बहु-कोषीय जीव' (Multi-cellular life) प्रारम्भ हुआ। इस काल में 'बिना रीढ़ की हड्डी वाला' 'बहु-कोषीय-जीव' विकसित हुआ। घोंघे कीड़े आदि इसी युग के प्राणी थे।

(ग) प्राचीन काल (Paleozoic period)—आरम्भ से यह तीसरा युग था। इसी को 'पुरा-जीव-युग' भी कहा जा सकता है। पृथ्वी की आयु का १० प्रतिशत समय इसी युग में बीता था, जिसमें कि रीढ़ की हड्डी वाले (Vertebrate life) जीव जैसे कि मछलियाँ रेंगने वाले जानवर आदि उत्पन्न हुए। पृथ्वी की आयु का १० प्रतिशत समय इस युग में बीता था और यह युग आज से लगभग ५५० ००० ००० वर्ष पूर्व प्रारम्भ हुआ था।

(घ) 'मध्य-जीव-युग' (Mesozoic period)—यह आरम्भ से चौथा युग था जिसमें छोटे किस्म के 'स्तनप्य' (Mammals) एवं चिड़ियाएं उत्पन्न हुई थीं। यह समय आज से लगभग १६ , ० ००० वर्ष पूर्व प्रारम्भ हुआ था एवं पृथ्वी की आयु का ११ प्रतिशत भाग इसी युग में बीता था।

(ङ) 'नवजीव-युग' (Cainozoic or Cenozoic period)—इस युग में बड़-बड़े 'स्तनप्यों (Mammals) का जन्म प्रारम्भ हुआ। इसी युग के अन्त

में मनुष्य का प्रादुर्भाव हुआ। यह युग आज से साढ़े पाँच करोड़ वर्ष पूर्व प्रारम्भ हुआ। उपयुक्त से यह पाँचवा युग है।

विषय-वस्तु को सरल एवं ग्राह्य बनाने की दृष्टि से ही यहाँ पाँच युगों का वर्णन किया गया है—अन्यथा भूगर्भशास्त्रियों ने अत्यन्त प्राचीन काल या 'अति-सुपुरा-जीव-युग' (Archeozoic period) को गणना से बाहर रखकर सुपुरा-जीव-युग' (Proterozoic period) को अति-प्राथमिक युग' (Remote Primary period) 'पुरा-जीव-युग'(Paleozoic period) को 'प्राथमिक युग (Primary period), 'मध्य-जीव-युग' (Mesozoic period) को 'द्वितीय युग' (Secondary period) एवं 'नव-जीव-युग' (Cainozoic period) को 'तृतीय एवं चतुर्थ युग' (Tertiary and Quarternary period) के नामों से सम्बोधित किया है। भूगर्भशास्त्रियों ने इस 'तृतीय' एवं चतुर्थ युग को फिर क्रमश: तीन-तीन,भागों में विभाजित किया है, अर्थात् नव-जीव-युग को छः भागों में बाँटा है जिसके द्वारा मनुष्य के प्रादुर्भाव एवं क्रमिक विकास का इतिहास सुगम हो जाता है।

'नव-जीव-युग सम्बन्धी तृतीय युग का विभाजन'

1 Eocene period

इस काल में जेरवाले स्तनप्य (Placental mammal) उत्पन्न हुए।

2. Oligocene period

इस युग में मनुष्य जैसे आकार के बन्दर सदृश वानर (First Small Anthropoid Apes) उत्पन्न हुए।

3. Miocene period

इस युग में बन्दरों के पूर्वज एवं मनुष्य की सी शक्ल (Humanoid forms) के प्राणी उत्पन्न हुए।

'नव-जीव-युग' सम्बन्धी 'चतुर्थ' युग का विभाजन

1 Pliocene period

पैरों पर खड़े होकर चलने वाले (Pithecanthropus erectus) वानरों का जन्म इसी समय हुआ था।

2. Pleistocene or Glacial period

इसी युग में वास्तविक मनुष्य का प्रादुर्भाव हुआ। इस युग में चार बार भूमि के उत्तरी भोलाड में हिम का महापात हुआ। हिमपात से पूर्व की समय अवधि १ ०००,००० वर्ष मानी जाती है। उसके बाद प्रथम हिमपात (First glacial) आज से ६,०१,००० वर्ष पूर्व हुआ; दूसरा हिमपात ७१ ,०००

की सभ्यता की प्रगति में योगदान करती है। मिस्र, सुमेरिया, ग्रीस, एवं भारत आदि देशों का इतिहास तत्कालीन विभिन्न मानव-जातियों की सभ्यता और संस्कृति का दर्पण है जिसमें हम उनके गौरवमय अतीत की झाँकी देख सकते हैं।

संस्कृति और मानव-शास्त्र का गहरा सम्बन्ध है। मनुष्य का रहन-सहन मानवशास्त्र के लिये अध्ययन का विषय है। मनुष्य सर्वत्र एकसा नहीं मिलता। उसके विभेद अनेक कारणों से होते हैं। वस्तुतः मानव संसार में एक सा नहीं है। उसके विभेद उसे नाना प्रकार के रूपान्तरों में उपस्थित करते हैं।

प्राचीनकाल में मनुष्य के विकास के विषय में लोगों में कोई धारणा नहीं थी। इसीलिये हमें उसके सांगोपांग अध्ययन का कोई मार्ग नहीं था। भूगोल और इतिहास, इन दोनों का मानव जीवन पर गहरा प्रभाव पड़ता है। प्रकृति की ही अनेक वस्तुओं के प्रति मानव के दृष्टिकोण में जो भेद है, वह उसकी संस्कृति में भेद उत्पन्न कर देता है। इन भेदों को प्रत्येक दल या जाति यथावत चला मानती है। उस विशेष आस्था को मानते रहने से मनुष्यों में संस्कार-सा बन जाता है। मनुष्य का अध्ययन करने लिए आवश्यक है कि पहले हम समाजशास्त्रीय व्याख्याओं का अध्ययन करें। समाजशास्त्र बिना मानवशास्त्र के अधूरा है।

जीव-शास्त्र के बाद ही मानवशास्त्र का अध्ययन प्रारम्भ हुआ। चट्टानों में से खोद कर निकाले गये प्रस्तरित अवशेषों ने मनुष्य के दृष्टिकोण को बदल दिया है। विज्ञान और मानवशास्त्र का इसीलिये अटूट सम्बन्ध है। किन्तु मानव शास्त्र विकासवाद तक ही सीमित नहीं रहता। वह तो मनुष्य का अध्ययन करता है, इसलिये उसे मानव के अनेक रूप देखने पड़ते हैं। इस रूप में मानव शास्त्र समाजशास्त्र के अन्तर्गत आ जाता है।

संस्कृति समाजशास्त्र के अध्ययन का एक प्रमुख विषय है, परन्तु संस्कृति की व्याख्या करना कठिन है। हमने प्रथम खण्ड में समाजशास्त्रीय दृष्टिकोणों से संस्कृति की व्याख्या की है

मनुष्य के जीवन के अध्ययन के लिये हमें निम्नलिखित तथ्यों को देखना आवश्यक होता है—

(१) समाज क्या है ? उसका विकास किन नियम और आदर्श के अन्तर्गत हुआ।

(२) समाज की आस्थाएं किन बाह्य परिस्थितियों से जन्म लेती हैं। उनके पीछे वास्तविकता क्या होती है।

(३) धर्म और लोक व्यवहार किन सिद्धान्तों पर अपना विकास करते हैं?

यहाँ हम इन्हीं विषयों पर प्रकाश डालने की चेष्टा करेंगे ताकि संस्कृति और समाजशास्त्र का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध स्पष्ट हो सके।

की सभ्यता की प्रगति में योगदान करती है। मिस्र, सुमेरिया, ग्रीस एवं भारत आदि देशों का इतिहास तत्कालीन विभिन्न मानव-जातियों की सभ्यता और संस्कृति का दर्पण है जिसमें हम उनके गौरवमय अतीत की झांकी देख सकते हैं।

संस्कृति और मानव-शास्त्र का गहरा सम्बन्ध है। मनुष्य का रहन-सहन मानवशास्त्र के लिये अध्ययन का विषय है। मनुष्य सर्वत्र एकसा नहीं मिलता। उसके विभेद अनेक कारणों से होते हैं। वस्तुत: मानव संसार में एक सा नहीं है। उसके विभेद उसे नाना प्रकार के रूपान्तरों में उपस्थित करते हैं।

प्राचीनकाल में मनुष्य के विकास के विषय में लोगों में कोई धारणा नहीं थी। इसीलिये हमें उसके सांगोपांग अध्ययन का कोई मार्ग नहीं था। भूगोल और इतिहास इन दोनों का मानव जीवन पर गहरा प्रभाव पड़ता है। प्रकृति की ही अनेक वस्तुओं के प्रति मानव के दृष्टिकोण में जो भेद है वह उसकी संस्कृति में भेद उत्पन्न कर देता है। इन भेदों को प्रत्येक दल या जाति शाश्वत जैसा मानती है। उस विशेष आस्था को मानते रहने से मनुष्यों म संस्कार-सा बन जाता है। मनुष्य का अध्ययन करने लिए आवश्यक है कि पहले हम समाजशास्त्रीय व्याख्याओं का अध्ययन करें। समाजशास्त्र बिना मानवशास्त्र के अधूरा है।

जीव-शास्त्र के बाद ही मानवशास्त्र का अध्ययन प्रारम्भ हुआ। चट्टानों में से खोद कर निकाले गये प्रस्तरित अवशेषों ने मनुष्य के दृष्टिकोण को बदल दिया है। विज्ञान और मानवशास्त्र का इसीलिये अटूट सम्बन्ध है। किन्तु मानव-शास्त्र विकासवाद तक ही सीमित नहीं रहता। वह तो मनुष्य का अध्ययन करता है इसलिये उसे मानव के अनेक रूप देखने पड़ते हैं। इस रूप में मानव शास्त्र समाजशास्त्र के अन्तर्गत आ जाता है।

संस्कृति समाजशास्त्र के अध्ययन का एक प्रमुख विषय है, परन्तु संस्कृति की व्याख्या करना कठिन है। हमने प्रथम खण्ड में समाजशास्त्रीय दृष्टिकोणों से संस्कृति की व्याख्या की है

मनुष्य के जीवन के अध्ययन के लिये हमें निम्नलिखित तथ्यों को देखना आवश्यक होता है—

(१) समाज क्या है? उसका विकास किस नियम और आदर्श के अन्तर्गत हुआ।

(२) समाज की मान्यताएँ किन बाह्य परिस्थितियों से जन्म लेती हैं। उनके पीछे वास्तविकता क्या होती है।

(३) धर्म और लोक व्यवहार किन सिद्धान्तों पर अपना विकास करते हैं ?

यहाँ हम इन्हीं विषयों पर प्रकाश डालने की चेष्टा करेंगे ताकि संस्कृति और समाजशास्त्र का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध स्पष्ट हो सके।

२

सांस्कृतिक मर्यादा और उपकरण आदिम समाज

प्रत्येक समाज में मनुष्यों के पारस्परिक व्यवहार से एक प्रकार का संघर्ष उत्पन्न होता है। एक व्यक्ति दूसरे से जब मिलता है, तब उनमें प्रतिभेद प्रकट होता है। वे एक दूसरे से समन्वय करने की चेष्टा करते हैं किन्तु उनका भेद अपनी जगह वर्तमान रहता है।

समाज मे कुछ परम्पराए होती है, कुछ नियम होते है, और उनके साथ रिवाज के तौर पर बहुत सी बातें चलती रहती है। मनुष्य एक परिस्थिति में जन्म लेता है और वह उसको निरन्तर प्रभावित करती है। परम्परा उसकी एक अभिव्यक्ति है। य परम्पराए समाज मे पिता से पुत्र को और पुत्र से पौत्र को दाय-स्वरूप प्राप्त होती है। मनुष्य एकदम परिवर्तन नहीं कर पाता। पिता के हाथों जब पुत्र पलता है तो पिता के गुण की छाप बाल्यावस्था में पुत्र पर पड़ती है। पुत्र-युवा दोनों में ही उसका वह मानसिक अध्ययन करता है। उसके समय में संघर्ष होते है। पहले भी कुछ संघर्ष हो चुके होते है। अत: वह नये संघर्षों को पुरानों की पृष्ठभूमि के अन्तर्गत रखकर देखता है?

विशेष घटनाओं के बारे में जो सर्वमान्य निर्णय होते है और जिन्हें समाज अपने लिए उचित तथा उपयोगी स्वीकार करता है, उन्हें परम्परा के अन्तर्गत रख लिया जाता है। प्रत्येक बार के संघर्ष के लिये नयी व्याख्या नहीं खोजी जाती क्योंकि मतैक्य के लिये पृष्ठभूमि की आवश्यकता पड़ती है।

अतः किसी भी समाज के अध्ययन में हमें इसीलिए उसके इतिहास को देखना पड़ता है। भारतीयों में अनेक पहलुओं आज एक परम्परा के अन्तर्गत आता है, किन्तु किसी समय इसका भी कोई उद्देश्य रहा होगा। उस उद्देश्य का विस्मृत न आना यही बताता है कि परम्परा में उसकी व्याख्या की आवश्यकता नहीं थी। भारतीय पर्वों प्रथा अनेक जातियों में विद्यमान है। इसका उल्लेख विशेषकर राक्षस संस्कृति के साथ हुआ है। अतः यह भी एक प्राचीन परम्परा है। भारतीय पंचगव्य का प्रसाद पाते हैं, परन्तु अन्य देशीय ऐसा नहीं करते। वैदिक समाज में कभी कोई प्रथा थी जो हमारे यहाँ पवित्र बन गई। परम्परा-पालन केवल भारतीयों में ही नहीं अपितु संसार के अन्य देशों में भी होता है। अरबों के देश में चन्द्रमा रेगिस्तान में झुककर होता है, काफिले चाँदनी में ही चलते हैं। वह पवित्र लगता है। इसीलिये नया चाँद देखने की प्रथा भारतीय मुसलमानों में भी विद्यमान है। अरबों के साथ यह परम्परा भारत में आयी और बस पड़ी और मुस्लिम रहन-सहन में धर्म के सहारे उतर गई।

ये परम्पराएं पीढ़ी दर पीढ़ी चलती हैं। इन पर प्रायः लोग तर्क भी नहीं करते। समाज में इसी भांति जब नयी समस्या उठाती है तब उससे उद्भूत नये नये सम्बन्धों का उनके आधार पर ही निश्चित कर लिया जाता है। समाज में नया संबंध नयी परिस्थितियों से जन्मता है। परन्तु कोई भी नयापन अपने पीछे एक आधार लिये होता है। उस आधार के बिना वह अपने अस्तित्व को समक्ष नहीं पाता। केवल सभ्य ही नहीं, असभ्य और आदिम कही जाने वाली जातियां भी इसमें पीछे नहीं हैं। एक मतानुसार विगत की घटनाओं को स्मृति का आलेख उस समय के निश्चय निर्णय या विधि विधान का संश्लिष्ट रूप ही कानून है। इसमें जनरीतियां पुराणकथा परम्परा इत्यादि का भी समावेश होता है, जिनकी सहायता से कि घटना-विशेष द्वारा उत्पन्न समस्या का निदान प्रस्तुत किया जाता है।

वर्तमान युग में विधि-विधान बहुत विकास कर गया है। आजकल कोई कानून यों ही नहीं बन सकता। सामंतीय युग में दो प्रकार के कानून भारत में प्रचलित थे।

एक। धर्मशास्त्र।

दो। दैनंदिन कार्यों में राजा का वचन।

धर्मशास्त्र के निर्माता ब्राह्मण थे। वे अपने समाज में एक प्रकार की मर्यादा रखना चाहते थे। इसलिये उनके बनाए नियमों में एक विशेष प्रकार की अभिव्यक्ति है। पाप पुण्य और धार्मिक भावना से बना यह वर्णाश्रम पर आधारित विधान भारत में अभी तक लागू रहा है।

सामंतीय शासक एक शासनकर्ता (administrator) था। वह केवल ब्राह्मण कृत नियमों का ही मुख्यतया पालन करता था। किन्तु वह दण्ड विधान में, जहाँ कि उसे विधि नहीं मिलती थी, अपने विवेक से काम लेता था। प्रायश्चित और दण्ड को ब्राह्मणकृत धर्म-शास्त्र में नहीं उल्लिखित किया गया है वहाँ उसका धर्म और समाज से सम्बन्ध होता है।

आगे चलकर विधान सभाएं और पार्लियामेंट कानून बनाने लगीं। तब तक समाज बहुत बदल गया। इस समय धर्म को पीछे छोड़कर प्रवाहित के नये मानदंडों का आसरा लिया गया।

इस दृष्टि से आदिम समाजों में कोई कानून नहीं होता। कानून की नयी परिभाषा यहाँ लागू नहीं होती।

प्राचीन भारत में समितियां होती थीं। परन्तु उससे भी प्राचीन काल में समितियों का अभाव था। अथर्ववेद में क्रम दिया गया है। पहले गृहपति होता था। जब उससे काम नहीं चला तब सभा बनी। सभायें जब बड़ी होने लगीं तो समितियां चुनी गईं और अंततोगत्वा राजा आया जिसने विधि को सुरक्षित रखा।

कुछ के मतानुसार लिखित नियम और विधि ही समाज में कानून कहला सकती है, जिनके द्वारा शासन संभव होता है। किन्तु इंगलैंड में अब भी अलिखित विधान है। वहाँ परम्परा से ही काम चलता रहता है। परन्तु कानून और विधान में अन्तर होता है।

प्राचीन काल की कई सभ्य जातियां भी ऐसी बतायी जाती हैं जिनके यहाँ लेखन सर्वसाधारण में नहीं था। फिर भी उनके यहाँ मौखिक रूप से ही कानूनों को याद रखा जाता था।

भारत में लेखन बहुत प्राचीन है। पाश्चात्यों में इस पर मतभेद है। वस्तुतः यहाँ इस विषय पर विवाद न करके हम यही कहेंगे कि परम्परा जब सर्वमान्य नहीं होती और संश्लिष्ट हो जाती है, तब कानून को लिखा जाता है।

परन्तु भारत में कई कबीला जातियां हैं जिनमें लेखन नहीं रहा। फिर भी उनके समाज में कुछ कानून माने जाते हैं।

जो समाज केवल एक ही परिवार के विकास से बना हो जिसमें शासन की आवश्यकता न हो, वहाँ राज्य नहीं होता। वहाँ कानून की भी आवश्यकता नहीं होती। कानून नियमदाता चाहता है। दण्ड और कानून सामाजिक मान्यता के बिना नहीं रह सकते। पहले भयानक यातनाएं दी जाती थीं क्योंकि अप राधी को कष्ट देना तत्कालीन समाज में मान्य था, परन्तु आगे चलकर इस

प्रकार शारीरिक कष्ट देने को अंसस्कर नहीं माना गया उसे बर्बर समझा जाने लगा।

प्रत्येक आदिम समाज में हमें नियम और विधि के दर्शन होते हैं। उनका कड़ाई से पालन किया जाता है।

कार्डोज के मतानुसार कानून की परिभाषा यों है—"कानून एक आचार व्यवहार का नियम या सिद्धान्त है, यह इस औचित्यानुसार निर्धारित किया जाता है कि यदि अमुक रूप से उल्लंघन होगा तो कचहरियाँ उसके लिये निर्धारित रूप से शक्ति प्रयोग करके उसे लागू करेंगी। यह सर्वमान्य रूप से माना जाता है कि कानून व्यवहार में आने वाली शक्ति है।[1]

किन्तु इस हिसाब से कचहरी का महत्व सबसे अधिक हो जाता है। कानून से पहले कचहरी का स्थान बन जाता है। आदिम समाजों में कचहरी का रूप क्या था यह विषय हमारे सामने विचारणीय बन कर आता है। उस समय इस प्रकार की व्यवस्था नहीं थी। परम्परा भी इस प्रकार नियमों के जाल को फैला नहीं सकी थी।

अधिकांश आदिम समाजों में आधुनिक ढंग के संगठन नहीं हैं जिनके अन्तर्गत हम कचहरी को रख सकते हों। किन्तु प्रकारांतर से अन्य रूपों में उनमें कचहरियाँ जैसी कुछ व्यवस्था थी ऐसा हमें मिलता है।

समाज के महत्त्वपूर्ण व्यक्ति एकत्रित होते थे और झगड़ों के फैसले किया करते थे। यह एक प्रकार की अस्थायी कचहरी बन जाती थी। कुछ समय के लिये आपस में उस विषय पर विचार किया जाता था।

भारतीय समाज की पंचायतें इसी का प्रकारान्तर हैं। और जनपदों में वयोवृद्ध मिलते थे और उनकी शक्ति कालान्तर में इतनी बढ़ गई थी कि सम्राट भी उनसे सलाह लेकर काम किया करते थे। और जनपदों का राजनीतिक रूप लुप्त हो गया है, किन्तु अब भी गाँवों में पंचायतों का महत्व वर्तमान है। नयी पंचायतें ग्रामीणों की इसी परम्परा को देखकर बनायी गई हैं।

प्रत्येक आदिम समाज में झगड़े तय किये जाते हैं। और इसके लिये कोई न कोई मार्ग अपनाया जाता है। वे सभा के रूप में इकट्ठे हो जाते हैं। यह काम आधा धार्मिक माना जाता है।

1—The law is a principle or rule of conduct so established as to justify the prediction with reasonable certainty that it will be enforced by the courts if its authority is challenged.

सार्मंतीय शासक एक प्रशासनकर्ता (administrator) था। वह केवल शास्त्रप्रदत्त नियमों का ही मुख्यतया पालन करता था। किन्तु वह अन्य विधान में, जहाँ कि उसे विधि नहीं मिलती थी, अपने विवेक से काम लेता था। प्रायश्चित और दण्ड को शास्त्रप्रदत्त धर्म-शास्त्र में वहीं उल्लिखित किया गया है जहाँ उसका धर्म और समाज से सम्बन्ध होता है।

आगे चलकर विधान सभाएं और काउंसिलें कानून बनाने लगीं। तब तक समाज बहुत बदल गया। इस समय धर्म को पीछे छोड़कर प्रजाहित के नये मानदंडों का आसरा लिया गया।

इस दृष्टि से आदिम समाजों में कोई कानून नहीं होता। कानून की नयी परिभाषा यहाँ लागू नहीं होती।

प्राचीन भारत में समितियाँ होती थीं। परन्तु उससे भी प्राचीन काल में समितियों का अभाव था। अथर्ववेद में कम लिया गया है। पहले गृहपति होता था। जब उससे काम नहीं चला तब सभा बनी। सभायें जब बड़ी होने लगीं तो समितियाँ चुनी गईं और अंततोगत्वा राजा आया जिसने विधि को सुरक्षित रखा।

कुछ के मतानुसार लिखित नियम और विधि ही समाज में कानून कहला सकती है, जिनके द्वारा शासन संभव होता है। किन्तु इंगलैंड में अब भी अलिखित विधान है। वहाँ परम्परा से ही काम चलता रहता है। परन्तु कानून और विधान मे अन्तर होता है।

प्राचीन काल की कई सभ्य जातियाँ भी ऐसी बतायी जाती हैं जिनके यहाँ लेखन सर्वसाधारण मे नहीं था। फिर भी उनके यहाँ मौखिक रूप से ही कानूनों को याद रखा जाता था।

भारत में लेखन बहुत प्राचीन है। पाश्चात्यों में इस पर मतभेद है। वस्तुतः यहाँ इस विषय पर विवाद न करके हम यही कहेंगे कि परम्परा जब सर्वग्राह्य नहीं होती और संश्लिष्ट हो जाती है, तब कानून को लिखा जाता है।

परन्तु भारत मे कई कबीला जातियाँ हैं जिनमे लेखन नहीं रहा। फिर भी उनके समाज में कुछ कानून माने जाते हैं।

जो समाज केवल एक ही परिवार के विकास से बना हो, जिसमें शासन की आवश्यकता न हो वहाँ राज्य नहीं होता। वहाँ कानून की भी आवश्यकता नहीं होती। कानून निष्पक्षता चाहता है। दण्ड और कानून सामाजिक मान्यता के बिना नहीं रह सकते। पहले भयानक यातनाएं दी जाती थीं क्योंकि अपराधी को कष्ट देना तत्कालीन समाज में मान्य था, परन्तु आगे चलकर इस

प्रकार शारीरिक कष्ट देने को श्रेयस्कर नहीं माना गया उसे बर्बर समझा जाने लगा।

प्रत्येक आदिम समाज में हमें नियम और विधि के दर्शन होते हैं। उनका कड़ाई से पालन किया जाता है।

कार्डोज के मतानुसार कानून की परिभाषा यों है—"कानून एक आचार व्यवहार का नियम या सिद्धान्त है वह इस औचित्यानुसार निर्धारित किया जाता है कि यदि अमुक रूप से उल्लंघन होगा तो कचहरियाँ उसके लिये निर्धारित रूप से शक्ति प्रयोग करके उसे लागू करेंगी। यह सर्वमान्य रूप से माना जाता है कि कानून व्यवहार में आने वाली शक्ति है।"[1]

किन्तु इस हिसाब से कचहरी का महत्व सबसे अधिक हो जाता है। कानून से पहले कचहरी का स्थान बन जाता है। आदिम समाजों में कचहरी का रूप क्या था यह विषय हमारे सामने विचारणीय बन कर आता है। उस समय इस प्रकार की व्यवस्था नहीं थी। परम्परा भी इस प्रकार नियमों के जाल को फैला नहीं सकी थी।

अधिकांश आदिम समाजों में आधुनिक ढंग के संगठन नहीं हैं जिनके अन्तर्गत हम कचहरी को रख सकते हों। किन्तु प्रकारांतर से अन्य रूपों में उनमें कचहरियों जैसी कुछ व्यवस्था थी, ऐसा हमें मिलता है।

समाज के महत्वपूर्ण व्यक्ति एकत्रित होते थे और झगड़ों के फैसले किया करते थे। वह एक प्रकार की अस्थायी कचहरी बन जाती थी। कुछ समय के लिये आपस में उस विषय पर विचार किया जाता था।

भारतीय समाज की पंचायतें इसी का प्रकारान्तर हैं। और जनपदों में वयोवृद्ध मिलते थे और उनकी शक्ति कालान्तर में इतनी बढ़ गई थी कि सम्राट भी उनसे सलाह लेकर काम किया करते थे। और जनपदों का राजनीतिक रूप लुप्त हो गया है, किन्तु अब भी गाँवों में पंचायतों का महत्व वर्तमान है। नयी पंचायतें ग्रामीणों की इसी परम्परा को देखकर बनायी गई हैं।

प्रत्येक आदिम समाज में झगड़े तय किये जाते हैं। और इसके लिये कोई न कोई मार्ग अपनाया जाता है। वे सभा के रूप में इकट्ठे हो जाते हैं। यह काम आधा धार्मिक माना जाता है।

1—The law is a principle or rule of conduct so established as to justify the prediction with reasonable certainty that it will be enforced by the courts if its authority is challenged.

कोई भी व्यक्ति यदि कोई नियम तोड़ता है तो उसको शीघ्र ही बाकी लोग देख लेते हैं, क्योंकि वे एक दूसरे के बहुत समीप रहते हैं। निकटता के कारण वे एक दूसरे पर दृष्टि रख सकते हैं और शीघ्र ही उसे रोक भी सकते हैं।

समाज का विकास दूसरी समस्या प्रस्तुत करता है। तब समाज सहज से संश्लिष्ट हो जाता है।

सहज समाज में कुलपति या दलपति हुआ करते थे।

उनमें सामाजिक, राजनीतिक और धार्मिक अधिकार निहित रहते थे। कभी-कभी तीनों एक ही के हाथ में रहते थे।

जब दलपति स्वयं ही नियम तोड़ते थे तब वृद्ध लोग एकत्र होते थे और वे उस पर रुकावट लगाते थे। वे दण्ड भी देते थे। दण्ड अपराधानुसार दिया जाता था। यही कानून की पहली मंजिल थी और प्रजातन्त्र का सीधा (direct) और प्रारम्भिक रूप था।

जब कानून सीधा नहीं लागू हुआ तब समाज में एक दूसरी मंजिल आ गई। इन समाजों में प्रजातन्त्रात्मकता तो थी किन्तु प्रणाली प्रजातन्त्र की न थी जो कि कानूनों को लागू करती। समाज में एक व्यक्ति दलपति बनता था और जब कहीं कोई अपराध होता था तब वह कानून टूटने के कारण अपने अधिकारों का प्रयोग करके दण्ड देता था।

इन अधिपतियों के हाथ में सारी शक्ति निहित होती थी। उन्हें कोई भी रोक नहीं सकता था। उन पर केवल दैवी शक्तियों का आधिपत्य माना जाता था। अवश्य ही जनमत का भी उन्हें भय रहता था। परन्तु ऐसे लोग जो सर्वशक्तिमान माने जाते थे वे अपने समाज में प्रायः अनाचार नहीं करते थे। परन्तु स्वयं अपराध करने पर वे अधिपति दण्डनीय नहीं हो सकते थे जैसे कि पहली अवस्था के समाज के दलपतियों को दण्ड मिल जाता था।

तीसरी अवस्था में मनुष्य खेतिहर-चरवाह संस्कृति में आ गया।

इन लोगों में या तो मुखिया या राजा चुने जाते थे। वे राजा अपनी जगह पर कानून को ठीक रखने के लिये कचहरियों में न्यायाधीश नियुक्त किया करते थे। फिर उनके नीचे और भी न्यायाधीश होते थे। वे अपने अधिकारों को इस प्रकार बाँट लिया करते थे।

अब धन भी भूमि के रूप में लिया जाता था। वह धन इन समाजों के अधिपतियों को दिया जाता था। उस धन का कुछ भाग अन्य कार्यों पर भी व्यय किया जाता था।

कचहरियों में प्रायः ही कानून का पालन किया जाता था। पहले कानून की दृष्टि से देखा जाता था कि अमुक कार्य से कानून टूटता है या नहीं और

फिर कचहरी यह जाँच करती थी कि अपराधी ने वास्तव में अमुक अपराध किया है या नहीं। यह दूसरा काम कठिन था अत: इसके लिये प्रमाण की आवश्यकता पड़ने लगी और तब गवाह की आवश्यकता ने जन्म लिया। किसी भी व्यक्ति के अपराध को प्रमाणित करने को साक्षी की आवश्यकता पड़ने लगी। प्रारम्भिक काल में गवाह की कोई आवश्यकता नहीं थी क्योंकि सभी एक दूसरे को जानते थे और एक दूसरे के सामाजिक और असामाजिक कार्यों से परिचित थे।

तभी अवस्था में परीक्षण प्रारम्भ हुए। ये विविध परम्पराएँ भारत में कई विदेशियों के आगमन तक रहीं जैसे अपराध किया है या नहीं जाँचने के लिये अग्नि-स्पर्श इत्यादि कराना। यदि कोई अग्नि छू कर भी नहीं जलता था तो उसे सच्चा मान कर छोड़ दिया जाता था।

परन्तु यह बात तुर्कों को ठीक नहीं लगी। तुर्क मुसलमान थे। मुल्ला लोगों ने इसे शरीयत के खिलाफ माना और इसे काफिर-प्रथा समझकर रोक दिया गया।

इसके बाद तो साक्ष्य को प्रस्तुत करना एक लम्बी प्रक्रिया हो गई।

आज के प्रत्येक गवाह की पूरी तरह से जाँच होती है। न्यायाधीश पोर से बाद में पूछता है, पहले गवाह के बारे में जाँच की जाती है कि वह ठीक कह रहा है या झूठ।

परन्तु यह संश्लिष्ट पद्धति सभ्यता के विकास के कारण बनी है। अब न्यायाधीश का प्रत्येक व्यक्ति से परिचय नहीं होता। समाज बड़ा हो गया है।

आदिम समाज की एक बहुत बड़ी विशेषता होती थी कि उसकी इकाइयाँ छोटी होती थीं छोटा भूगोल होता था और इसीलिये उसके सदस्य एक दूसरे को जानते थे।

परस्पर व्यक्तिगत परिचय होने के कारण समस्या दूसरी होती है, और न जानने की परिस्थिति में दूरी का बना रह जाना संभाव्य है।

आदिम राज्य के विषय में भी मत निर्धारण करना कठिन कार्य है। क्या उनमें कोई सरकार नामक वस्तु थी? आजकल हम जिसे सरकार कहते हैं, वह आदिमकाल में नहीं थी। तब तक राज्य के स्वरूप का विकास नहीं हुआ था।

किन्तु उस समय भी सरकारी काम अवश्य होते थे—अर्थात् किसी शासन की आज्ञा चलती थी।

प्रजा की स्वतन्त्रता जीवन रक्षा और समृद्धि के लिये तब भी कोई

कोई भी व्यक्ति यदि कोई नियम तोड़ता है तो उसको शीघ्र ही बाकी लोग देख लेते हैं, क्योंकि वे एक दूसरे के बहुत समीप रहते हैं। निकटता के कारण वे एक दूसरे पर दृष्टि रख सकते हैं और शीघ्र ही उसे रोक भी सकते हैं।

समाज का विकास दूसरी समस्या प्रस्तुत करता है। तब समाज सहज से संश्लिष्ट हो जाता है।

सहज समाज में गृहपति या दलपति हुआ करते थे।

उनमें सामाजिक, राजनैतिक और धार्मिक अधिकार निहित रहते थे। कभी-कभी तीनों एक ही के हाथ में रहते थे।

जब दलपति स्वयं ही नियम तोड़ते थे तब कुछ लोग एकत्र होते थे और वे उस पर रुकावट लगाते थे। वे दण्ड भी देते थे। दण्ड अपराधानुसार दिया जाता था। यही कानून की पहली मंजिल थी और प्रजातन्त्र का सीधा (direct) और प्रारम्भिक रूप था।

जब कानून सीधा नहीं लागू हुआ तब समाज में एक दूसरी मंजिल आ गई। इन समाजों में प्रजातन्त्रात्मकता तो थी, किन्तु अप्रत्यक्ष प्रजातन्त्र की न थी जो कि कानूनों को लागू करती। समाज में एक व्यक्ति दलपति बनता था और जब कहीं कोई अपराध होता था तब वह कानून टूटने के कारण अपने अधिकारों का प्रयोग करके दण्ड देता था।

इन अधिपतियों के हाथ में सारी शक्ति निहित होती थी। उन्हें कोई भी रोक नहीं सकता था। उन पर केवल दैवी शक्तियों का आधिपत्य माना जाता था। अवश्य ही जनमत का भी उन्हें भय रहता था। परन्तु ऐसे लोग जो सर्वशक्तिमान माने जाते थे, वे अपने समाज में प्रायः अत्याचार नहीं करते थे। परन्तु स्वयं अपराध करने पर ये अधिपति दण्डनीय नहीं हो सकते थे, जैसे कि पहली अवस्था के समाज के दलपतियों को दण्ड मिल जाता था।

तीसरी अवस्था में मनुष्य खेतिहर-चरवाह संस्कृति में आ गया।

इन लोगों में या तो मुखिया या राजा चुने जाते थे। ये राजा अपनी जगह पर कानून को ठीक रखने के लिये कचहरियों में न्यायाधीश नियुक्त किया करते थे। फिर उनके नीचे और भी न्यायाधीश होते थे। वे अपने अधिकारों को इस प्रकार बाँट लिया करते थे।

अब धन भी जुर्माने के रूप में लिया जाता था। वह धन इन समाजों के अधिपतियों को दिया जाता था। उस धन का कुछ भाग अन्य कामों पर भी व्यय किया जाता था।

कचहरियों में प्रायः ही कानून का पालन किया जाता था। पहले कानून की दृष्टि से देखा जाता था कि अमुक कार्य से कानून टूटता है या नहीं और

फिर कचहरी यह जाँच करती थी कि अपराधी ने वास्तव में अमुक अपराध किया है या नहीं। यह दूसरा काम कठिन था अतः इसके लिये प्रमाण की आवश्यकता पड़ने लगी और तब गवाह की आवश्यकता ने जन्म लिया। किसी भी व्यक्ति के अपराध को प्रमाणित करने को साक्षी की आवश्यकता पड़ने लगी। प्रारम्भिक काल में गवाह की कोई आवश्यकता नहीं थी क्योंकि सभी एक दूसरे को जानते थे और एक दूसरे के सामाजिक और असामाजिक कार्यों से परिचित थे।

नयी अवस्था में परीक्षण प्रारम्भ हुए। ये विचित्र परम्पराएं भारत में कई विदेशियों के आगमन तक रहीं, जैसे अपराध किया है या नहीं जाँचने के लिये अग्नि-स्पर्श इत्यादि कराना। यदि कोई अग्नि छू कर भी नहीं जलता था, तो उसे सच्चा मान कर छोड़ दिया जाता था।

परन्तु यह बात तुर्कों को ठीक नहीं लगी। तुर्क मुसलमान थे। मुल्ला लोगों ने इसे शरीयत के खिलाफ़ माना और इसे काफ़िर-प्रथा समझकर रोक दिया गया।

इसके बाद तो साक्ष्य को प्रस्तुत करना एक लम्बी प्रक्रिया हो गई।

आज के प्रत्येक गवाह की पूरी तरह से जाँच होती है। न्यायाधीश चोर से बाद में पूछता है, पहले गवाह के बारे में जाँच की जाती है कि वह ठीक कह रहा है या झूठ।

परन्तु यह संश्लिष्ट पद्धति सभ्यता के विकास के कारण बनी है। अब न्यायाधीश का प्रत्येक व्यक्ति से परिचय नहीं होता। समाज बड़ा हो गया है।

आदिम समाज की एक बहुत बड़ी विशेषता होती थी कि उसकी इकाइयाँ छोटी होती थीं क्षेत्र सीमित होता था और इसीलिये उसके सदस्य एक दूसरे को जानते थे।

परस्पर व्यक्तिगत परिचय होने के कारण समस्या दूसरी होती है, और न जानने की परिस्थिति में दूरी का बना रह जाना स्वाभाविक है।

आदिम राज्य के विषय में भी मत निर्धारण करना कठिन कार्य है। क्या उसमें कोई सरकार नामक वस्तु थी? आजकल हम जिसे सरकार कहते हैं, वह आदिमकाल में नहीं थी। तब तक राज्य के स्वरूप का विकास नहीं हुआ था।

किन्तु उस समय भी सरकारी काम अवश्य होते थे—अर्थात् किसी शासक की आज्ञा चलती थी।

प्रजा की स्वतन्त्रता जीवन रक्षा और समृद्धि के लिये तब भी कोई

२

व्यवस्था होती थी। उस अवस्था को ही हम प्रकारान्तर से राज्य कहते हैं। यह व्यवस्था व्यक्ति के हाथ में थी, या किसी समिति के यह परिस्थिति के अवसर पर निर्भर था।

आदिम समाज की व्यवस्था करने वाली शक्ति (power) में सामाजिक और कानूनी—दोनों प्रकार के अधिकार संचित थे जबकि आज सरकार का कार्य मुख्यतया कानून की रक्षा करना है। आज कानून की शक्ति बहुत अधिक है, जब कि पहले परम्परा रिवाज और जादू तथा धर्म को भी काफी महत्व दिया जाता था।

बोआस के मतानुसार—आदिम लोगों में सरकार की परिभाषा यही दी जा सकती है कि यह एक ऐसी संस्था थी जो समुदाय को एकत्रित रखती थी उसके भोजन की व्यवस्था करती थी कि उसका अभाव न हो और यह शांति बनाये रखने का प्रयत्न भी करती थी।[1]

यह व्यवस्था तभी तक चल सकी जब तक कि समुदाय छोटा था। गाँवों में अब भी बिरादरी के लोग इसी प्रकार एकत्र होते हैं, परन्तु अब उच्च जातियाँ इसे अधिक महत्व नहीं देती क्योंकि उन्हें मालूम होता है कि ऐसी पंचायतों के पास राजनीतिक अधिकार नहीं होते।

आदिम समाज में सरकार दो सिद्धान्तों पर आधारित होती है—

(१) राज्य सीमा।

(२) और समुदाय (बिरादरी)।

राज्य सीमा का सिद्धान्त तब लागू होता है जब एक सीमा में रहने वाले लोगों की रक्षा के लिये एक ही सत्ता होती है। यह अपने समुदाय की रक्षा करती है।

समुदाय-सिद्धान्त तब लागू होता है जबकि लोग घुमन्तू दलों में घूमते हैं और उनके लिये भूमि के किसी भाग की सीमा का प्रश्न नहीं उठता। उन्हें अपना खाना जुटाने के लिये जगह जगह जाना पड़ता है। ऐसी अवस्था में किसी विशेष भूमि से मनुष्य बँध कर नहीं रह सकता।

खाना इकट्ठे करते हुए घूमने वाले लोगों और शिकारियों—जैसे ऑस्ट्रेलिया के आदिवासी लंका के वेद्दा लोगों में अभी भी यही संगठन है। इन समाजों

1—We may define government among primitives as the institutions which serve the purpose of holding the community together safeguarding its food supply and guaranteeing peace

—Boas

में कभी-कभी दलों का प्रसार ४० ० से १०००० वर्ग मील की दूरी तक हो जाता है। किन्तु सबका शासन-नियन्त्रण एक ही संस्था करती है। दलों में बीस से सौ व्यक्ति तक होते हैं। सारा समुदाय ही शांति और नियम पालन करने के लिए उत्तरदायी होता है। परिवारों में प्राय: न केवल धरती ही सारे दल की होती है, वरन् और भी सामग्रियाँ होती हैं।

जब एक परिवार वृद्धि के कारण दूसरे परिवार की धरती दबाता है तो झगड़ा होता है।

यदि निर्णय उचित नहीं होता तो डट कर युद्ध होता है।

शांति से यदि काम नहीं होता वहाँ शक्ति से काम लिया जाता है।

इन समाजों में व्यक्तिगत स्वामित्व का प्रश्न नहीं-सा ही रहता है। प्राय: व्यक्तिगत सम्पत्ति के अन्तर्गत आते हैं—गहने और धनुष बाण। यद्यपि व्यक्ति इनका स्वयं ही निर्माण करता है फिर भी इन वस्तुओं पर भी उसका सम्पूर्ण स्वामित्व नहीं होता क्योंकि समुदाय का उन पर भी अधिकार होता है। समुदाय को अपनी सीमा के भीतर ही रहना पड़ता है और इस कानून को तोड़ना गम्भीर अपराध माना जाता है। कभी-कभी इसका अन्त युद्ध भी होता है। प्राय: दल इस प्रकार के झगड़ों को आपस में शांति-पूर्ण वार्त्ता से भी सुलझा लेते हैं।

आस्ट्रेलिया-वासी कबीला जातियों में एक और प्रकार की सरकार होती है जिसे यूरोपवासी 'जिरेंडोकसी (Gerendocracy) कहते हैं। यह सरकार बूढ़ों द्वारा चलाई जाती है। बूढ़ों के छोटे दल को राज्य संचालन के अधिकार दे दिये जाते हैं और उन्हें अपनी जाति के युवकों को जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में मार्ग-दर्शन करने का अधिकार होता है। वे उन्हें दण्ड भी दे सकते हैं। कभी-कभी आज्ञा का अनादर करने वाला मृत्युदण्ड भी प्राप्त करता है। इन कबीला जातियों में मुखिया या दलपति शायद ही होते हैं। किन्तु जहाँ भी दलपति होते हैं वहाँ जनमत पर बहुत कुछ निर्भर करता है।

बोआस ने उन लोगों को हार्वेस्टर (Harvester) कहा है जो कि साल भर का भोजन इकट्ठा करते हैं। वे जंगली पौधे दूढ़ते हैं। उन्हें खेतिहर नहीं कहा जा सकता। मैलेनेशिया में कुछ जातियाँ ऐसे भोजन इकट्ठा करके रख लेती हैं। न्यूगिनी के दक्षिणी और पश्चिमी तीर पर कुछ जातियाँ ऐसा करती हैं। इस प्रकार प्राकृतिक रूप से उगे भोजन को काट कर इकट्ठा करने से कबीले को भोजन ठीक तरह से मिल जाता है। लड़ाई के समय ये कबीला जातियाँ अन्य कबीला जातियों को भी निमन्त्रित करती हैं। आर्थिक निर्भरता के इस स्वरूप से उनके समाजों में नये कानून बनते हैं।

जब सभा जुड़ती है तब हर एक के प्रति एक दूसरे का व्यवहार निश्चित रहता है। दावत में इकट्ठा भोजन काम में आता है। परन्तु आगन्तुक पुराने वासियों की स्थायी सम्पत्ति पर हाथ नहीं डालते। नृत्य, गीतादि के विषय में भी नियम निर्धारित रहते हैं। भूमि सम्बन्धी स्वत्व समस्त कबीला जाति के माने जाते हैं। यदि किसी व्यक्ति या परिवार को कोई भूमि दी जाती है कि उसमें से वह भोजन एकत्र करता रहे, तब भी उस भूमि के विक्रय पर सारी जाति का ही अधिकार प्रायः महत्त्व रखता है।

अरुण्टा लोगों में व्यक्तिगत सम्पत्ति का प्रचलन है। यहाँ बड़े पुत्र को ही सम्पत्ति मिलती है। एक टोटेम ग्रुप का नेता ही प्रायः सारे कबीले का नेता बनता है। जनमत इनमें भी बड़ा महत्त्व रखता है। इसके लिये सभायें जोड़ी जाती हैं। एक बार निर्वासित किया हुआ व्यक्ति कभी भी लौटाया नहीं जा सकता, वह सदैव निर्वासित ही रहता है।

इनमें कभी-कभी नेता मिलकर जनमत पर परामर्श भी करते हैं।

मध्य और दक्षिण अमेरिका मेलेनेसिया पश्चिमी अफरीका और पूर्वी उत्तरी अमेरिका में खाद्य खेतिहर समाज विद्यमान हैं। किसान बहुत ही मामूली गाँव या बस्तियाँ (नगले) बसा कर रहते हैं। खेतों से ही उनके घर घिरे रहते हैं। प्रत्येक गाँव में एक मुखिया होता है। सारी कबीला जाति का एक प्रमुख होता है और ये सब गाँवों के मुखिया उसके आधीन होते हैं। उनका महत्त्व विशेष नहीं होता। न्यूगिनी की आदिम जातियों में प्रमुख का प्रभुत्व इसी से ज्ञात किया जाता है कि उसके पास कितनी भूमि है, जिस पर वह खेती कराता है। उसका मुख्य कार्य ग्राम में आगंतुक अतिथियों का सत्कार करना होता है और वही उनका खर्चा उठाता है। प्रमुख दण्ड नहीं दे सकता, क्योंकि उसके अधिकार सीमित होते हैं। यहाँ मातृसत्ताक प्रभाव होने के कारण स्त्रियों के अधिकार अधिक होते हैं और वे प्रमुख को पदच्युत भी कर सकती हैं।

सारी भूमि का स्वामित्व अन्ततोगत्वा समुदाय का ही होता है। किन्तु समुदाय भी भूमि नहीं बेच सकता क्योंकि ऐसा करना उनमें असम्भव माना जाता है। भोजन देना पूरे दल का उत्तरदायित्व है, ताकि कोई भूखा न रहे। चल सम्पत्ति पर ही व्यक्तिगत अधिकार हो सकता है।

दण्ड मृत्यु तक हो सकता है। कठिन यातनाएं देना भी प्रचलित है। गाँव की सीमा के बाहर दल किसी प्रकार का अधिकार प्रयोग नहीं करता।

इस प्रकार हम देखते हैं कि समाज में नियमन का विकास मनुष्य की बढ़ती हुई आवश्यकताओं और बदलती हुई परिस्थितियों के हिसाब से अपना रूप परिवर्तित करता गया है।

३

परिवार

(Family)

मनुष्य को प्रकृति ने एकाकी नहीं बनाया। वह स्वभाव से ही एक सामाजिक प्राणी है। अपने जन्म पालन-पोषण सुरक्षा शिक्षा और अन्य सभी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये उसे दूसरों की सहायता और सहयोग पर निर्भर रहना होता है। प्रारम्भ से ही छोटे-छोटे समूहों में रहना मनुष्य के लिये आवश्यक और लाभदायक प्रमाणित हुआ और इसी प्रकार के जीवन से संगठित जीवन की स्थापना हुई। सहयोग और सामाजिकता की भावना केवल मनुष्य में ही नहीं अन्य जीवों में भी मिलती है। मधु-मक्खियों का छत्ता बनाना और शहद इकट्ठा करना या पक्षियों का परस्पर सहयोग से घोंसला बनाना अथवा अन्य पशुओं का मिलकर किसी हिंसक शत्रु का सामना करना, इसके स्पष्ट उदाहरण हैं। परन्तु अन्य जीवधारियों की सामाजिकता केवल सहज-स्वभाव अथवा प्रवृत्ति (Instincts) से उत्पन्न होती है और उसका क्षेत्र तात्कालिक आवश्यकता तक ही सीमित रहता है। इसके विपरीत मानवीय सामाजिकता ज्ञान-पूर्ण है, उसके पीछे विचार और बुद्धि है तथा उसका क्षेत्र किसी आवश्यकता या परिस्थिति विशेष तक ही सीमित नहीं रहता वह बराबर बढ़ता रहता है। बहुत काल तक आवश्यकतावश समाज में रहने से मनुष्य का यह स्वाभाविक गुण हो

गया है। समाज की स्थापना परिवारों से होती है। परिवार का मानव-जीवन में क्या स्थान है, समाज में परिवार क्यों एक महत्वपूर्ण संस्था है, मानव को समाज में बिना परिवार के अपना जीवन क्यों अधूरा दिखलाई पड़ता है? इसका कारण एकमात्र यही नहीं है कि आवश्यकतावश मानव को परिवार में रहना पड़ा। परन्तु मनुष्य की कुछ आवश्यक शर्तें हैं जैसे साँस लेना, खाना पीना आदि जिनके कारण वह संसार में जीवित रहता है, इसके अतिरिक्त काम भाव जैसी शर्त जिसे मानव अकेला पूरी नहीं कर सकता दूसरे की सहायता से ही हो सकती है। इस शर्त की पूर्ति के लिये पुरुष को स्त्री और स्त्री को पुरुष की जरूरत है, परन्तु काम भाव का परिणाम सन्तानोत्पत्ति हो जाता है। इस प्रकार काम-वासना की सन्तुष्टि तथा उत्पन्न होने वाली संतान की सुरक्षा के लिये स्त्री-पुरुष एक दूसरे के साथ मिलकर रहने लगे। इसलिये एक दूसरे और बच्चों के जीवन-धारण की चिन्ता से परिवार का जन्म हुआ। मनुष्य जो कुछ करता है अपने स्वार्थ के लिये करता है। परन्तु मनुष्य अपने स्वार्थ के लिये स्वयं काम करे, दूसरों का सहयोग न ले तो उसका स्वार्थ पूरा नहीं हो सकता। इस तरह मानव को अपना स्वार्थ पूरा करने के लिये दूसरे के स्वार्थों को पूरा करना पड़ता है। इस प्रकार दूसरों के स्वार्थों की पूर्ति करने तथा दूसरों की रक्षा करने से आत्म-रक्षा को बल मिलता है। इस दृष्टिकोण से परिवार का महत्त्व है। इसी कारण प्राचीनकाल से परिवार चले आ रहे हैं।

परिवार की परिभाषा तथा अर्थ (Meaning and Definition of Family)

हमारे विचार से मनुष्य जाति की बहुत प्राचीन और छोटी संगठित संस्था 'परिवार' है जो वास्तव मे निकट सम्बन्धियो का एक समूह होता था। विस्तार पूर्वक परिवार की परिभाषा तथा अर्थ समझने के लिये अन्य मानव-शास्त्रियों की परिभाषा जानना भी अत्यन्त आवश्यक है जो कि निम्नलिखित है—

'परिवार व्यक्तियों के उस समूह का नाम है जिसमें वे विवाह, रक्त या गोद लेने के सम्बन्ध से बंधे होकर अलग-अलग नहीं परन्तु एक गृहस्थी का निर्माण करते हैं। इस गृहस्थी में वे एक दूसरे पर पति-पत्नी माता पिता पुत्र-पुत्री, भाई बहन के रूप में प्रभाव डालते हैं और एक दूसरे के साथ सम्बन्ध

स्थापित करते हैं। वे सब मिलकर इस गृहस्थी में एक सामान्य संस्कृति का निर्माण करते हैं और उसे बनाये रखते हैं।[1]

(बरजेस तथा लॉक)

संक्षेप में परिवार एक सामाजिक समूह के रूप में परिभाषित किया जा सकता है जिसके सदस्य रुधिर सम्बन्धों द्वारा बँधे होते हैं।[2]

(बील्स तथा हॉइजर)

'परिवार वह समूह है जिसके अन्तर्गत स्त्री-पुरुष का यौन सम्बन्ध पर्याप्त निश्चित हो और उनका सम्बन्ध ऐसा हो जिससे सन्तान उत्पन्न हो और उसका पालन-पोषण भी किया जाये।'[3]

—मैकाइवर व पेज

"एक परिवार समूह, पुरुष जो कि सबका स्वामी उसकी स्त्री तथा स्त्रियाँ और उनके बच्चों को मिलाकर बनता है और कभी-कभी इनमें एक या अधिक अविवाहित पुरुषों को भी शामिल किया जा सकता है।[4]

—जुकरमेन

'परिवार व्यक्तियों का एक समूह है जो कि एक ही साये के नीचे रहते हैं, मूल और रुधिर सम्बन्धी गाँठों से बँधे होते हैं तथा स्थान रुचि

1— A family is a group of persons united by the ties of marriage blood or adopted, constituting a single household interacting intercommunicating with each other in their respective social role of husband and wife mother and father son and daughter brother and sister and creating and maintaing a common culture

—E. W. Burges and H. S. Lock

2— The family may briefly be defined as a social grouping the member of which are waited by bonds of kinships."

—Beals and Hoijer

3— 'The family is a group defined by a sex relationship precise and enduring to provide for the procreation and upbringing of children

—R. M. Mac-Iver and C. H. Page

4—"A family group consists of a male overlord, his family or families together with their young and may sometimes include one or more bachelors or unmated males

—Zuckerman

एवं इच्छाओं की अन्योन्याश्रितता के आधार पर जाति की चेतनता रखते हों।'[1]

—डी॰ एन॰ मजूमदार

इन सब परिभाषाओं से यह प्रतीत होता है कि परिवार कई प्रकार के होते हैं। परिवार में केवल माता-पिता, पति-पत्नी एवं बच्चे आदि ही नहीं आते हैं परन्तु वह सब ही व्यक्ति आते हैं जो रुधिर से सम्बन्धित हों, गोद लिये हुये हों तथा जिन्हें परिवार या समाज ने परिवार में रहने की स्वीकृति दे दी हो। इसलिये केवल यही कहना कि परिवार में वे ही व्यक्ति शामिल किये जा सकते हैं जिनका रुधिर सम्बन्ध हो उचित नहीं है।

परिवार की उत्पत्ति (Origins of the Family)—

आदिकाल में जब विवाह-पद्धति की स्थापना नहीं हुई थी और स्त्री-पुरुष का विवेक-रहित स्वेच्छानुकूल समागम होता था सन्तान माता के साथ ही रहती थी। माता के हृदय में सन्तान के प्रति जो नैसर्गिक प्रेम और स्वाभाविक ममत्व होता है, उसी के आधार पर मातृसत्तावादी परिवार का जन्म और स्थापना हुई। उस समय तक व्यक्तिगत सम्पत्ति के विचार उत्पन्न नहीं हुये थे। पुरुष अपनी शक्ति का प्रयोग मृगया में करता और शिकार से प्राप्त भोजन से अपने परिवार का पालन-पोषण करता था तात्कालिक खतरों से परिवार की रक्षा करता था। बालकों की देखभाल तथा उनकी आवश्यकताओं को पूरा करने का काम पूरी तरह से माता पर ही रहता था और वह भी उस समय तक जब तक कि बच्चे स्वयं अपने भोजन आदि का प्रबन्ध करने लायक नहीं हो जायें।

नवीन पाषाण युग (Neolithic Age) में जब मनुष्य पशु पालने, चरागाह रखने अथवा खेती का कार्य करने लग गया तो उसका एक स्थान पर रहना निश्चित हो गया। अब वह बेघरबार या घुमक्कड़ शिकारी नहीं रहा वरन् अपने परिवार सहित नियत स्थान पर अधिक काल तक बस्तियाँ बनाकर रहने लगा। स्त्री-जाति भी मनमाने समागम से बचकर अब निश्चित रूप से किसी विशेष व्यक्ति से ही विवाह करने लगी। स्त्री और सन्तान अब पुरुष के आधीन रहने लगीं। इस प्रकार मातृसत्तावादी परिवार पितृसत्तात्मक परिवार में परिवर्तित हो

1— 'Family is a group of persons who live under the same roof and are connected by nuclear and kinship ties and own a consciousness of kind on the basis of the locality interest and mutuality of obligations.

—D. N Majumdar

गये। स्त्री-पुरुषों के जन-समूहों ने व्यक्तिगत परिवार का रूप धारण कर लिया। अपने पालतू पशुओं अपने द्वारा खोजे अथवा विजय किये हुये चरागाहों और खेतों को सुरक्षित रखने के लिए बड़े परिवारों की आवश्यकताओं का अनुभव हुआ। एक स्थान पर साथ रहने वाले जन-समुदाय में श्रम-विभाजन के आधार पर समाज का संगठन करना अनिवार्य हो गया। आदिकालीन साम्यवादी जीवन का ह्रास होने लगा और व्यक्तिगत सम्पत्ति का जन्म हुआ। विभिन्न उद्योग-धन्धों और विनिमय के विकास व अन्य आर्थिक आवश्यकताओं और व्यक्तित्व के आधार पर परिवार का रूप बदलता रहा और भविष्य में भी इन शक्तियों का प्रभाव परिवार के रूप पर पड़ते रहने की सम्भावना है। मनुष्य जाति की एक बहुत पुरानी और छोटी सुगठित संस्था 'परिवार' है जो वास्तव में एक निकट सम्बन्धियों का समूह होता था जिसका संचालन घर का मुख्य पुरुष करता था।

परिवार की उत्पत्ति के बारे में मानवशास्त्रियों ने अपनी-अपनी विचार धारायें अलग-अलग प्रकट की हैं। इससे यह प्रतीत होता है कि परिवार की उत्पत्ति के सम्बन्ध में मानवशास्त्रियों में बड़ा मतभेद है। लिंटन के अनुसार परिवार पुरुष तथा स्त्री की आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति का एक क्रियात्मक साधन है। इस प्रकार परिवार की उत्पत्ति आर्थिक कारणों की वजह से हुई। परन्तु इस सम्बन्ध में स्पेन्सर डार्विन मोरगन तथा अन्य विकासवादियों की विचार धारा ही अलग है। उपरोक्त विकासवादियों के अनुसार परिवार की उत्पत्ति स्त्री पुरुष के अनिश्चित वैवाहिक सम्बन्ध जो कि विकसित होकर निश्चित हो गये, उनके कारण से हुई। परिवार की उत्पत्ति के सम्बन्ध में वेस्टरमार्क और बिफाल्ट का विचार भी महत्वपूर्ण है। फिर भी परिवार की उत्पत्ति किन कारणों से हुई ? इसके उत्तर के लिये हमको ऐतिहासिक तथ्य तथा अन्य दृष्टियों से परिवार की उत्पत्ति के सम्बन्ध में जो प्रमुख सिद्धान्त हैं, उनका विश्लेषण करना होगा। इस प्रकार परिवार की उत्पत्ति के सम्बन्ध में निम्न विचार धारायें हैं—

१ पितृसत्तात्मक परिवार सिद्धान्त (Patriarchal Theory)—

इस सिद्धान्त के अनुसार जिन परिवारों की उत्पत्ति हुई उन्हें पितृसत्तात्मक परिवार कहते हैं, ऐसे परिवार में प्रारम्भ में पिता की प्रधानता थी। अरस्तू (Aristotle) और प्लेटो के अनुसार भी प्रारम्भ में पितृसत्तात्मक परिवार ही थे। वास्तव में देखा जाये तो पशुपालन तथा खेती के आविष्कार के साथ ही पुरुष ने अपने श्रम द्वारा अपनी सत्ता समाज में निर्धारित कर ली। पुरुष-सत्ता के आते ही समाज

पर व्यक्ति के प्रभुत्व को बहुत बढ़ा दिया गया। साथ ही वयक्तिक सम्पत्ति का रास्ता खोल दिया गया। पशुपालन के कारण भूमि पर खेती के लिये अधिकार किया गया। राज्य की स्थापना हुई और स्वार्थपरता की भावना की वृद्धि हुई। तब से समाज में भारी कलह का सूत्रपात हुआ। स्त्री पर पुरुष का अधिकार हुआ, क्योंकि वह नहीं चाहता कि स्त्री दूसरे के पास जाय क्योंकि उसे ईर्ष्या होती है। इस प्रकार पुरुष की एकाधिकार तथा ईर्ष्या की भावनाओं के कारण से पितृसत्ताक परिवार का जन्म हुआ। इसके अतिरिक्त पितृसत्ताक परिवार के घर की जिम्मेवारी पुरुष की हुई। सम्पत्ति पर अधिकार स्त्री का नहीं, पुरुष का होता है। वंश परम्परा भी पुरुषों के नाम से चलती है। पितृसत्ताक परिवार में स्त्री को अपना घर छोड़कर पति के घर जाकर रहना होता है। कहने का तात्पर्य यह है कि स्त्री अपने कबिर के लोगों में न रहकर अपने से भिन्न कबिर के लोगों में जाकर रहने लगती है। भारतवर्ष में भी पितृसत्ताक परिवार ही पाये जाते हैं। (कुछ अपवादों को छोड़कर)।

२ मातृसत्ताक परिवार सिद्धान्त (Matriarchal Family)–

प्रारम्भिक जनसत्ता में समाज में दो प्रवृत्तियाँ मुख्य थीं। एक मातृसत्ता और बाद में दूसरी पितृसत्ता समाज। जनसत्ता के प्रारम्भिक काल में माता का ही राज्य था। अधिकार तथा सम्पत्ति सामिक होती थी किन्तु जो थोड़ा बहुत परिवार की सम्पत्ति थी उसका उत्तराधिकारी पुत्र नहीं पुत्रियाँ होती थीं। जनयुग में मानव की स्थायी सम्पत्ति थी—पत्थर, ताँबे तथा लोहे के हथियार। सामसी, जानवर या जानवर का माँस स्थायी सम्पत्ति नहीं थी। शिकार के अलावा पशुपालन का व्यवसाय भी होने लगा था। जन वास्तव में एक वंश के लोगों का समाज था जिस पर माता का पूर्ण अधिकार होता था। वह जंगलों या पहाड़ियों की प्राकृतिक सीमा के भीतर एक स्थान पर रहता था। समय समय एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाने के लिए माता से आज्ञा लेनी पड़ती थी। इस प्रकार मातृसत्ताक परिवार में माता का स्थान श्रेष्ठ था। ऐसे परिवार में प्रारम्भ में विवाह नहीं होता था एक स्त्री अनेक पुरुषों के साथ रहती थी ऐसी अवस्था में बच्चे का पहचानना बड़ा कठिन था कि किस पुरुष का कौन सा बच्चा है। इस प्रकार मातृसत्ताक परिवार में पिता की कोई स्थिति नहीं थी सिर्फ माता की ही स्थिति थी उसी की प्रधानता थी। इस सिद्धान्त को मानने वालों के अनुसार आदि समाज मातृसत्ताक था। टायलर (Tylor) ने इसी मत का समर्थन किया है उसके अनुसार परिवार पहिले मातृसत्ताक ही थे। रिवर्स्ट ने माता के स्थान को अधिक महत्वपूर्ण बतलाया है। रिवर्स्ट के

अनुसार परिवार माता की निरन्तर आवश्यकताओं और उसके बच्चों की सुरक्षा की आवश्यकताओं के कारण उत्पन्न हुआ है। पितृसत्ताक परिवार में स्त्री अपने से भिन्न रुधिर के लोगों में चली जाती है, परन्तु मातृसत्ताक परिवार में स्त्री अपने ही रुधिर के लोगों के बीच रहती है। इस प्रकार के परिवार में माता का निवास-स्थान परिवार का केन्द्र हो जाता है। इसमें वंश-परम्परा माता के नाम से चलती है। आज मातृसत्ताक परिवार अविकसित अशिक्षित जातियों में मिलते हैं। हमारे देश में आज भी मातृसत्ताक परिवार कहीं-कहीं पर मिलते हैं। आसाम के पहाड़ी प्रदेश में खासी जन-जातियों में मातृसत्ताक परिवार पाये जाते हैं। इसमें विवाह के बाद लड़का लड़की के माता-पिता के घर रहने चला जाता है। जो कुछ भी उसकी आय होती है वह सब अपनी स्त्री की माँ को दे देता है। लड़कियाँ ही घर का सारा कार्य-भार सँभालती हैं। इनके अलावा मालाबार की कई जन-जातियों में मातृसत्ताक परिवार पाये जाते हैं। मालाबार की नायर जन-जाति इसका उदाहरण है। जैसे जैसे कृषि में उन्नति होती गई मातृसत्ताक परिवारों का महत्त्व कम होता गया। कहने का तात्पर्य यह है कि आर्थिक कारणों से मातृसत्ताक परिवार बाद में पितृसत्ताक परिवारों में बदल गये।

३ एक विवाह परिवार सिद्धांत (Theory of Monogamous Family)—

मैलिनोवस्की (Malinowsky) जुकरमैन (Zuckerman) तथा डार्विन (Darwin) के सिद्धान्त मानने वाले वेस्टरमार्क (Westermark) आदि के अनुसार प्रारम्भ में परिवार पितृसत्ताक ही नहीं थे एक विवाही भी थे। ऐसे परिवार की उत्पत्ति पुरुष के एकाधिकार तथा ईर्ष्या की भावना के कारण हुई; क्योंकि कोई पुरुष अपनी स्त्री को दूसरे के पास नहीं देख सकता। डार्विन के अनुयायी वेस्टरमार्क (Westermark) के मतानुसार निम्न स्तर के बन्दरों में भी एक विवाह की प्रथा ही है। इस प्रकार समाज में सर्वप्रथम विकास के दृष्टिकोण से एक विवाही परिवार रहे। आज भी संसार में एक विवाही और पितृसत्ताक परिवार विद्यमान हैं।

४ मिश्रित परिवार सिद्धान्त (Theory of Mixed Family)—

इस सिद्धान्त के अनुसार बहुत से लोगों का विचार है कि प्राचीन काल में कोई भी पुरुष किसी भी स्त्री से अपना सम्बन्ध स्थापित कर सकता था। इस प्रकार के संबंध दो प्रकार के हो सकते हैं—एक तो सामयिक तथा दूसरे समूह विवाह। समूह विवाह एक प्रकार से मिश्रित परिवार का दूसरा रूप है।

ऐसे परिवार के अन्तर्गत एक समूह की सारी स्त्रियाँ दूसरे समूह के सारे पुरुषों के साथ विवाहित समझी जाती हैं। इसका दूसरा रूप यह भी हो सकता है कि एक परिवार के सब भाइयों का दूसरे परिवार की सब बहनों से विवाह समझा जाता है। मिश्रित परिवार के अन्तर्गत ऐसे परिवार में यह जानना मुश्किल है कि कौन किसकी स्त्री है और कौन किसका पति है। ऐसा जाने तो परिवार की यह किस्म बहुपति विवाह (Polyandry) तथा बहुपत्नी विवाह (Polygamy) का मिला-जुला रूप है।

२ आर्थिक परिवार सिद्धान्त (Theory of Economic Family)

जब पुरुष तथा स्त्री में लिंग-सम्बन्ध स्थापित हो जाता है, उसके परिणाम स्वरूप सन्तान उत्पन्न होती है। इस प्रकार सन्तान के पालन पोषण का प्रश्न उपस्थित हो जाता है। एक दूसरे का पालन-पोषण तथा देख-रेख के लिये प्रत्येक के साथ कुछ अधिकार और कर्तव्य निर्धारित हो जाते हैं। इन कर्तव्यों द्वारा एक दूसरे की इच्छा को संतुष्ट करने का प्रश्न खड़ा होता है। यह भी इच्छा हवाई-किले बनाने की नहीं वरन आर्थिक होती है। आर्थिक व्यवस्था परिवार में महत्वपूर्ण स्थान ग्रहण करती है क्योंकि इसकी अव्यवस्था होने से परिवार ठीक रूप से स्थिर नहीं रह सकते हैं। इसीलिये मानव सबसे आर्थिक समस्या को ही लेकर परिवार के द्वार से बाहर निकलता था और आज भी निकलता है। इस प्रकार अपनी स्त्री अपने बच्चे की आर्थिक समस्या को हल करने के लिए परिवार की संस्था को जन्म मिला। उपरोक्त सब बातों से प्रमाणित होता है कि परिवार का जन्म आर्थिक कारणों के फलस्वरूप हुआ।

३ विकासवादी सिद्धान्त (Evolutionary Theory)

विकासवादी मौरगन (Morgan) ने परिवार की उत्पत्ति के सम्बन्ध में एक भिन्न सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है, जिसके अनुसार परिवार कई अवस्थाओं में होकर विकसित होता है। मौरगन (Morgan) का सिद्धान्त ऐतिहासिक भी कहा जाता है; क्योंकि उनका विचार विकासवाद पर निर्भर है।

४

स्त्री-पुरुष का द्वन्द्व

हमारे समाज में स्त्री और पुरुष का संघर्ष वर्तमान है। इस समस्या को प्रत्येक महापुरुषों ने सुलझाने का प्रयत्न किया है। यह बात एक की नहीं हर एक की है। वस्तुतः यह समस्या अकेले भारत की नहीं वरन उस सब भूभाग की है जहाँ 'सभ्यता' फैली हुई है।

सभ्यता ने हमारे ऊपर नियंत्रण प्रस्तुत किये हैं। व्यक्ति अपने को उन बन्धनों में छटपटाता हुआ पाता है। पर असल में बंधा हुआ कौन है? पुरुष या नारी? माता पिता इस उद्देश्य से पुत्री का विवाह करते हैं कि उन्हें एक चिन्ता से मुक्ति प्राप्त हो जाय। हमारे समाज में स्त्री अपने पिता के घर में पलती है परन्तु वह वहाँ परायी मानी जाती है। स्त्री को तो मनु के अनुसार एक भार ही माना जा सकता है। वह पराये घर म भी एक बोझ बनकर ही जाती है। और इसके बाद वह उस नये घर को अपना कहने लगती है। वह अपनी चिंता दूसरों पर डाल देती है। पुरुष इस समाज म यह मानता है कि विवाह के पूर्व वह स्वतन्त्र था और उसके बाद उसके पाँवों में बेड़ियाँ डाली गई हैं। यह विचार आज का नहीं है। मध्यकाल म अपराधी के पाँव काठ में डालकर बन्द किये जाते थे। तुलसीदास ने विवाह को 'काठ में पाँव' डालने के समान ही माना है। प्राचीन काल में जिस विवाह का मूल उद्देश्य समान भोग अर्थात सम+भोग माना जाता था उसका रूप कालान्तर में परिवर्तित हो

चलता है। इसी द्वन्द्व को मनुष्य के सुख और दुःख का द्वन्द्व भी कह सकते हैं। मनुष्य ने अपनी आदिम जंगली अवस्था से लेकर आज के सभ्यता के युग तक कोई भी ऐसा समय नहीं देखा जहाँ उसका यह द्वन्द्व मिट गया हो। समाज के ढाँचे में कितना कितना परिवर्तन आया कितनी आर्थिक व्यवस्था बदल गई लेकिन क्या फिर भी मनुष्य सुखी हो पाया ? क्या उसके जीवन का हाहाकार मिट सका ? क्या उसकी समस्याओं का समाधान हो पाया ? सामाजिक विकास में जीवन ऐसा नहीं कहता। किन्तु यही मानना होगा कि मनुष्य के अन्तर और बाह्य का यह द्वन्द्व शाश्वत है। इसी को देखकर आज से पच्चीस सौ वर्ष पूर्व गौतम बुद्ध ने 'प्रतीत्य समुत्पाद' का सिद्धान्त स्थापित किया था। उस अमिय दार्शनिक ने कितने दिन पहले ही जीवन के इस रहस्य को समझ लिया था जिसको योरप के दार्शनिक हीगेल ने कुछ शताब्दियों पूर्व ही अपने द्वन्द्वात्मक विकास के सिद्धान्त के रूप में रखा। गौतम बुद्ध भी इस निरन्तर चलते संघर्ष को देखकर इस निष्कर्ष पर पहुँचे थे कि जीवन दुःख-स्वरूप है। इसका सारा व्यापार क्षणिक है। जिसे हम सुख और समृद्धि समझ कर प्रसन्न होते हैं, वह क्षणिक है। जीवन की कोई भी स्थिति शाश्वत नहीं है बस केवल संघर्ष और निरन्तर चलने वाला द्वन्द्व ही शाश्वत है। वस्तु का अस्तित्व तो क्षण-मात्र का है, फिर तो इसका अभाव ही जीवन को व्यथित करता रहता है, यह अभाव ही दुःख का हेतु है अतः यह दुःख की स्थिति सदा जीवन के साथ चलती रहती है लेकिन बुद्ध इस स्थिति को भी स्थिर नहीं मानते थे। वह दुःख का कारण जानते थे और फिर दुःख के निवारण में भी विश्वास करते थे। तभी तो वे निर्वाण की स्थिति को जीवन के लिये साध्य मानते थे। हीगेल भी आदर्शवादी था। वह भी सम की स्थिति में विश्वास करता था लेकिन द्वन्द्व को वह जीवन का प्रधान सत्य मानता था। इसे तर्कपूर्ण कह कर वह वास्तविक स्थिति के औचित्य को स्वीकार करता था। तभी उसने कहा था कि जीवन से कभी दुःख दूर नहीं हो सकता क्योंकि जीवन के विकार जो दुःख के हेतु होते हैं, कभी नहीं मिट सकते। वह मानता था कि इन विकारों के कारण ही तो मनुष्य अच्छाई की ओर उन्मुख होता है। इन विकारों के दूर करने के उसके प्रयत्न ही उसके जीवन की प्रगति है—अतः विकृति की सत्ता सर्वथा तर्कपूर्ण है। विकृति और सौन्दर्य का सतत चलने वाला संघर्ष ही जीवन की गति है। इस गति के अन्त-र्गत मनुष्य विभिन्न समय और स्थितियों में अनेक प्रकार के मूल्यों की स्थापना करता है। वे मूल्य जब तक द्वन्द्वात्मक विकास के सहायक होते हैं तभी तक समाज में उनकी मान्यता रहती है। तभी तक उनको श्रेष्ठ समझकर आदर्श के रूप में स्वीकार किया जाता है लेकिन जब वे रूढ़ि बनकर समाज के विकास को

रोकने का प्रयत्न करते हैं तो उनका तिरस्कार होता है और उनके स्थान पर समय और परिस्थिति के अनुकूल नये मूल्यों की स्थापना होती है। इस प्रकार समय के दौर में मनुष्य अपनी समस्याओं को सुलझाने के लिये अनेक मूल्यों को निर्धारित करता है। परिस्थितियों के द्वन्द्व में ये मूल्य निरन्तर बदलते रहते हैं और यह अति स्वाभाविक भी है क्योंकि मूल्य अपने आप में साध्य नहीं हैं, वे तो मानव की प्रगति में सहायक हैं। जो व्यक्ति मूल्यों को ही जीवन का ध्येय समझ बैठते हैं वे विकास की परम्परा को न समझकर एक प्रकार के रूढ़िवाद में ग्रस्त हो जाते हैं। ऐसे ही मनुष्यों की धारणा होती है कि पुरातनकाल में सबकुछ श्रेष्ठ और सुन्दर था वर्तमान काल में सभीकुछ ह्रासशील है। यह विचार निराधार है क्योंकि श्रेष्ठ और सुन्दर अपने स्वतन्त्र रूप में कुछ भी नहीं है वे तो समय और परिस्थिति से सापेक्षता रखते हुए मनुष्य के विभिन्न प्रकार के विचार और व्यवहार के लिये निश्चित किये हुये शब्द हैं। विचार और व्यवहार समय की गति में बदलते रहते हैं अतः यह कहना भ्रम पूर्ण होगा कि अमुक प्रकार का विचार या व्यवहार ही श्रेष्ठ और सुन्दर है, उससे अलग सभी बुरा है।

यह सारा विवेचन करने का हमारा तात्पर्य यही है कि मनुष्य का निर्धारित किया हुआ कोई भी मूल्य शाश्वत नहीं है। जब उसकी आन्तरिक स्थिति में ही बाह्य के द्वन्द्व से प्रतिक्षण परिवर्तन आता रहता है तो फिर उन मूल्यों को शाश्वत मानकर परम्परा की दुहाई देना पलायन की प्रवृत्ति का ही द्योतक है।

यौन-जीवन में भी इसी शाश्वत मानने वाली प्रवृत्ति ने अपनी सीमित चेतना के आधार पर पाप और पुण्यों की कल्पना की है। द्वन्द्वात्मक विकास का सिद्धान्त इस पाप और पुण्य की शाश्वत रहने वाली धारणा पर सन्देह करता है। वह ऐसे लोगों की धारणा को पूरी तरह अवैज्ञानिक कहता है जो यह मानते हैं कि स्त्री का धर्म तो सदा पति की सेवा ही करना है। उसको तो पति को ही देवता तीर्थ शिवाला आदि सबकुछ समझना चाहिये। पति ही उसकी मुक्ति है। पति की इस सर्वोपरि सत्ता पर सन्देह करके जो स्त्री अपनी स्वतन्त्र सत्ता की अहमन्यता में विश्वास करती है और उसके लिये प्रयत्नशील रहती है, वह व्यभिचार और पाप की ओर उन्मुख होती है। उनके अनुसार तो स्त्री पति की दासी है। पति की सेवा करना ही उसके जीवन का साध्य है। यही उसके जीवन की सबसे बड़ी सफलता है। इससे आगे कुछ भी इच्छा करना पाप की प्रवृत्ति का द्योतक है। पातिव्रत धर्म ही स्त्री का एकमात्र धर्म है और

यही उसके जीवन का वह विराट सत्य है जिसको स्वीकार करके वह इस लोक तथा परलोक में सदा सुख भोग सकती है।

अब निष्पक्ष होकर विचार करें कि जो विचारधारा स्त्री को पति को साक्षी स्वीकार करके उसी में उसके जीवन की सार्थकता का प्रतिपादन करती है, क्या एक शाश्वत सत्य को सामने रखती है? यदि यही मान लें तो इस पातिव्रत की धारणा के आने से पहले समाज में जो स्त्री पुरुषों के सम्बन्ध रहते हैं, वे क्या सभी पापपूर्ण कहे जायेंगे। मनुष्य के विकास का सिद्धान्त तो यह बताता है कि आदिम काल में स्त्री की महत्ता पुरुष से कहीं अधिक थी। मातृ सत्ताक समाज व्यवस्था थी। उसमें स्त्री की ही इच्छा चलती थी। उस समय समाज के नियम भी ऐसे ही बने थे जिन्होंने स्त्री की प्रधानता को स्वीकार किया था। उस समय की स्त्री अपने बारे में यह कल्पना ही नहीं कर सकती थी कि वह किसी परिस्थिति में पुरुष की दासी भी बन सकती है, लेकिन फिर भी क्या उसकी वह सत्ता, वह अधिकार और उसके द्वारा बनी हुई मनोवृत्ति सभी पाप की परिभाषा के अन्तर्गत आ जाती है? इसे यही मान सकते हैं जो एक अमुक समय और परिस्थितियों के बीच बने जीवन के आदर्शों को शाश्वत मान बैठते हैं। आदिम काल के स्त्री पुरुषों की धारणा दूसरी ही थी। उस समय तो जो पुरुष स्त्री की इस महत्त्वपूर्ण सत्ता का विरोध करके अपनी स्वतन्त्र सत्ता की स्थापना की ओर प्रयत्नशील होता था उसे समाज से बहिष्कृत कर दिया जाता था। वह पुरुष समाज के नियम को उल्लंघन करने वाला अपराधी समझा जाता था। इस समाज की व्यवस्था भिन्न प्रकार की थी। भिन्न प्रकार के आर्थिक सम्बन्ध थे। पुरुष उस समय उत्पादन के साधनों का स्वामी नहीं था इसलिये सामन्तकाल की तरह उसकी सत्ता सर्वोपरि नहीं हो पाई थी। इस विशेष प्रकार की आर्थिक व्यवस्था से नियन्त्रित मनुष्य की चेतना ने उचित और अनुचित की परिभाषाएं बनाई थीं। उस समय सामूहिक विवाह प्रणाली भी थी। स्त्री का कोई एक निश्चित पति नहीं होता था। वह स्वेच्छाचारिणी थी। इसी प्रकार पुरुष भी स्वेच्छाचारी थे। स्वेच्छाचार भारत में जो गन्धर्व जाति में पाया जाता था। अप्सरा इस स्वेच्छाचार को किसी प्रकार का पाप नहीं समझती थी। वह तो उसके लिये सहज था। और और जातियों में भी इस प्रकार की व्यवस्था थी। आज भी कुछ विद्वानों ने आदिम जातियों की समाज व्यवस्था तथा उनकी संस्कृति की खोज करते हुये इस प्रकार के स्वेच्छाचार के चिन्ह उन जातियों के व्यवहार में पाये हैं। अपने अगले अध्याय में आदिम जातियों के यौन जीवन के पक्ष को हम उदाहरण देकर स्पष्ट करेंगे। हमारा

विश्वास है कि यौन जीवन ने जितने ही कालों और परिस्थितियों को देखा है। और उनके अनुसार ही इसमें अनुचित और उचित के मूल्यों का निर्धारण हुआ है। सामन्तीय युग की धारणा को सत्य और शाश्वत मानकर विकास के सत्य को झुठलाना कहाँ तक उचित होगा। हमें तो यह देखना चाहिये कि स्त्री पुरुष की यात्रा आदिमयुग से आज तक जिन परिस्थितियों के बीच हुई है और उन परिस्थितियों ने उनके जीवन पर क्या प्रभाव डाला है किन किन समस्याओं को सामने रखा है जिनको हल करके स्त्री पुरुष ने अपना पथ आगे के लिये प्रशस्त किया है। जब तक जीवन के एक आदर्श में समस्याओं को सुलझा कर जीवन को अधिक सुन्दर और सुखी बनाने का कार्य किया है तब तक ही विकास क्रम में उसकी श्रेष्ठता स्वीकार करके हम मनुष्य जाति के इतिहास को सही रूप में समझ सकते हैं और तभी समय समय पर आने वाली समस्याओं की विषमता को समझकर उनको हल भी कर सकते हैं।

सृष्टि के आरम्भ से ही स्त्री और पुरुष का द्वन्द्व चलता आ रहा है। कार्ल मार्क्स तो अपने वर्गयुद्ध को सबसे पहले इसी द्वन्द्व से आरम्भ करता है। इसी द्वन्द्व में अधिकतर स्त्री ही पराजित हुई है। इसका प्रमुख कारण पुरुष के हाथ में उत्पादन के साधनों का केन्द्रित हो जाना ही है। जब स्त्री का उत्पादन में कोई विशेष भाग नहीं रहा तो उसकी सत्ता का ह्रास हुआ और वह केवल एक घरेलू दासी के रूप में ही रह गई। इस व्यवस्था में पुरुष तो शोषक बना और स्त्री शोषित रही। इस व्यवस्था के आ जाने के पश्चात दार्शनिक रूप से इसके औचित्य की स्थापना की गई। ये दार्शनिक सिद्धान्त प्रायः सामन्ती युग की ही उपज हैं और पुरुष ही इसके निर्माता रहे हैं। स्त्री का यह दुर्भाग्य ही रहा है कि उसके जीवन के सम्बन्ध में उचित और अनुचित की व्यवस्था पुरुष ने की है जिसका स्वार्थ अपनी सत्ता की रक्षा करने में निहित था। सामन्ती युग के दर्शन प्रायः सभी स्त्री के अधिकारों को पति की दासता तक ही स्वीकार करते हैं। इन दर्शनों का समाज पर निरन्तर प्रभाव पड़ा और इस काल में यह धारणा बैठ गई कि स्त्री को तो ईश्वर ने सदा पुरुष की सेवा और दासता करने के लिये ही बनाया है। वे ही सामन्ती संस्कार आज तक अपना प्रभाव जमाये हुए हैं तभी जगह जगह स्त्री के स्वतंत्रता आन्दोलन की कटु आलोचना होती है। परम्परावादी धर्म और सम्प्रदायों के मतों को सामने रखकर स्त्री को पाप की ओर प्रवृत्त करने वाली तक मानते हैं। तभी उसे माया के रूप में माना गया है। उसकी कल्पना सदा इसी रूप में की गई है कि वह पुरुष को अपने पथ से भ्रष्ट करती है। उसके जीवन की साधना में बाधा बन कर खड़ी हो जाती है। स्वयं पहले पहल बुद्ध ने संघ में

स्त्रियों को स्वीकार नहीं किया था। तभी गोरखनाथ स्त्री को माया जाल सम झते थे। उसके विपरीत वामाचार का दर्शन था जो स्त्री की योनि की पूजा में ही जीवन की साधना समझता था। दोनों ही रूपों में स्त्री को अपमानित होना पड़ा। उसकी सत्ता को स्वतन्त्र रूप में पुरुष ने स्वीकार नहीं किया, यही स्त्री के लिए सर्वत्र दुःख का विषय रहा है।

आज यही समस्या स्त्री के सामने है। वह पुरुष के सुख का साधन-मात्र नहीं है, वरन् उसका भी स्वतन्त्र अस्तित्व है। वह और पुरुष अपने जीवन को सुखी और सुन्दर बनाने के लिए एक दूसरे के ऊपर आश्रित है। किसी का भी स्थान दूसरे से हीन नहीं है। मध्यकालीन वैज्ञानिकों की यह धारणा निर्मूल है कि प्रकृति ने स्त्री को कमजोर बनाया है इसलिये पुरुष के संरक्षण में उसका रहना प्रकृति की व्यवस्था के अनुकूल ही है।

हमारा उद्देश्य स्त्री और पुरुष के पारस्परिक सम्बन्धों का विकास की विभिन्न अवस्थाओं में अध्ययन करना है—

(१) आदिम काल।
(२) सामन्तीय युग।
(३) पूंजीवादी व्यवस्था।
(४) नई समाजवादी व्यवस्था इत्यादि।

इनके अन्तर्गत स्त्री पुरुष के जीवन को अध्ययन करते समय विभिन्न प्रकार की यौन समस्याएं हमारे सामने आयेंगी। समस्याओं का देशकाल की स्थिति के अन्तर्गत अध्ययन करके यौन-जीवन के सम्बन्ध में वैज्ञानिक विचारधारा का प्रतिपादन करना हमारा उद्देश्य है। इस प्रकार यदि अनेक प्रकार के भ्रान्तिमत तथा सम्प्रदायगत भ्रमों का निवारण करके मनुष्य को एक नई चेतना हम दे पाये तो हम अपने श्रम को सफल मानेंगे।

हमारा सबसे अधिक विरोध तो उस रूढ़िवादी विचारधारा से है जो समस्या को हल करने की बजाय उसको अधिक से अधिक उलझाती जाती है। वह मनुष्य द्वारा निर्मित सत्ता को अलौकिक जैसा समझ कर उसकी देश काल से सापेक्षता को स्वीकार ही नहीं करती। ऐसी रूढ़िवादी विचारधारा सदा ही प्रगति के लिये घातक सिद्ध हुई और सदा होगी। इसी विचारधारा के लोग भारत में वर्ण व्यवस्था को शाश्वत मानकर उसका समर्थन करते हैं। वे समझते हैं कि स्वयं ब्रह्मा ने ही इन वर्णों का निर्माण किया है, इसलिए इनका विरोध करना इनको कोई कहना साक्षात ब्रह्मा की व्यवस्था का विरोध करना है। चूंकि पुरुष-सूक्त में ब्राह्मण को ब्रह्मा के मुंह से उत्पन्न

हुआ बताया गया है इसलिये ब्राह्मण सर्वश्रेष्ठ है और सदा रहेगा। उनकी श्रेष्ठता का विरोध करना और वर्णों की समानता की बात करना घोर नास्तिकता और पाप है। यह इन्हीं रूढ़िवादियों की विचारधारा है। ये रूढ़िवादी ही सीता को युगयुगान्तर तक आदर्श देवी के रूप में कल्पना करते हैं, और साथ ही राम को सदा मर्यादा-पुरुषोत्तम स्वीकार करते हैं लेकिन क्या कभी सजग होकर इन्होंने सोचने का प्रयत्न किया कि जिस तपस्विनी देवी सीता ने सदा राम का साथ दिया सदा अपने पति को देवता समझकर जिसने उसकी आराधना की, उसी के साथ राम ने अन्याय भी किया था। एक धोबी के कहने-मात्र से कि रावण के घर में जाकर सीता भ्रष्ट हो गई होगी उन्होंने उसका तिरस्कार कर दिया? आखिर इस घटना के पीछे क्या सत्य है। क्या यहाँ भी यह स्पष्ट रूप में प्रतीत नहीं होता कि पितृसत्ताक युग में चाहे वह कितना भी स्वर्णिम और आदर्श क्यों न हो स्त्री के अधिकार पुरुष की अपेक्षा कम थे। पुरुष का स्त्री के ऊपर पूर्ण अधिकार था। वह अपनी इच्छा के अनुसार उसके साथ व्यवहार कर सकता था। राम को मर्यादा-पुरुषोत्तम या भगवान समझ कर हम यह सत्य न भूलें कि वे भी अपने युग की परिस्थितियों से बद्ध थे और उसी के अनुसार उनकी चेतना थी। देशकाल से परे उनका कोई अलौकिक रूप था इस पर केवल रूढ़िवादी ही विश्वास कर सकते हैं, विकास का समर्थक उसको कभी स्वीकार नहीं कर सकता।

रूढ़िवादी इसी प्रकार शम्बूक वध के बारे में भी राम के ऊपर किसी प्रकार का दोष नहीं मढ़ते। ठीक है, पापी तो राम को हम भी नहीं ठहराते लेकिन हम तो इसी आधार पर उनको दोषी नहीं मानते कि उन्होंने उस समय के सामाजिक नियम के रक्षार्थ ही शम्बूक का वध करने के लिये तलवार उठाई थी। ब्राह्मणों की बनाई मर्यादा के विरुद्ध शम्बूक ने शूद्र होकर भी तपस्या करना प्रारम्भ कर दिया था इससे ब्राह्मणों को डर हुआ था कि कहीं उनकी बनाई समाज की यह मर्यादा न टूट जाये जिसमें वे और क्षत्रिय मिलकर वैश्य और शूद्रों पर शासन करते हैं। तभी तो वे आकर राम के दरबार में पुकारे थे। क्षत्रिय राम ने ब्राह्मणों की बात को समझकर ही शम्बूक को मारने के लिए तलवार उठाई थी। तब क्या यह कहें कि उसमें राम का स्वार्थ निहित नहीं था? अवश्य था लेकिन उस समय के क्षत्रिय राजा के लिये यह अति आवश्यक था। अपने युग की परिस्थितियों के बीच वह इतना ही सोच सकता था। वर्णव्यवस्था को आदर्श कहने वाली मानवतावादी विचारधारा जो सभी मनुष्यों की समानता में विश्वास करती है, कभी राम की स्वीकृति उस युग में

उसकी मर्यादा के बाहर, जा ही नहीं सकती थी। अतः इससे यही स्पष्ट हुआ कि प्रत्येक युग की सीमाएं होती हैं और उन सीमाओं से ही उस युग के व्यक्ति घिरे रहते हैं। उन्हीं के अन्दर उनका अध्ययन करना चाहिये। यदि ऐसा नहीं होता तो सदा सत्य और न्याय का हामी युधिष्ठिर अपनी पत्नी द्रौपदी के प्रति कभी ऐसा अन्याय नहीं करता जैसा उसने जुआ खेलते समय किया था। क्या द्रौपदी का कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं था कि युधिष्ठिर ने उससे बिना पूछे ही उसको दांव पर लगा दिया। द्रौपदी के साथ दासी का सा व्यवहार करने का युधिष्ठिर को क्या अधिकार था? लेकिन उस समय की परिस्थितियां ही कुछ ऐसी थीं कि स्त्री को दासी मानना किसी प्रकार बुरा नहीं समझा जाता था। उसके ऊपर पुरुष का सभी स्थितियों में शासन रह सकता था। यही महाभारतकार ने स्त्री के भाग्य पर निर्णय दिया है। तब क्या युधिष्ठिर किसी प्रकार दोषी ठहराये जा सकते हैं। इस युग के दृष्टिकोण के अनुसार उनको अन्यायी कहा जा सकता है लेकिन उस युग में तो धर्म के ज्ञाता भी उनको धर्मराज ही कहकर पुकारते थे। उनके बारे में यही धारणा थी कि जीवन में कभी उन्होंने असत्य और अन्याय के पथ पर पैर नहीं बढ़ाया। मनुष्य के व्यवहार के औचित्य और अनौचित्य का उसके युग की सीमाओं के भीतर ही निश्चय होता है और तभी मालूम होता है कि अमुक व्यक्ति का व्यवहार अपने युग की सामाओं के भीतर समाज को प्रगति की ओर ले जाने में कहाँ तक सहायक हो पाया। इन्हीं युग की सीमाओं की सापेक्षता में *मानवजीवन का अध्ययन करना हमारा उद्देश्य है।*

हमें निष्पक्ष दृष्टि से यह देखना है कि अमुक विचारधारा कितने समय तक समाज को आगे बढ़ाती रही कब तक वह मनुष्य का कल्याण करती रही और कब वही रूढ़ि बनकर अवरोध पैदा कर गई। जो *पातिव्रत की धारणा* स्त्री का दासी की अवस्था तक ले आई, एक समय स्त्री के कल्याण के लिये ही उठी थी। महाभारत में श्वेतकेतु की कहानी इसके लिये सर्वश्रेष्ठ उदाहरण है। श्वेतकेतु के समय में कामाचार था। कोई पुरुष किसी भी स्त्री के साथ रमण *कर सकता था। पति पत्नी के बीच किसी प्रकार के बन्धन आदर्श रूप में* स्थापित नहीं हो पाये थे। तब एक दिन श्वेतकेतु की माँ अपने पति के पास बैठी थी, उस समय कामातुर होकर एक पुरुष आया और उसने उस स्त्री को पकड़ कर उससे रमण करने की इच्छा प्रकट की। वह स्त्री अपने पुत्र को सामने *बैठे देख घबरा सी गई। श्वेतकेतु को भी यह बुरा लगा। उसका पिता समाज* के नियम को विवशता के भीतर घुटता हुआ कुछ भी नहीं बोला, तब श्वेतकेतु

ने यह मर्यादा स्थापित की थी कि स्त्री के साथ रमण करने का अधिकार केवल पति को ही होगा । एक पति को छोड़ कर दूसरे के साथ विचरने वाली स्वेच्छाचारिणी स्त्री या अपनी पत्नी को छोड़कर और स्त्रियों के लिये लालायित होने वाले पुरुष पापी होंगे ।

इस कहानी से यह अनुमान लगा सकते हैं कि पातिव्रत की इस व्यवस्था ने स्त्री को किस घोर अपमान की अवस्था से बचाया था । उसने उसके सम्मान की रक्षा भी की । उसी से उसको एक पुरुष का संरक्षण प्राप्त हुआ था । तब पातिव्रत स्त्री के कल्याण के लिये आया था । इससे पहले बलशाली पुरुष स्त्री को पकड़ कर अपनी काम-वासना की तृप्ति कर लिया करता था । पातिव्रत की मर्यादा स्थापित होने से यह सम्भव नहीं हो पाया अत स्त्री की स्थिति अधिक सुखपूर्ण हो गई । पातिव्रत के आने से स्वेच्छाचार प्राय लुप्त होता चला गया यहाँ तक कि कुछ ही समय में उसे पाप समझकर त्याज्य समझा गया । क्या कारण था कि जो स्वेच्छाचार स्त्री की स्वतन्त्र सत्ता का पोषक था स्त्री के लिये ही बन्धन बनकर खड़ा हो गया ! इसका कारण पुरुष की सत्ता का बढ़ जाना था । उत्पादन के साधन पुरुष के हाथ में आ जाने से उसकी शक्ति स्त्री से अधिक बढ़ गई । उसकी तुलना में स्त्री के अधिकार कम हो गये फिर समाज में भी स्त्री की महत्ता कम हो गई थी पुरुष का उससे भय भी प्राय मिट चुका था । इन परिस्थितियों के बीच पुरुष ने स्वेच्छाचार के द्वारा स्त्री की सारी स्वतन्त्रता को छीन लिया । स्त्री शरीर से भी पुरुष से कमजोर होती है, फिर उत्पादन के साधन हाथ से निकल जाने पर आर्थिक दृष्टि से भी वह कमजोर हो गई, पुरुष ने तुरन्त ही अपनी निरंकुशता उस पर लाद दी । उसको अपनी विषयवासना की तृप्ति का साधन बना लिया । वह स्त्री जो पहले पुरुष के साथ स्वच्छन्द रूप से रमण करने में एक स्वतन्त्र गौरव का अनुभव करती थी नई परिस्थितियों के बीच विवश हो गई, तभी पातिव्रत की व्यवस्था ने उस स्वेच्छाचार का विरोध करके स्त्री के कल्याण का पथ प्रशस्त किया । इसका भी आर्थिक कारण था जो हम आगे 'बीज' और 'क्षेत्र' का विवेचन करते समय स्पष्ट करेंगे ।

अब यह पातिव्रत इतना रूढ़िग्रस्त हो गया है कि इसने धार्मिक मर्यादा का रूप पाकर स्त्री को चहारदीवारी के अन्दर बन्द एक दासी ही बना दिया है । पति ही स्त्री के लिये मुक्ति है, उसके अलावा उसके जीवन का कुछ भी उद्देश्य नहीं है, वह तो केवल पुरुष के सुख का साधन मात्र है, इन धारणाओं ने पातिव्रत को यह रूप दे दिया जिससे स्त्री के अधिकार निरन्तर छिनते चले

। एक बार स्त्री को पुरुष के साथ बैठकर यज्ञ करने का अधिकार था। दोनों लकर किसी साध्य के लिये प्रयत्नशील रहते थे लेकिन कालान्तर में पुरुष की ा ही स्त्री के जीवन का साध्य बन जाने पर यह अधिकार भी छिन गया। तो घरेलू काम करना और पति की सेवा करना ही उसके जीवन की साधना गई। उसको शिक्षित बनाने तक की आवश्यकता नहीं समझी जाने लगी। सी प्रकार के सामाजिक कार्य में भाग लेना तो उसके किसी लाभ का था ही ीं। इस तरह धीरे-धीरे स्त्री का जीवन अपने सामाजिक रूप से घर की ारदीवारी के भीतर ही सिमटता चला गया और वह गृहदासी के रूप में गई।

अब फिर प्रश्न आया है कि स्त्री के लिये वह नई दिशा क्या है जिससे का कल्याण हो सके। यही आज यौन-जीवन की समस्या है। आज यूरोप र भारत सभी जगह पश्चिम और पूर्व में स्त्री के स्वातन्त्र्य की पुकार उठ है लेकिन विचार तो हमें यह करना है कि यह स्वतन्त्रता किस प्रकार की ी ? इसका रूप क्या होगा ? परम्परावादी इसको स्वेच्छाचार की ओर प्रेरित ने वाली स्वतन्त्रता कह कर इसका विरोध करते हैं, तो क्या यह स्त्री की न्त्रता उसको स्वेच्छाचार की ओर प्रेरित करती है ? क्या इसमें स्त्री अपना ल्म आर्थिक आधार बना कर पुरुष की सत्ता को बिल्कुल ठुकरा देगी ? क्या व्यवस्था के अन्तर्गत पुरुष और स्त्री का एक दूसरे पर शासन पूरी तरह स हो जायगा ? और यदि रहेगा तो उसका रूप क्या होगा ? नये सम्बन्धों के बीच स्त्री और पुरुष के जीवन का लक्ष्य क्या होगा ? के परिवार के स्वरूप में और पातिव्रत की धारणा पर आधारित परिवार स्वरूप में क्या अन्तर होगा ? ये समस्याएं ही हमें इस पुस्तक को लिखने ओर प्रेरित कर रही हैं। स्त्री और पुरुष के बीच विभिन्न प्रकार के संबंधों अध्ययन करने के पश्चात हम पाठक के सामने इन प्रश्नों का उत्तर प्रस्तुत े लेकिन वे उत्तर यौन-जीवन की सारी समस्या को सुलझायेंगे ऐसा दम्भ नहीं करते, फिर भी हमारा लक्ष्य पुरुष विशेष के दृष्टिकोण से विषय का न करना नहीं है, हम तो स्त्री और पुरुष दोनों के दृष्टिकोण का सम्यक् यन करते हुए अपना मत प्रस्तुत कर रहे हैं। विषय का वैज्ञानिक अनुसंधान हमारे परिश्रम का लक्ष्य है क्योंकि हमारा विश्वास है कि दल या सम्प्रदाय य के दृष्टिकोण से प्रभावित होकर यौन-जीवन की समस्याओं की विवेचना ा और कोई निश्चित हल प्रस्तुत करना एकांगी पक्ष को ही सामने रखता विषय पर सर्वांगीण रूप से तो तभी विवेचन हो सकता है जब सभी दलों

तथा सम्प्रदायों के सीमित घेरों को अपने सापेक्ष रूप से अध्ययन करके और तटस्थ रहकर एक हल प्रस्तुत किया जाय। आशा है पाठक इस विषय की गम्भीरता पर विचार करके स्त्री और पुरुष के बीच सदा से चलते आये इस द्वन्द्व का सही रूप समझेंगे और अपनी दल और सम्प्रदाय-गत संकुचित मनोवृत्ति को दूर हटा कर मानव के कल्याण की भावना को अपनी विचार प्रणाली में स्थान देंगे।

५

विश्वासों का जन्म और सामाजिक प्रभाव

आज बीसवीं शताब्दी में बैठकर जब हम अपनी दृष्टि बीते हुए युग की ओर फेरते हैं तो सहसा ही हमें एक बात पर आश्चर्य होता है कि आज से करीब दस लाख वर्ष पूर्व प्राणी ने मनुष्य रूप में इस पृथ्वी पर अपना विकास कर लिया था और तभी से उसकी चेतना निरन्तर प्रकृति के द्वन्द्व में रहकर अपना प्रसार करती आ रही है, लेकिन हम मनुष्य के कुछ हजार वर्ष पूर्व से लेकर आज तक के इतिहास को क्रमबद्ध रूप से जानते हैं। उससे पहले के जीवन के विभिन्न रूपों तथा विकास-क्रम के बारे में अनुमान ही लगाना पड़ता है। तथ्य मिल भी जाते हैं लेकिन वे इतने शिथिल होते हैं कि उनके आधार पर किया हुआ इतिहास का विश्लेषण कुछ सन्देहपूर्ण ही रहता है। भारतवर्ष के क्रमबद्ध इतिहास के बारे में ही विचार करें तो ईसा से पाँच सौ वर्ष पूर्व गौतम बुद्ध के समय से शृंखला ठीक तरह चलती है, उससे पहले वेद-काल उपनिषद काल आदि के सम्बन्ध में विद्वान अपना अलग-अलग विचार रखते हैं। पश्चिम के इतिहासकार तो ईसा से ग्यारह सौ वर्ष पूर्व को ही ऋग्वेद की रचना का काल मानते हैं और फिर गौतम बुद्ध के समय तक आते-आते छः सौ वर्षों में ही राम के युग, महाभारत युद्ध उपनिषद काल आदि सब युग को सम्मिलित कर लेते हैं। दूसरे इतिहासकार इस मत का विरोध करते हैं। उनके पास भी अपने तथ्य हैं। हमने भी भारतीय परम्परा की खोज करते समय

अपने मत की पुष्टि के लिये अनेक तथ्य उपस्थित किये हैं और अपने तर्कों द्वारा दूसरे मतों का खण्डन भी किया है लेकिन फिर भी इतना कहना आवश्यक है कि प्राचीन युग का क्रमबद्ध इतिहास खोजने का इतिहासकार का प्रयत्न व्यर्थ है क्योंकि हम क्या जानते हैं कि उस प्रागैतिहासिक काल से लेकर उस समय तक जब से इतिहास को कुछ पता चल पड़ती है, कितना साहित्य खो चुका होगा। कितने ही ऐसे तथ्य लोप हो चुके होंगे, जिनके होने पर सम्भव था कि हम उस अन्धकारमय प्रागैतिहासिक काल के सम्बन्ध में अपनी कुछ दूसरी ही धारणा बनाते। जो मोहनजोदड़ो और हरप्पा की खुदाई से पहले क्या यही मत एक धार्मिक विश्वास के रूप में भारत में प्रचलित नहीं था कि सृष्टि का आदिकाल ही वैदकाल है। इतना सबकुछ होने पर भी तो आज बहुत से लोग यह विश्वास करते हैं कि ईश्वर ने संसार की रचना करते समय सबसे पहले ऋषियों को वेद का ज्ञान दिया अतः वेद आज से लाखों वर्ष पुराने हैं।

वैज्ञानिक खोज के अभाव में इस तरह के अनेक मत प्रचलित हो जाया करते हैं। उन्नीसवीं शताब्दी में डार्विन ने विकास के सिद्धान्त (Theory of Evolution) की खोज निकाला, तब मनुष्य के सामने अपने विकास के सम्बन्ध में एक नया ही चित्र उपस्थित हुआ। सृष्टि की उत्पत्ति तथा आगे उसकी गति के बारे में भी डारविन ने एक नया ही दृष्टिकोण रखा नहीं तो इससे पहले लोग अपने अपने साम्प्रदायिक विश्वासों में बद्ध रह कर सृष्टि के बारे में विभिन्न प्रकार की कल्पनाएं किया करते थे। लेकिन ये कल्पनाएं विभिन्न सामाजिक स्थिति में मनुष्य ने बनाई थीं अतः उन पर उस विशेष सामाजिक स्थिति का प्रभाव स्पष्ट दिखता है। चूंकि ये धार्मिक ग्रन्थों में मिलती हुई हैं इसलिये यह विश्वास करना नितान्त अवैज्ञानिक है कि ये सृष्टि के सम्बन्ध में किसी प्रकार के वास्तव सत्य का प्रतिपादन करती हैं।

हम बतला चुके हैं कि स्त्री और पुरुष का द्वन्द्व अत्यंत प्राचीन है। सम्भवतया यह द्वन्द्व उसी समय से चला आरहा है जब मनुष्य अपनी पशु-अवस्था में रहता हुआ प्रकृति से संघर्ष किया करता था। यह द्वन्द्व पशु-पक्षियों के जीवन में भी दृष्टिगोचर होता है लेकिन चूंकि मनुष्य सबसे अधिक सजग प्राणी है इसलिये उसके जीवन का एक निश्चित विकासक्रम है और उस विकासक्रम में यह द्वन्द्व भी अनेक रूपों में प्रकट होता है। यद्यपि स्त्री पुरुष अपने पारस्परिक स्वार्थों के कारण सदा एक दूसरे के साथ रहे हैं लेकिन फिर भी सत्ता के लिये सदैव ही संघर्ष चलता रहा है। कभी स्त्री स्वामिनी बनकर रही है तो फिर उसका स्थान छिन जाने से पुरुष स्वामी बन गया है। विश्वमय स्त्री और पुरुष

की जैसी भी स्थिति रही है उस समय के साहित्य पर उसी प्रकार का प्रभाव पड़ा है। यदि पुरुष की सत्ता स्वामी के रूप में स्वीकार कर ली गई है तो यह निश्चित है कि उस समय के साहित्य में पुरुष ही स्वामी के रूप में मिलता है और स्त्री उसकी अनुगामिनी के रूप में दिखाई देती है। उस समय की कल्पना उसी चित्र को तो स्वीकार करती है। सृष्टि के सम्बन्ध में विभिन्न धर्मों में जो भी कल्पनायें मिलती हैं उनमें पुरुष प्रधान है।

सबसे पहले हम सृष्टि के सम्बन्ध में हिन्दुओं के पौराणिक विश्वास को रखते हैं।

ब्रह्मपुराण के प्रारम्भ में ही नैमिषारण्य वासी मुनि व्यास-शिष्य लोमहर्षण से पूछते हैं —हेलामहर्षण! आप पुराण तन्त्र षड्वों शास्त्र, इतिहास तथा देवताओं और दैत्यों के जन्म-कर्म एवम् चरित्र सभी कुछ जानते हैं। वेदशास्त्र, पुराण, महाभारत तथा मोक्ष शास्त्र में कोई भी बात ऐसी नहीं है जो आपको ज्ञात नहीं हो।

हे महामते! बताइये, कि यह समस्त जगत कैसे उत्पन्न हुआ? भविष्य में इसकी क्या दशा होगी? स्थावर-जङ्गमरूप संसार सृष्टि से पहले कहाँ लीन था? और फिर कहाँ लीन होगा?

लोमहर्षण ने कहा—जो नित्य, सदसत्स्वरूप तथा कारण भूत अव्यक्त प्रकृति है, उसी को प्रधान कहते हैं। उसी से पुरुष ने इस विश्व का निर्माण किया है। अमित तेजस्वी ब्रह्माजी ही पुरुष हैं। वे समस्त प्राणियों की सृष्टि करने वाले तथा भगवान नारायण के आश्रित हैं। प्रकृति से महत्तत्व महत्तत्व से अहंकार तथा अहंकार से सब सूक्ष्म भूत उत्पन्न हुए। भूतों के जो भेद हैं वे भी उन सूक्ष्म भूतों से ही प्रकट हुए हैं। यह सनातन सर्ग है। तदनन्तर स्वयम्भू भगवान नारायण ने नाना प्रकार की प्रजा उत्पन्न करने की इच्छा से सबसे पहले जल की सृष्टि की। फिर जल में अपनी शक्ति का आधान किया। जल का दूसरा नाम 'नार' है, क्योंकि उसकी उत्पत्ति भगवान नर से हुई है। वह जल पूर्वकाल में भगवान का अयन हुआ इसलिए वे नारायण कहलाते हैं। भगवान ने जो जल में अपनी शक्ति का आधान किया उससे एक बहुत विशाल सुवर्णमय अण्ड प्रकट हुआ। उसी में से स्वयम्भू ब्रह्मा जी उत्पन्न हुए; सुवर्ण के समान कान्ति मान भगवान ब्रह्मा ने एक वर्ष तक उस अण्ड में निवास करके उसके दो टुकड़े कर दिए। फिर एक टुकड़े से वह लोक और दूसरे से भूलोक बनाया। उन दोनों के बीच आकाश को रखा। जल के ऊपर तैरती हुई पृथ्वी को स्थापित किया। फिर दसों दिशाएं निश्चित कीं। साथ ही काल मन वाणी काम क्रोध और

रति की सृष्टि की। इन भावों की सृष्टि करने की इच्छा से ब्रह्मा जी ने सात प्रजापतियों को अपने मन से उत्पन्न किया। उनके नाम इस प्रकार हैं—मरीचि अत्रि अङ्गिरा पुलस्त्य पुलह क्रतु तथा वसिष्ठ। पुराणों में ये सात ब्रह्मा निश्चित किए गये हैं।

इसके पश्चात ब्रह्मा जी ने अपने रोष से रुद्र को प्रकट किया। फिर पूर्वजों के भी पूर्वज सनत्कुमार को उत्पन्न किया। इन्हीं सात महर्षियों से समस्त प्रजा तथा ग्यारह रुद्रों का प्रादुर्भाव हुआ। उक्त सात महर्षियों के सात बड़े बड़े दिव्य वंश हैं, देवता भी उनके अन्तर्गत हैं।

इसके पश्चात ब्रह्मा जी ने विद्युत, वज्र मेघ रोहित इन्द्रधनुष, पक्षी तथा अन्य वस्तुओं की सृष्टि की। फिर यज्ञों की सिद्धि के लिये ऋग्वेद यजुर्वेद तथा सामवेद प्रकट किये। इसके पश्चात साध्य देवताओं की उत्पत्ति बताई जाती है। छोटे बड़े सभी भूत भगवान ब्रह्मा के अङ्गों से उत्पन्न हुए हैं। इस प्रकार प्रजा की सृष्टि करने पर भी जब प्रजा की वृद्धि नहीं हुई तब प्रजापति अपने शरीर के दो भाग करके आधे से पुरुष और आधे से स्त्री हो गये। पुरुष का नाम मनु हुआ। स्त्री अयोनिजा शतरूपा थी जो मनु को पत्नी रूप में प्राप्त हुई थी। उस स्त्री ने दस हजार वर्षों तक परम दुष्कर तपस्या करके परम तेजस्वी पुरुष को पतिरूप में प्राप्त किया था। वे ही पुरुष स्वायम्भुव मनु कहलाते हैं। वैराज पुरुष भी उन्हीं का नाम है। शतरूपा ने वैराज पुरुष के अंश से वीर प्रियव्रत और उत्तानपाद को जन्म दिया। वीर से काम्या नामक श्रेष्ठ कन्या उत्पन्न हुई जो कर्दम् प्रजापति की धर्मपत्नी हुई।

काम्या के गर्भ से चार पुत्र हुए—सम्राट कुक्षि विराट् और प्रभु। प्रजापति अत्रि ने राजा उत्तानपाद को गोद ले लिया। प्रजापति उत्तानपाद ने अपनी पत्नी सूनृता के गर्भ से ध्रुव, कीर्तिमान, आयुष्मान तथा वसु नाम के चार पुत्र पैदा किये। ध्रुव से उनकी पत्नी शम्भु ने श्लिष्टि और भव्य नामक दो पुत्रों को जन्म दिया। श्लिष्टि ने अपनी पत्नी सुछाया के गर्भ से रिपु, रिपुञ्जय वीर, वृकल तथा वृकतेजा, ये पाँच पुत्र उत्पन्न किये। रिपु से बृहती ने चक्षुष नाम के तेजस्वी पुत्र का जन्म दिया। चक्षुष के उनकी पत्नी पुष्करिणी से, जो महात्मा प्रजापति वीरण की कन्या थी चाक्षुष मनु उत्पन्न हुए। चाक्षुष मनु से वैराज प्रजापति की कन्या नड्वला के गर्भ से दस महाबली पुत्र हुए जिनके नाम इस प्रकार हैं—कुत्स, पुरु, शतद्युम्न तपस्वी सत्यवाक्, कवि अग्निष्टुत अतिरात्र सुद्युम्न तथा अभिमन्यु। पुरु से आग्नेयी ने अंग सुमना, स्वाति, क्रतु अंगिरा तथा गय नाम के छः पुत्र उत्पन्न हुए।

की जैसी भी स्थिति रही है उस समय के साहित्य पर उसी प्रकार का प्रभाव पड़ा है। यदि पुरुष को सत्ता स्वामी के रूप में स्वीकार कर ली गई है तो यह निश्चित है कि उस समय के साहित्य में पुरुष ही स्वामी के रूप में मिलता है और स्त्री उसकी अनुगामिनी के रूप में दिखाई देती है। उस समय की कल्पना उसी चित्र को तो स्वीकार करती है। सृष्टि के सम्बन्ध म विभिन्न धर्मों में जो भी कल्पनायें मिलती हैं उनमें पुरुष प्रधान है।

सबसे पहले हम सृष्टि के सम्बन्ध में हिन्दुओं के पौराणिक विश्वास को रखते हैं।

ब्रह्मपुराण के प्रारम्भ में ही नैमिषारण्य वासी मुनि व्यास-शिष्य लोमहर्षण से पूछते हैं—हेसाधुशिरोमणे! आप पुराण, तन्त्र, सभी शास्त्र, इतिहास तथा देवताओं और दैत्यों के जन्म-कर्म एवम् चरित्र सभी कुछ जानते हैं। वेदशास्त्र पुराण महाभारत तथा मोक्ष शास्त्र में कोई भी बात ऐसी नहीं है जो आपको ज्ञात नहीं हो।

हे महामते! बताइये, कि यह समस्त जगत कैसे उत्पन्न हुआ? भविष्य में इसकी क्या दशा होगी? स्थावर-जङ्गमरूप संसार सृष्टि से पहले कहाँ लीन था? और फिर कहाँ लीन होगा?

लोमहर्षण ने कहा—जो नित्य, सदसत्स्वरूप तथा कारण भूत अव्यक्त प्रकृति है, उसी को प्रधान कहते हैं। उसी से पुरुष ने इस विश्व का निर्माण किया है। अमित तेजस्वी ब्रह्माजी ही पुरुष हैं। वे समस्त प्राणियों की सृष्टि करने वाले तथा भगवान नारायण के आश्रित हैं। प्रकृति से महत्तत्व, महत्तत्व से अहंकार तथा अहंकार से सब सूक्ष्म भूत उत्पन्न हुए। भूतों के जो भेद हैं वे भी उन सूक्ष्म भूतों से ही प्रकट हुए हैं। यह सनातन सर्ग है। तदनन्तर स्वयम्भू भगवान नारायण ने नाना प्रकार की प्रजा उत्पन्न करने की इच्छा से सबसे पहले जल की सृष्टि की। फिर जल में अपनी शक्ति का आधान किया। जल का दूसरा नाम 'नार' है, क्योंकि उसकी उत्पत्ति भगवान नर से हुई है। वह जल पूर्वकाल में भगवान का अयन हुआ इसलिए वे नारायण कहलाते हैं। भगवान ने जो जल में अपनी शक्ति का आधान किया उससे एक बहुत विशाल सुवर्णमय अण्ड प्रकट हुआ। उसी में से स्वयम्भू ब्रह्मा की उत्पत्ति हुई; सुवर्ण के समान कान्ति-मान भगवान ब्रह्मा ने एक वर्ष तक उस अण्ड में निवास करके उसके दो टुकड़े कर दिए। फिर एक टुकड़े से द्युलोक और दूसरे से भूलोक बनाया। उन दोनों के बीच आकाश को रखा। जल के ऊपर तैरती हुई पृथ्वी को स्थापित किया। फिर दसों दिशाएं निश्चित की। साथ ही काल मन वाणी काम क्रोध और

रति की सृष्टि की। इन भावों की सृष्टि करने की इच्छा से ब्रह्मा जी ने सात प्रजापतियों को अपने मन से उत्पन्न किया। उनके नाम इस प्रकार हैं—मरीचि अत्रि अङ्गिरा पुलस्त्य पुलह, क्रतु तथा वसिष्ठ। पुराणों में ये सात ब्रह्मा निश्चित किए गये हैं।

इसके पश्चात ब्रह्मा जी ने अपने रोष से रुद्र को प्रकट किया। फिर पूर्वजों के भी पूर्वज सनत्कुमार को उत्पन्न किया। इन्हीं सात महर्षियों से समस्त प्रजा तथा ग्यारह रुद्रों का प्रादुर्भाव हुआ। उक्त सात महर्षियों के सात बड़े बड़े दिव्य वंश हैं, देवता भी उनके अन्तर्गत हैं।

इसके पश्चात ब्रह्मा जी ने विद्युत वज्र मेघ रोहित इन्द्रधनुष पक्षी तथा अन्य वस्तुओं की सृष्टि की। फिर यज्ञों की सिद्धि के लिये ऋग्वेद यजुर्वेद तथा सामवेद प्रकट किये। इसके पश्चात साध्य देवताओं की उत्पत्ति बताई जाती है। छोटे बड़े सभी भूत भगवान ब्रह्मा के अङ्गों से उत्पन्न हुए हैं। इस प्रकार प्रजा की सृष्टि करने पर भी जब प्रजा की वृद्धि नहीं हुई तब प्रजापति अपने शरीर के दो भाग करके आधे से पुरुष और आधे से स्त्री हो गये। पुरुष का नाम मनु हुआ। स्त्री अयोनिजा शतरूपा थी जो मनु को पत्नी-रूप में प्राप्त हुई थी। उस स्त्री ने दस हजार वर्षों तक अत्यन्त दुष्कर तपस्या करके परम तेजस्वी पुरुष को पतिरूप में प्राप्त किया था। वे ही पुरुष स्वायम्भुव मनु कहलाते हैं। वैराज पुरुष भी उन्हीं का नाम है। शतरूपा ने वैराज पुरुष के द्वारा वीर, प्रियव्रत और उत्तानपाद को जन्म दिया। वीर से काम्या नामक श्रेष्ठ कन्या उत्पन्न हुई जो कर्दम् प्रजापति की धर्मपत्नी हुई।

काम्या के गर्भ से चार पुत्र हुए—सम्राट कुक्षि विराट् और प्रभु। प्रजापति अत्रि ने राजा उत्तानपाद को गोद ले लिया। प्रजापति उत्तानपाद ने अपनी पत्नी सूनृता के गर्भ से ध्रुव कीर्तिमान आयुष्मान तथा वसु नाम के चार पुत्र पैदा किये। ध्रुव से उनकी पत्नी शम्भु ने श्लिष्टि और भव्य नामक दो पुत्रों को जन्म दिया। श्लिष्टि ने अपनी पत्नी सुच्छाया के गर्भ से रिपु, रिपुञ्जय वीर वृकल तथा वृकतेजा ये पाँच पुत्र उत्पन्न किये। रिपु से बृहती ने चाक्षुष नाम के तेजस्वी पुत्र को जन्म दिया। चाक्षुष के उनकी पत्नी पुष्करिणी से जो महात्मा प्रजापति वीरण की कन्या थी चाक्षुष मनु उत्पन्न हुए। चाक्षुष मनु से वैराज प्रजापति की कन्या नड्वला के गर्भ से दस महाबली पुत्र हुए जिनके नाम इस प्रकार हैं—कुत्स, पुरु शतद्युम्न तपस्वी सत्यवाक्, कवि अग्निष्टुत अतिरात्र सुद्युम्न तथा अभिमन्यु। पुरु से आग्नेयी ने अंग सुमना स्वाति, क्रतु, अंगिरा तथा मय नाम के छ पुत्र उत्पन्न हुए।

की जैसी भी स्थिति रही है उस समय के साहित्य पर उसी प्रकार का प्रभाव पड़ा है। यदि पुरुष को सत्ता स्वामी के रूप में स्वीकार कर ली गई है तो यह निश्चित है कि उस समय के साहित्य में पुरुष ही स्वामी के रूप में मिलता है और स्त्री उसकी अनुगामिनी के रूप मे दिखाई देती है। उस समय की कल्पना उसी चित्र को तो स्वीकार करती है। सृष्टि के सम्बन्ध में विभिन्न धर्मों में जो भी कल्पनायें मिलती है उनमें पुरुष प्रधान है।

सबसे पहले हम सृष्टि के सम्बन्ध में हिन्दुओं के पौराणिक विश्वास को रखते हैं।

ब्रह्मपुराण के प्रारम्भ में ही नैमिषारण्य वासी मुनि व्यास-शिष्य लोमहर्षण से पूछते हैं—हेसाधुशिरोमणे! आप पुराण तन्त्र सभी शास्त्र, इतिहास तथा देवताओं और दैत्यों के जन्म-कर्म एवम् चरित्र सभी कुछ जानते हैं। वेदशास्त्र पुराण महाभारत तथा मोक्ष शास्त्र में कोई भी बात ऐसी नहीं है जो आपको ज्ञात नहीं हो।

हे महामते! बताइये, कि यह समस्त जगत कैसे उत्पन्न हुआ? भविष्य में इसकी क्या दशा होगी? स्थावर-जङ्गमरूप संसार सृष्टि से पहले कहाँ लीन था? और फिर कहाँ लीन होगा?

लोमहर्षण ने कहा—जो नित्य, सदसत्स्वरूप तथा कारण भूत अव्यक्त प्रकृति है, उसी को प्रधान कहते हैं। उसी से पुरुष ने इस विश्व का निर्माण किया है। अमित तेजस्वी ब्रह्माजी ही पुरुष हैं। वे समस्त प्राणियों की सृष्टि करने वाले तथा भगवान नारायण के आश्रित हैं। प्रकृति से महत्तत्व महत्तत्व से अहंकार तथा अहंकार से सब सूक्ष्म-भूत उत्पन्न हुए। भूतों के जो भेद हैं वे भी उन सूक्ष्म भूतों से ही प्रकट हुए हैं। यह सनातन सर्ग है। तदनन्तर स्वयम्भू भगवान नारायण ने नाना प्रकार की प्रजा उत्पन्न करने की इच्छा से सबसे पहले जल की सृष्टि की। फिर जल म अपनी शक्ति का आधान किया। जल का दूसरा नाम 'नार' है, क्योंकि उसकी उत्पत्ति भगवान नर से हुई है। वह जल पूर्वकाल में भगवान का अयन हुआ इसलिए वे नारायण कहलाते हैं। भगवान ने जो जल में अपनी शक्ति का आधान किया, उससे एक बहुत विशाल सुवर्णमय अण्ड प्रकट हुआ। उसी में से स्वयम्भू ब्रह्मा की उत्पत्ति हुए। सुवर्ण के समान कान्तिमान भगवान ब्रह्मा ने एक वर्ष तक उस अण्ड में निवास करके उसके दो टुकड़े कर दिए। फिर एक टुकड़े से यह लोक और दूसरे से भूलोक बनाया। उन दोनों के बीच आकाश को रखा। जल के ऊपर तैरती हुई पृथ्वी को स्थापित किया। फिर दसों दिशाएं निश्चित की। साथ ही काल मन वाणी, काम क्रोध और

रति की सृष्टि की। इन भावों की सृष्टि करने की इच्छा से ब्रह्मा जी ने सात प्रजापतियों को अपने मन से उत्पन्न किया। उनके नाम इस प्रकार हैं—मरीचि अत्रि अङ्गिरा पुलस्त्य पुलह क्रतु तथा वसिष्ठ। पुराणों में ये सात ब्रह्मा निश्चित किए गए हैं।

इसके पश्चात ब्रह्मा जी ने अपने रोष से रुद्र को प्रकट किया। फिर पूर्वजों के भी पूर्वज सनत्कुमार को उत्पन्न किया। इन्हीं सात महर्षियों से समस्त प्रजा तथा ग्यारह रुद्रों का प्रादुर्भाव हुआ। उक्त सात महर्षियों के सात बड़े बड़े दिव्य वंश हैं, देवता भी उनके अन्तर्गत हैं।

इसके पश्चात ब्रह्मा जी ने विद्युत वज्र मेघ रोहित इन्द्रधनुष पक्षी तथा अन्य वस्तुओं की सृष्टि की। फिर यज्ञों की सिद्धि के लिये ऋग्वेद यजुर्वेद तथा सामवेद प्रकट किये। इसके पश्चात साध्य देवताओं की उत्पत्ति बताई जाती है। छोटे बड़े सभी भूत भगवान ब्रह्मा के अङ्गों से उत्पन्न हुए हैं। इस प्रकार प्रजा की सृष्टि करने पर भी जब प्रजा की वृद्धि नहीं हुई तब प्रजापति अपने शरीर के दो भाग करके आधे से पुरुष और आधे से स्त्री हो गये। पुरुष का नाम मनु हुआ। स्त्री अयोनिजा शतरूपा थी जो मनु को पत्नी-रूप में प्राप्त हुई थी। उस स्त्री ने दस हजार वर्षों तक अत्यन्त दुष्कर तपस्या करके परम तेजस्वी पुरुष को पतिरूप में प्राप्त किया था। वे ही पुरुष स्वायम्भुव मनु कहलाये हैं। वैराज पुरुष भी उन्हीं का नाम है। शतरूपा ने वैराज पुरुष के द्वारा से वीर, प्रियव्रत और उत्तानपाद को जन्म दिया। वीर से काम्या नामक श्रेष्ठ कन्या उत्पन्न हुई जो कर्दम् प्रजापति की धर्मपत्नी हुई।

काम्या के गर्भ से चार पुत्र हुए—सम्राट कुक्षि, विराट् और प्रभु। प्रजापति अत्रि ने राजा उत्तानपाद को गोद ले लिया। प्रजापति उत्तानपाद ने अपनी पत्नी सूनृता के गर्भ से ध्रुव कीर्तिमान आयुष्मान तथा वसु नामक चार पुत्र पैदा किये। ध्रुव से उनकी पत्नी शम्भु ने शिष्टि और भव्य नामक दो पुत्रों को जन्म दिया। शिष्टि ने अपनी पत्नी सुछाया के गर्भ से रिपु, रिपुञ्जय वीर, वृकल तथा वृकतेजा ये पाँच पुत्र उत्पन्न किये। रिपु से बृहती ने चाक्षुष नाम के तेजस्वी पुत्र को जन्म दिया। चाक्षुष के उनकी पत्नी पुष्करिणी से जो महात्मा प्रजापति वीरण की कन्या थी चाक्षुष मनु उत्पन्न हुए। चाक्षुष मनु से वैराज प्रजापति की कन्या नड्वला के गर्भ से दस महाबली पुत्र हुए जिनके नाम इस प्रकार हैं—कुत्स पुरु शतद्युम्न तपस्वी सत्यवाक्, कवि अग्निष्टुत अतिरात्र सुद्युम्न तथा अभिमन्यु। पुरु से आग्नेयी ने अङ्ग सुमना स्वाति, क्रतु, अंगिरा तथा मय नाम के छः पुत्र उत्पन्न हुए।

अंग से सुनीथा ने वेन नामक पुत्र पैदा किया। वेन के अत्याचार से ऋषियों को बड़ा क्षोभ हुआ, अतः प्रजाजनों की रक्षा के लिए उन्होंने उसके हाथ का मंथन किया उससे महाराज पृथु प्रकट हुए। उन्हें देखकर मुनियों ने कहा—ये महातेजस्वी नरेश प्रजा को प्रसन्न रखेंगे तथा महान यश के भागी होंगे।

वेन कुमार पृथु ने ही इस पृथ्वी का पालन किया। उन्हीं के नाम पर इस धरती का नाम पृथ्वी पड़ा है। इन्होंने इस पृथ्वी से सब प्रकार के अनाज दुहे थे। प्रजा की जीविका चले इसी उद्देश्य से उन्होंने देवताओं, पितरों दानवों गन्धर्वों तथा अप्सराओं आदि के साथ पृथ्वी का दोहन किया।

उपर्युक्त वर्णन में पुरुष की महत्ता ही अधिक है। ब्रह्मा ने अपने मन से सात प्रजापतियों को उत्पन्न किया। पुराणों ने उन्हें सात ब्रह्मा के रूप में स्वीकार किया। इन सात ब्रह्माओं ने समस्त प्रजा और ग्यारह रुद्रों का प्रादुर्भाव किया, लेकिन फिर भी जब प्रजा की वृद्धि नहीं हुई तो क्षेत्र के रूप में स्त्री आई। ब्रह्मा ने अपने शरीर से ही उसकी उत्पत्ति की। उस स्त्री ने कठोर तपस्या करके स्वायम्भुवमनु को अपने पतिरूप में पाया और फिर इन दोनों के मिलन से प्रजा की वृद्धि होने लगी। इस वर्णन में स्त्री का हमें वही रूप मिलता है जो पातिव्रत की परम्परा में स्वीकृत है और जिसे उसके अनुसार श्रेष्ठ माना जाता है। पुरुष ही निर्माता के रूप में आगे आता है। पितृसत्ताक समाज में पुरुष के साथ जो क्षेत्रक का रूप जमा हुआ है वह स्पष्ट रूप से हमें यहाँ मिलता है। स्त्री क्षेत्र है उसके अभाव में ही तो प्रजा की वृद्धि नहीं हो पाई थी। जब क्षेत्रक ने क्षेत्र तैयार कर लिया तो अभीष्ट कार्य पूरा होने लगा।

यदि सृष्टि की उत्पत्ति के सम्बन्ध में उपर्युक्त पौराणिक कल्पना को सत्य मान लिया जाये तो इसके साथ यही मानना होगा कि सृष्टि के प्रारम्भ से ही पातिव्रत स्त्री के जीवन का आदर्श था। दुष्कर तपस्या करके ही वह पति को प्राप्त करती थी। एक बार पति को प्राप्त करके सदा उसके साथ रहना और उसकी सेवा करना ही उसके जीवन का गौरव था। उसी साधना में उसके जीवन की सार्थकता थी। सन्तानोत्पत्ति ही उसका पवित्र धर्म था। स्त्री और पुरुष के जीवन के बीच यह एक व्यवस्था है लेकिन क्या यह मानना उचित होगा कि सृष्टि के आदि काल में ही यह व्यवस्था आदर्श रूप में स्थापित हो गई थी और चूँकि धार्मिक ग्रन्थों ने इसको श्रेष्ठ बताया गया है इसलिए इसके अलावा जितने प्रकार की भी व्यवस्थाएं स्त्री और पुरुष के बीच हुई हैं, वे भी त्याज्य और पापपूर्ण हैं।

पुराणकार की कल्पना को ऐतिहासिक मान्यता देने के पश्चात ही ऐसा सोचना उचित हो सकता है। डार्विन के विकास-सिद्धान्त के सामने आने पर और उसके प्रस्तुत किये हुए अनेक तथ्यों के आधार पर वैज्ञानिक रूप से सृष्टि का विकास क्रम समझने के पश्चात पौराणिक कल्पनाओं को सत्य मानना पूरी तरह से असंगत है। इन्हें तो वे ही सत्य मान सकते हैं जिनकी चेतना का साम्प्रदायिक जड़ता के साथ पूरी तरह तादात्म्य हो चुका होगा। इसी प्रकार अनेक देवताओं के सम्बन्ध में भी धार्मिक ग्रन्थों में कहानियाँ आती हैं लेकिन वहाँ भी स्त्री और पुरुष के बीच के सम्बन्ध इसी पातिव्रत के आदर्श को लेकर चलते हैं। उन कहानियों में पुरुष स्वामी है। स्त्री उसकी अनुगामिनी होती है। सूर्य इन्द्र विष्णु तथा शिव आदि जितने भी देवता दिखाई देते हैं उनकी एक एक पत्नी है जो पूरी तरह से पातिव्रत के आदर्श का पालन करती है। शिव की पत्नी सती ने तो दूसरे जन्म में भी पार्वती बनकर शिव को ही अपना पति बनाया। इसी प्रकार लक्ष्मी भी सदा विष्णु के प्रति अपनी पतिभक्ति का परिचय देती है। इन्द्राणी ने भी पातिव्रत के आदर्श को रखा। जिस समय इन्द्र के पीछे ब्रह्महत्या आती थी और उसके भय से वह कमल की डंडी के भीतर जा छिपा था उस समय इन्द्राणी अपने पति के विरह में व्याकुल होगई थी। पति के न होने पर उसने नहुष को कभी भी पति रूप में स्वीकार नहीं किया था। पति को खोजने के लिये उसने देवता और मुनियों को भेजा था और जब इन्द्र ब्रह्महत्या से मुक्त होकर अपने पूर्वपद पर आया था तभी इन्द्राणी को सच्ची प्रसन्नता हुई थी। इस प्रकार चन्द्रमा की कहानी भी इसी आदर्श के अन्तर्गत आती है। प्रजापति की सात कन्याओं का चन्द्रमा के साथ विवाह हुआ था। उन सात में से चन्द्रमा रोहिणी को सबसे अधिक चाहता था और सदा उसके पास ही रहता था। प्रजापति की दूसरी कन्याएं अपने आपको तिरस्कृत जानकर अपने पिता के पास गईं और कहने लगीं—हे पूज्य वर! हमारे पति केवल रोहिणी पर ही स्नेह रखते हैं, हमारी तरफ कभी दृष्टि उठाकर देखते भी नहीं। आप उन्हें समझाइये। पति के तिरस्कार पाने से भी अधिक स्त्री के लिए कौनसा दारुण दुःख हो सकता है।

प्रजापति ने चन्द्रमा से सारी बात कही और उसे अपने कर्तव्य का ध्यान दिलाया। चन्द्रमा ने प्रजापति से वायदा कर लिया कि वह अवश्य ही सभी पत्नियों को समान समझ कर प्यार करेगा लेकिन फिर भी रोहिणी के प्रति उसका आकर्षण उतना ही बना रहा और अन्य पत्नियों को तिरस्कृत होकर फिर अपने पिता के पास जाना पड़ा। इस प्रकार तीन बार प्रजापति की वे कन्याएं अपने पिता के पास गईं और प्रजापति ने चन्द्रमा को उस पातिव्रत

अंग से सुनीथा ने वेन नामक पुत्र पैदा किया। वेन के अत्याचार से ऋषियों को बड़ा क्रोध हुआ, अतः प्रजाजनों की रक्षा के लिए उन्होंने उसके हाथ का मंथन किया, उससे महाराज पृथु प्रकट हुए। उन्हें देखकर मुनियों ने कहा—ये महातेजस्वी नरेश प्रजा को प्रसन्न रखेंगे तथा महान यश के भागी होंगे।

वेन कुमार पृथु ने ही इस पृथ्वी का पालन किया। उन्हीं के नाम पर इस धरती का नाम पृथ्वी पड़ा है। उन्होंने इस पृथ्वी से सब प्रकार के धनाज दुहे थे। प्रजा की जीविका चले इसी उद्देश्य से उन्होंने देवताओं, पितरों दानवों गन्धर्वों तथा अप्सराओं आदि के साथ पृथ्वी का दोहन किया।

उपर्युक्त वर्णन में पुरुष की महत्ता ही अधिक है। ब्रह्मा ने अपने मन से सात प्रजापतियों को उत्पन्न किया। पुराणों ने उन्हें सात ब्रह्मा के रूप में स्वीकार किया। इन सात ब्रह्माओं ने समस्त प्रजा और ग्यारह रुद्रों का प्रादुर्भाव किया, लेकिन फिर भी जब प्रजा की वृद्धि नहीं हुई तो क्षेत्र के रूप में स्त्री आई। ब्रह्मा ने अपने शरीर से ही उसकी उत्पत्ति की। उस स्त्री ने कठोर तपस्या करके स्वायम्भुवमनु को अपने पतिरूप में पाया और फिर उन दोनों के मिलन से प्रजा की वृद्धि होने लगी। इस वर्णन में स्त्री का हमें वही रूप मिलता है जो पातिव्रत की परम्परा में स्वीकृत है और जिसे उसके अनुसार श्रेष्ठ माना जाता है। पुरुष ही निर्माता के रूप में माना जाता है। पितृसत्तात्मक समाज में पुरुष के साथ जो बीजक का रूप लगा हुआ है वह स्पष्ट रूप से हमें यहीं मिलता है। स्त्री क्षेत्र है उसके अभाव में ही तो प्रजा की वृद्धि नहीं हो पाई थी। जब बीजक ने क्षेत्र तैयार कर लिया तो अभीष्ट कार्य पूरा होने लगा।

यदि सृष्टि की उत्पत्ति के सम्बन्ध में उपर्युक्त पौराणिक कल्पना को सत्य मान लिया जाये तो इसके साथ यही मानना होगा कि सृष्टि के प्रारम्भ से ही पातिव्रत स्त्री के जीवन का आदर्श था। दुष्कर तपस्या करके ही वह पति को प्राप्त करती थी। एक बार पति को प्राप्त करके सदा उसके साथ रहना और उसकी सेवा करना ही उसके जीवन का गौरव था। उसी साधना में उसके जीवन की सार्थकता थी। सन्तानोत्पत्ति ही उसका पवित्र धर्म था। स्त्री और पुरुष के जीवन के बीच यह एक व्यवस्था है लेकिन क्या यह मानना उचित होगा कि सृष्टि के आदि काल से ही यह व्यवस्था आदर्श रूप में स्थापित हो गई थी और चूँकि धार्मिक ग्रन्थों में इसको श्रेष्ठ बताया गया है इसलिए इसके अलावा जितने प्रकार की भी व्यवस्थाएं स्त्री और पुरुष के बीच हुई हैं, वे सभी त्याज्य और पापपूर्ण हैं?

फिर ईश्वर उस आदमी को उस बाग की देखभाल करने के लिए उसमें ले गया और उसे आज्ञा दी कि इस बाग के हर एक पेड़ के फल वह खा सकता है लेकिन अच्छाई और बुराई के ज्ञान के पेड़ के फल जिस दिन भी उसने खा लिए उसी दिन उसकी निश्चित मृत्यु हो जायगी।

यह कहने के पश्चात ईश्वर ने कहा यह ठीक नहीं है कि आदमी इस बाग में अकेला रहे। मैं उसके लिए एक साथी पैदा करूंगा। फिर उसी पृथ्वी में से ईश्वर ने पशु-पक्षी पैदा किए और उन्हें आदम के पास लाकर कहा इनके नाम रख। आदम ने जो भी नाम रखे उसी नाम से आज तक पशु-पक्षी जाने जाते हैं।

पशु-पक्षी पैदा करने के पश्चात भी ईश्वर ने देखा कि आदम अकेला है, उसका कोई साथी नहीं है। साथी पैदा करने के विचार से ईश्वर ने एक दिन आदम को गहरी नींद में डाल दिया। जब वह सो गया तो उसकी पसली की एक हड्डी निकाल कर उसकी औरत बनाई और उसको आदम के पास लाया। उसे देखकर आदम ने कहा—'यह तो मेरे शरीर का ही अङ्ग है इसलिए यह औरत के नाम से जानी जायेगी। इसीलिए आदमी अपने माता-पिता को भी छोड़कर औरत से अपना अभिन्न सम्बन्ध जोड़ेगा। वे एक ही शरीर के दो भाग हैं। वे दोनों उस बाग में बिल्कुल नंगे थे लेकिन फिर भी एक दूसरे को तरफ देखकर उनके अन्दर किसी प्रकार का लज्जा का भाव नहीं जागा था।

जो जीवजन्तु ईश्वर ने उस बाग में पैदा किए थे, इनमें साँप सबसे अधिक चंचल था। वह आकर औरत से कहने लगा—क्या ईश्वर ने तुमसे इस बाग के पेड़ों का कोई भी फल खाने के लिये मना कर दिया है?

औरत ने कहा—नहीं ईश्वर की आज्ञानुसार हम प्रत्येक पेड़ के फल खा सकते हैं; लेकिन बीचोंबीच में अच्छाई और बुराई के ज्ञान के उस पेड़ का फल खाने के लिए ईश्वर ने हमको मना कर दिया है क्योंकि उसके खाने से हमारी निश्चित मृत्यु हो जायेगी। इसीलिए ईश्वर ने कहा है कि इस पेड़ के फलों को तो छूना भी उचित नहीं है।

औरत की बात सुनकर साँप ने कहा—यह तुम्हारा भ्रम है। इससे बढ़कर भी भ्रम और क्या हो सकता है। ईश्वर ने तुम्हारे साथ चाल खेली है। उसे यह भय है कि उस पेड़ के फल खाकर अच्छे बुरे का ज्ञान हो जाने से कहीं तुम देवताओं का स्थान ग्रहण नहीं कर लो। इसीलिए उसने यह भय दिखाया है। विश्वास करो उस पेड़ का फल खाने से तुम्हारी मृत्यु नहीं हो सकती—बल्कि

धर्म का ध्यान दिलाया जिसको आदर्श मानकर स्त्री अपने पति को ही देवता मान लेती है, फिर पति का भी यह कर्त्तव्य हो जाता है कि वह अपनी पत्नी के प्रति समुचित स्नेह दिखाये लेकिन चन्द्रमा के द्वारा बराबर इस मर्यादा का उल्लंघन किये जाने के कारण प्रजापति ने उसे शाप दे दिया। फिर चन्द्रमा के प्रार्थना करने पर वह शाप हटा, तब चन्द्रमा ने अपनी सभी पत्नियों के प्रति बराबर प्रेम दिखाना प्रारम्भ किया।

इसी आदर्श को लेकर वैवस्वत मुनि के पिता विवस्वान अर्थात् सूर्य और संज्ञा की कहानी चलती है। इन सभी कहानियों में स्त्री के सामने यही पातिव्रत् का आदर्श रखा गया। पति के बिना स्त्री का जीवन व्यर्थ है। पति के द्वारा तिरस्कृत होने से बड़ा दुख स्त्री के जीवन में दूसरा नहीं है। उसके जीवन की सार्थकता तो इसी जन्म में पति की सेवा करने में नहीं है बल्कि जन्मजन्मान्तर तक पति की सेवा करने में है। पुराणकार ने उस स्त्री को अत्यन्त ही दीना दशा में चित्रित किया है जिसके प्रति पति का प्रेम नहीं है। उसका दृष्टि कोण तो सर्वत्र पुरुष को ही स्त्री की शक्ति समझने में ही निहित रहा है। पुरुष ही स्त्री का रक्षक है। स्त्री की अपनी कोई शक्ति नहीं है तभी तो पृथ्वी गाय का रूप धारण करके दैत्यों के अत्याचार से पीड़ित होकर लोकपितामह ब्रह्मा के पास जाकर रक्षा के लिए प्रार्थना करती है।

स्पष्ट रूप से देखा जाय तो पुराणकार ने पति पत्नी के बीच एक प्रकार के आदर्श सम्बन्ध की कल्पना करती है और उसी के अन्तर्गत देवी देवताओं की कथाओं को बाँधकर यह बताने का प्रयत्न किया है कि चूँकि देवताओं के बीच भी पातिव्रत को ही स्त्री के लिए श्रेष्ठ धर्म माना गया है अतः मनुष्य मात्र के लिए शाश्वत रूप में यही सम्बन्ध आदर्श रूप से मान्य होना चाहिए।

ईसाई मतावलम्बी भी सृष्टि के प्रारम्भ से इसी आदर्श सम्बन्ध को अपनाया करते हैं। उनकी दृष्टि में तो स्त्री और भी हीन हो जाती है। पाप और मूर्खता उसके चरित्र के साथ जुड़ जाते हैं। बाइबिल की पहली पुस्तक में आदम और हव्वा (Adam and Eve) के सम्बन्ध में वर्णन आता है। ईसाइयों को विश्वास है कि इस पृथ्वी पर सबसे पहले ईश्वर ने आदम को भेजा। यही पूर्व पुरुष है। सभी मनुष्य उसी के वंशज हैं।

वर्णन इस प्रकार है और ईश्वर ने अदन (Eden) में पूर्व की तरफ एक बाग लगा दिया और वहाँ उस आदमी को रखा जिसे उसने बनाया था। उस बाग में हर एक तरह के अच्छे पेड़ उगाये और बाग के बीचों-बीच म जिन्दगी और ज्ञान का वृक्ष लगा दिया।

फिर ईश्वर उस आदमी को उस बाग की देखभाल करने के लिए उसमें ले गया और उसे आज्ञा दी कि इस बाग के हर एक पेड़ के फल वह खा सकता है लेकिन अच्छाई और बुराई के ज्ञान के पेड़ के फल जिस दिन भी उसने खा लिए उसी दिन उसकी निश्चित मृत्यु हो जायगी।

यह कहने के पश्चात ईश्वर ने कहा यह ठीक नहीं है कि आदमी इस बाग में अकेला रहे। मैं इसके लिए एक साथी पैदा करूंगा। फिर उसी पृथ्वी में से ईश्वर ने पशु-पक्षी पैदा किए और उन्हें आदम के पास लाकर कहा इनके नाम रखो। आदम ने जो भी नाम रखे उसी नाम से आज तक पशु-पक्षी जाने जाते हैं।

पशु-पक्षी पैदा करने के पश्चात भी ईश्वर ने देखा कि आदम अकेला है, उसका कोई साथी नहीं है। साथी पैदा करने के विचार से ईश्वर ने एक दिन आदम को गहरी नींद में डाल दिया। जब वह सो गया तो उसकी पसली में से एक हड्डी निकाल कर उसकी औरत बनाई और उसको आदम के पास लाया। उसे देखकर आदम ने कहा—'यह तो मेरे शरीर का ही अङ्ग है इसलिए यह औरत के नाम से जानी जायेगी। इसीलिए आदमी अपने माता पिता को भी छोड़कर औरत से अपना अभिन्न सम्बन्ध जोड़ेगा। वे एक ही शरीर के दो भाग हैं। वे दोनों उस बाग में बिल्कुल नंगे थे लेकिन फिर भी एक दूसरे की तरफ देखकर उनके अन्दर किसी प्रकार का लज्जा का भाव नहीं जाता था।

जो जीवजन्तु ईश्वर ने उस बाग में पैदा किए थे, इनमें साँप सबसे अधिक चपल था। वह आकर औरत से कहने लगा—क्या ईश्वर ने तुमसे इस बाग के पेड़ों का कोई भी फल खाने के लिये मना कर दिया है?

औरत ने कहा—नहीं, ईश्वर की आज्ञानुसार हम प्रत्येक पेड़ के फल खा सकते हैं; लेकिन बीचोंबीच में अच्छाई और बुराई के ज्ञान के उस पेड़ का फल खाने के लिए ईश्वर ने हमको मना कर दिया है क्योंकि उसके खाने से हमारी निश्चित मृत्यु हो जायेगी। इसीलिए ईश्वर ने कहा है कि इस पेड़ के फलों को तो छूना भी उचित नहीं है।

औरत की बात सुनकर साँप ने कहा—यह तुम्हारी भूल है। इससे बढ़कर भी भय और क्या हो सकता है। ईश्वर ने तुम्हारे साथ चाल खेली है। उसे यह भय है कि उस पेड़ के फल खाकर अच्छे बुरे का ज्ञान हो जाने से कहीं तुम देवताओं का स्थान ग्रहण नहीं कर लो। इसीलिए उसने यह भय दिखाया है। विश्वास करो उस पेड़ का फल खाने से तुम्हारी मृत्यु नहीं हो सकती—बल्कि

उससे तो तुम्हारे मस्तिष्क का अन्धकार दूर हो जायेगा और सत्य और असत्य का तुम्हें ज्ञान हो जाएगा।

साँप की बातों में आकर, उस औरत ने उस पेड़ का फल तोड़ लिया और कुछ उसमें से स्वयं खाकर बाकी आदम को भी खाने के लिए दे दिया। आदम ने भी उसे खाया। फल को खाते ही उनको यह ज्ञान हुआ कि वे नंगे हैं और उसी समय उनको अपनी इस अवस्था पर लज्जा होने लगी। उन्होंने पत्तियों से अपने शरीर को ढक लिया।

उसी समय उन्हें ईश्वर की आवाज सुनाई दी। आदम और हव्वा ने अपने आपको पेड़ों के पीछे छिपा लिया। ईश्वर ने पुकारा—आदम! कहाँ हो तुम?

उसने कहा—स्वामी! मैंने आपकी आवाज सुन ली है लेकिन मैं नंगा हूँ इसी लज्जा के कारण मैं आपके सामने नहीं आता।

ईश्वर ने चौंक कर कहा—किसने कहा तुमसे कि तू नंगा है। क्या तूने उस ज्ञान के पेड़ का फल खा लिया है? क्या तूने मेरी आज्ञा का उल्लंघन कर डाला है।

इस पर आदम ने कहा—हे स्वामी! जिस औरत को आपने मुझे दिया था। उसी ने मुझे यह फल खाने को दिया था। मैं उसे खा गया।

यह सुनकर ईश्वर ने उस औरत से कहा—यह तूने क्या किया?

औरत ने कहा—साँप ने मुझे धोखा दिया है। उसने मुझे सही रास्ते से हटाया है। उसके कहने से ही मैंने इस फल को खाया है, स्वामी!

इस पर ईश्वर ने क्रुद्ध होकर साँप से कहा—चूँकि तूने यह पाप किया है इसलिए तुझ पर ही मेरा सारा शाप गिरे। तू पेट के बल जमीन पर घिसटेगा और जीवन भर मिट्टी खाता रहेगा। तुझमें और इस औरत की औलाद में सदा दुश्मनी बनी रहेगी। वह तेरे सिर को कुचलेगी और तू उसके पैर में काटेगा।

फिर ईश्वर ने औरत की तरफ मुड़कर कहा—तेरे ऊपर भी महान दुःख गिरेगा। सदा दुःखी रहकर ही तू अपनी औलाद को जन्म देगी। सदा तू अपने पति की इच्छा की दासी रहेगी। वह तेरे ऊपर शासन करेगा।

इसके पश्चात उसने आदम से कहा—चूँकि तूने मेरी आज्ञा का उल्लंघन करके इस औरत के कहने से इस पेड़ के फल को खाया है इसलिये मैं तुझे शाप देता हूँ कि तू अपने पूरे जीवन भर दुःखी रहकर इसको खाता रहेगा। इससे कांटे पैदा होंगे। तू जमीन से खोदकर अन्न खायेगा और मरते दम तक तू पसीने से कमा कर ही अपनी रोटी खा सकेगा। उस समय तक जबकि तू

उसी मिट्टी में न मिल जावे जिसमें से पैदा हुआ है तेरी जिन्दगी परेशानियों में कटेगी।

आदम ने सबकुछ सुनकर अपनी पत्नी को हव्वा के नाम से पुकारा। वही हव्वा सभी मनुष्यों की जननी है।

इस्लाम मतावलम्बी भी बाइबिल की इसी कथा पर विश्वास करते हैं। कुरान की दूसरी सूरे म इसकी ओर संकेत है।

यहूदियों में तो यह विश्वास प्रचलित है ही।

यदि उपयुक्त विश्वासों को ईश्वरीय वाक्य मानकर सृष्टि के सम्बन्ध में प्रामाण्य मान लिया जाय तो इससे यही प्रतीत होता है कि स्त्री तो सदा पति की सेवा करने के लिए ही इस पृथ्वी पर जन्म लेती है। इसके अतिरिक्त उसकी किसी प्रकार की स्वतन्त्रता की पुकार अधार्मिक है क्योंकि ईश्वर ने पहले ही स्त्री पुरुष के बीच सम्बन्ध की एक मर्यादा स्थापित कर दी है। चूँकि स्त्री मूर्ख है और दूसरे के प्रलोभन में आ जाती है इसलिये ही तो ईश्वर ने उससे कहा था कि पति सदा उसके ऊपर शासन करेगा। उसकी इच्छा ही उसके लिए मान्य होगी।

ईसाई धर्म के प्रचारक सेन्टपॉल ने भी पत्नियों से यही कहा था— पत्नियो! तुम अपने पतियों के उसी तरह आधीन हो जाओ जैसे भगवान के आधीन होती हो।

सेन्टपॉल के मत का आधार बाइबिल का उपयुक्त कथन ही है। इसी प्रकार जरथुस्त्री धर्म में पति की प्रभुता स्वीकार करते हुए उसकी आज्ञा की अवहेलना करने वाली स्त्री को डायन कहा गया है। इंगलैण्ड में पुनर्जागरण काल के पश्चात जब स्त्री भी अपनी स्वतन्त्रता के लिये समाज से तकाजा करने लगी तो मिल्टन को फिर उसे हव्वा का वही वाक्य याद दिलाना पड़ा जो उसने आदम से कहा था।

हव्वा ने कहा था—हे मेरे स्रष्टा और विधाता भगवान् की ऐसी आज्ञा है कि जो तुम आदेश दोगे मैं बिना किसी प्रकार का विचार उपस्थित किये उसका पालन करूँगी। तुम मेरे लिये भगवान और कानून हो। स्त्री के लिए इससे अधिक न जानना ही सबसे अधिक आनन्ददायी ज्ञान है इसी म उसकी प्रशंसा है।

सभी स्थानों पर स्त्री के सामने पुरुष को भगवान एकमात्र आधार, रक्षक आदि मानने का आदर्श है। धर्म इस मर्यादा को शाश्वत और दैवी कहकर स्त्री के सामने प्रस्तुत करते हैं। उनके लिये उनके पास धर्म-ग्रन्थों के प्रमाण हैं; लेकिन विचार तो यह करना है कि क्या वास्तव में यह आदर्श दैवी

है ? क्या सृष्टि के प्रारम्भ से ही ईश्वर ने पुरुष और स्त्री के लिये यही मर्यादा स्थापित कर दी है।

हमारा मत है कि सृष्टि की उत्पत्ति और उसके साथ स्त्री पुरुष के आदर्श सम्बन्धों की मर्यादा के विषय में जो भी विश्वास धार्मिक ग्रन्थों ने रखे हैं, वे केवल कल्पना-मात्र हैं। उनको वैज्ञानिक मानना भूल है। डार्विन के सिद्धान्त ने उनकी अवैज्ञानिकता को पूरी तरह प्रमाणित कर दिया है। अब यह विश्वास नहीं किया जाता कि ईश्वर ने छ: दिन में ही इस संसार को बनाकर सातवें दिन विश्राम किया था और सारी सृष्टि में मनुष्य ही ईश्वर का सर्वप्रिय प्राणी है। बाइबिल की कहानी को काव्यरूपक के रूप में ही माना जा सकता है और यह भी यहीं तक कि मनुष्य अपनी आदिम अवस्था में नंगा था। उसमें किसी प्रकार लज्जा का भाव नहीं था। अच्छे और बुरे को भी वह अधिक नहीं पहचानता था। यह स्त्री और पुरुष दोनों के ऊपर लागू होता है। फिर एकाएक ही उसे इतना ज्ञान हो गया कि स्त्री ने पुरुष को स्वामी मान लिया और यह आदर्श एक मर्यादा के रूप में तुरन्त ही स्थापित हो गया, यहाँ ईसाई मत विकास के सिद्धान्त को न मानकर यही स्थापित करता है कि नग्नावस्था से लेकर पातिव्रत के आदर्श तक का स्त्री पुरुष के बीच के सम्बन्ध का विकास दैवी इच्छा से तुरन्त हो गया और उस क्षण से आज तक तो किसी प्रकार के विकास का प्रश्न ही नहीं उठता। दैवी वाक्य तो अटल है, उसके साथ विकास का प्रश्न उठाकर उसकी शाश्वत सत्ता पर शंका करना धर्म की मर्यादा को चुनौती देना है यही कारण है कि ईसाई मतावलम्बी तथा उनके साथ अन्य धार्मिक मतों में विश्वास करने वाले लोग डार्विन के विकास के सिद्धान्त को धर्म के लिये सदा चुनौती ही समझते रहे हैं।

यदि धार्मिक विश्वासों की वास्तविकता पर निष्पक्ष दृष्टि से विचार किया जाय तो यही मालूम होता है कि ये सारे विश्वास पुरुष ने ही बनाये हैं और बनाये भी उस समय हैं जबकि उसकी सत्ता को स्त्री ने स्वामी के रूप में स्वीकार कर लिया था। पुराणों में जो सृष्टि का वर्णन आता है वह पितृसत्तात्मक समाज के दृष्टिकोण को स्पष्ट रूप से व्यक्त करता है। इस प्रकार की कल्पना वैदिक काल के पश्चात् ही की गई थी, नहीं तो वेद के निर्माण काल में तो ब्रह्मा को इतनी महत्ता दी ही नहीं गई थी। उस समय तो इन्द्र ही सबसे अधिक पूज्य देवता था और उससे भी पहले था वरुण जिस की सर्वत्र उपासना होती थी। पुराणकार के द्वारा प्रस्तुत किये हुए सृष्टि की उत्पत्ति के वर्णन में न तो इन्द्र के लिए किसी प्रकार का स्थान दिया गया है

और न वरुण के लिए। यही बात प्रत्यक्ष रूप से यह व्यक्त करती है कि वैदिक काल में इस प्रकार की धारणा को कोई स्थान नहीं मिला था। वरुण के सर्व पूज्य देवता हो जाने तक पितृसत्तात्मक समाज अपना सुदृढ़ रूप जमा चुका था लेकिन वरुण से पहले भी सर्वपूज्य एक देवी थी। वह अदिति है जो वरुण की माता कही जाती है। अदिति की मान्यता ही मातृसत्तात्मक समाज की ओर इंगित करती है। बाद में पितृसत्तात्मक समाज में उसी अदिति के बारे में यह कल्पना की गई कि वह वरुण की पुत्री है। इस प्रकार धार्मिक विश्वासों के पैदा होने और बदलने की एक कहानी है। विभिन्न परिस्थितियों के अन्तर्गत ये विश्वास निरन्तर अपना रूप बदलते आते हैं अतः इनको शाश्वत मानना या किसी प्रकार विषय के ऐतिहासिक अनुसन्धान के लिए इनको शाश्वत आधार मानना भूल होगी। उपर्युक्त मतों को उद्धृत करने का हमारा यही उद्देश्य है कि अधिकतर परम्परावादी धर्मग्रन्थों का उदाहरण देकर स्त्री के उत्थान और पतन का निर्णय किया करते हैं। वे विकास की ओर से आँखें मूँदकर सदा मर्यादा का ही गीत गाया करते हैं। प्रश्न तो यह है कि यह मर्यादा क्या है? क्या यह कोई ऐसी स्थिर वस्तु है कि समय और परिस्थिति में किसी प्रकार की सापेक्षता रखती ही नहीं है? इस तरह मर्यादा की स्थिरता मानने वाले लोग तो फिर यहाँ तक विश्वास करने लग जायेंगे कि दुनियाँ में कुछ बदलता ही नहीं है। जैसा भी रूप भगवान ने एक बार इस दुनिया को दिया था वही अबतक चला आ रहा है और प्रलय काल तक इसी प्रकार चलता चला जायेगा। ऐसी धारणायें निर्मूल हैं। तथ्य उनका कभी साथ नहीं देते। दुनिया में सबकुछ बदलता है, सभी का पारस्परिक विकास होता है। यदि आज बीसवीं शताब्दी के मनुष्य की तुलना हम वदिक काल के मनुष्य से करें तो दो भिन्न रूप पायेंगे। इसी प्रकार मनुष्य की प्रत्येक समस्या, उसके जीवन का प्रत्येक पक्ष विकास क्रम में अपना रूप बदलता रहता है। धार्मिक मतों के द्वारा स्थापित पातिव्रत के आदर्श के पीछे और आज भी स्त्री और पुरुष के बीच अनेक तरह के सम्बन्धों का एक इतिहास है और उन सम्बन्धों की अपनी अपनी परिस्थितियाँ हैं जिनमें से वे पैदा हुए हैं। उन परिस्थितियों का सही रूप से अध्ययन करके ही स्त्री और पुरुष के सम्बन्धों की समस्या पर हम वृहत् रूप से विचार कर सकेंगे। किसी भी एक स्थिति को आदर्श रूप में मान कर उसको मर्यादा बना देने से काम नहीं चलता। इस तरह के पूर्वाग्रह ही विषय के स्पष्टीकरण में सबसे अधिक बाधा डालते हैं। इनको छोड़कर हमें इतिहास का आधार लेना होगा उसी से जीवन के क्रमिक

विकास पर प्रकाश डाला जा सकता है, नहीं तो धार्मिक विश्वास से बंधे हुए लोग तो एक मर्यादा के नाते स्त्री के किसी प्रकार के अन्य अधिकारों की मांग को सदाचार के रूप में स्थापित करेंगे। धार्मिक विश्वास स्त्री के प्रति कोई अधिक लाभ भी नहीं करते। हव्वा की कहानी से ईसाई प्रारम्भिक पाप (original sin) का सम्बन्ध स्त्री के साथ जोड़कर उसे ही पापिनी के रूप में मानते हैं। चूंकि उसने आदम को वह फल देकर उसे ईश्वर के बताये हुए मार्ग से गिराया था, इसलिए उसे सदा पुरुषों को अपने पथ में विचलित करने वाली के रूप में समझा जाता है। इस प्रकार के विश्वास स्त्री के प्रति कहाँ तक न्याय करते हैं। इसी प्रकार वस्तुतः धर्म उसी स्त्री को श्रेष्ठ कहता है जो अपने पति की प्रभुता मान लेती है, बाकी सभी को डाइन के रूप में गिनता है। क्या यह एकांगी पक्ष नहीं है, जो स्त्री को दासी के रूप में ही स्वीकार करके एक मर्यादा की स्थापना कर देना चाहता है। मर्यादा की बात यहाँ तक आगे बढ़ती है कि फिर तो चाहे पति कितना भी पापाचारी और अत्याचारी हो लेकिन स्त्री के जीवन की मुक्ति तो उसकी सेवा करने में ही है। इस प्रसंग में मार्कण्डेय पुराण में आई एक कहानी को मैं सामने रखता हूँ—

प्रतिष्ठानपुर में एक कौशिक नामक ब्राह्मण था। वह पूर्व जन्म में किये पापों के कारण कोढ़ी हो गया। ऐसे घृणित रोग से युक्त होने पर भी उसकी पत्नी देवता की भाँति उसकी पूजा करती थी। उसके पैरों में तेल मलती थी। अपने हाथ से नहलाती भी इतना ही नहीं उसके थूक खखार मल-मूत्र और रक्त भी वह स्वयं ही धोकर साफ करती थी। इस सबके बदले में उसका पति अपना क्रोधी स्वभाव होने के कारण उसको सदा फटकारता रहता था।

एक दिन कौशिक ने अपने घर की खिड़की से एक रूपवती वेश्या को सड़क पर जाते हुए देखा। उसके रूप पर आसक्त होकर उसने अपनी पत्नी से कहा—प्रिये! तुम किसी तरह मुझे इस वेश्या के पास ले चलो। मेरा मन इसकी ओर आकर्षित हो रहा है। उसके रूप को देखकर मेरे हृदय में कामवासना जाग उठी है।

कौशिक में उठने की भी शक्ति नहीं थी तब उसकी सौभाग्यशालिनी पतिव्रता पत्नी ने उसे अपने कंधे पर उठा लिया और धीरे धीरे वह वेश्या के घर की ओर चलने लगी। अंधेरी रात थी। रास्ते में ही महर्षि माण्डव्य सूली पर बैठे हुए थे। अँधेरे में उस स्त्री का वह नहीं दीखा और जैसे ही वह उस सूली के पास होकर निकली तो कौशिक का पैर उससे टकरा गया और महर्षि के शरीर में उस सूली के चुभ जाने पर दर्द हुआ, इस कारण क्रुद्ध होकर

महर्षि ने शाप दिया—जिस मूर्ख ने भी इस समय आकर मुझे यह पीड़ा पहुँचाई है वह सूर्योदय होते ही इस पृथ्वी से उठ जायेगा।

महर्षि का यह शाप सुनकर कौशिक की वह पतिव्रता पत्नी एक साथ आवेश में आ गई और उसने कहा—'महर्षि ! आपने बिना सोच समझे ही आवेश में आकर यह शाप दिया है, लेकिन फिर भी मेरे पति के जीवन की रक्षा करने की शक्ति मुझ में है। यदि मैंने आजीवन पातिव्रत धर्म का पालन किया है तो मैं कहती हूँ कि अब सूर्योदय नहीं होगा।

उस पतिव्रता नारी के इस वचन के प्रभाव से सूर्योदय नहीं हुआ। सूर्योदय न होने के कारण संसार का सारा कार्य रुक गया यज्ञ होना बन्द हो गया, देवता अपना भाग न पाने के कारण व्याकुल होने लगे। उन्होंने महर्षि अत्रि की पत्नी अनसूया से कहा—हे देवी ! सूर्योदय न होने के कारण संसार के यज्ञ आदि सभी धार्मिक कार्य रुक गये हैं आप कोई ऐसा प्रयत्न करिये कि फिर से संसार का सारा कार्य सुचारु रूप से चलने लगे।

इसके साथ ही देवताओं ने कौशिक की पतिव्रता पत्नी के अटल व्रत की सारी बात बता दी। अनसूया ने कहा—देवताओ ! पतिव्रता का महत्व किसी प्रकार कम नहीं हो सकता इसलिए मैं उस साध्वी को मनाकर दिन की सृष्टि कर दी। मुझे ऐसा उपाय करना है जिससे फिर पहले की भाँति दिन रात की व्यवस्था चलती रहे और उस पतिव्रता के पति का भी नाश न हो।

यह कहकर अनसूया कौशिक की पत्नी के पास गई और उसे हर प्रकार से समझाकर बोली—कल्याणी ! तुम देवता और मनुष्यों के कल्याण के लिये सूर्य्य को उदय होने दो। उस समय तुम्हारे पति की मृत्यु हो जाने पर मैं उन्हें फिर अपने पतिव्रत के बल पर पुनर्जीवित कर दूंगी।

कौशिक की पत्नी अनसूया की बात मान गई और उसने सूर्योदय की आज्ञा दे दी। सूर्योदय हुआ उसी क्षण कौशिक निर्जीव होकर शय्या पर गिर पड़ा। इसके पश्चात अनसूया ने अपने पतिव्रत के बल पर उसको पुनर्जीवित किया और एक घृणित कोढ़ी के स्थान पर एक सुन्दर नवयुवक बनाकर उसने कौशिक को उसकी पत्नी के सामने खड़ा कर दिया।

यह है पतिव्रत की शक्ति ! स्त्री की यही तो सबसे बड़ी शक्ति है जिसके बल पर एक बार तो वह मृत्यु तक को भी चुनौती देकर रोक सकती है। पुराणकार ने तो यहाँ पत्नी को इतना भी अधिकार देना उचित नहीं समझा है कि वह पति के व्यवहार पर किसी प्रकार का तर्क भी कर सके। इससे तो यह स्पष्ट रूप से प्रकट होता है कि यदि पुरुष वेश्यागामी हो तो भी स्त्री को

पूर्ण विश्वास के साथ उसकी सेवा करनी चाहिए। यही उसका अधिकार है। यह स्त्री के लिये बाँधी मर्यादा की अन्तिम सीमा है, लेकिन यहाँ प्रश्न उठता है कि जब ब्रह्मा ने अपने शरीर को बराबर के दो भागों में बाँटकर स्त्री और पुरुष की सृष्टि की थी तो फिर स्त्री और पुरुष के लिये अलग अलग प्रकार के नियमों की सृष्टि क्यों की। जिस प्रकार पुरुष वेश्यागामी होकर भी अपनी पत्नी की पूर्ण भक्ति की अपेक्षा रखता है, उस तरह क्या स्त्री भी ऐसे पति से विमुख होने का अधिकार रख सकती है। पुराणकार के मत में ऐसी स्त्री कुलटा और पतित हो जायेगी। यदि कौशिक की पत्नी इस व्यभिचारी पति के व्यवहार पर क्रुद्ध होकर उसका तिरस्कार करती तो सम्भवतया पुराणकार उसकी आत्मा में इतनी शक्ति नहीं दिखाता कि वह सूर्योदय को भी रोक सके।

इन सभी धार्मिक विश्वासों से यही स्पष्ट होता है कि धार्मिक मर्यादाओं के पीछे व्यक्ति और वर्गों के स्वार्थ रहे हैं। एक प्रकार के द्वन्द्व के भीतर से इन विश्वासों का जन्म हुआ है, इसलिए हम तो विषय को निष्पक्ष दृष्टि से तभी अध्ययन कर सकेंगे जब उस द्वन्द्व को अपनी वास्तविक स्थिति में देखें जिनमें से इन मर्यादाओं ने जन्म लिया है। कोई भी धार्मिक विश्वास शाश्वत नहीं है, जैसे ईश्वर और देवता आदि को सम्मिलित करके प्रयत्न हर समय धर्म-शिक्षकों ने यही किया है कि अपनी बात को शाश्वत बना दें। हमें निरन्तर चलते इस परिवर्तन के क्रम में ही प्रत्येक आदर्श और मूल्य को देखना चाहिए और फिर यह निश्चित करना चाहिए कि हमारी अपनी परिस्थितियों के बीच स्त्री और पुरुष के बीच किस प्रकार के सम्बन्ध होने चाहिए।

यह हम अभी प्रकार कह चुके हैं कि धार्मिक विश्वास के रूप में प्राणी के विकास के विषय में की गई कल्पना किसी प्रकार का वैज्ञानिक आधार नहीं रखती। एक हजार ईसवी से पहले ईसाई मतावलम्बी केवल यही विश्वास करते थे कि यह संसार केवल ईसा से एक हजार वर्ष बाद तक ही चलेगा, इसके पश्चात् सभीकुछ नष्ट हो जायगा लेकिन जब संसार पूर्ववत चलता रहा तो यह भ्रम दूर हो गया। इसी प्रकार के भ्रम संसार की उत्पत्ति के सम्बन्ध में धार्मिक विश्वास के रूप में जीवित हैं। उन्नीसवीं शताब्दी में विकास के सिद्धान्त के आने से इन सभी विश्वासों को एक गहरा धक्का लगा था, तभी इङ्गलैंड में विक्टोरिया काल के कुछ धार्मिक कवियों के सामने अँधेरा सा छा गया था। वे कभी यह कल्पना ही नहीं कर सकते थे कि हमारे जैसे सभ्य मनुष्यों के पूर्वज बन्दर की सी आकृति वाले वनमानुष थे। इस विचार ने हर जगह एक क्रान्ति सी पैदा कर दी थी। जिस तरह की हलचल गैलीलियो के इस सिद्धान्त ने मचा दी थी कि पृथ्वी स्थिर नहीं है बल्कि सूर्य स्थिर है और पृथ्वी उसके

चारों ओर चक्कर लगाती है उसी प्रकार की हलचली डारविन के सिद्धान्त से मच गई थी। तभी धार्मिक विश्वासों के रूप में पलते आदर्शों पर शंका की जाने लगी और मूल्यों की फिर से खोज प्रारम्भ हो गयी। परम्परा और साम्प्रदायिकता के स्थान पर ऐतिहासिक दृष्टिकोण ने जन्म लिया।

प्राचीन समाज की स्थिति के बारे में पश्चिम के विद्वान मोरगन (Morgan) ने काफी खोज-बीन की है। उसी ने उस प्रागैतिहासिक काल का क्रमबद्ध एक चित्र उपस्थित किया है। उसने मनुष्य जीवन के इतिहास को तीन युगों में बाँटा है—

(१) जंगली अवस्था (Savagery)

(२) बर्बर अवस्था (Barbarism)

(३) सभ्यता का युग (Civilization)

इन तीनों के भीतर भी वह एक क्रम प्रस्तुत करता है। निम्न मध्य और उच्च के रूप में प्रत्येक स्थिति का हमें विभाजन कर लेना चाहिए। जंगली अवस्था का निम्नतम रूप मनुष्य का वह मिलता है कि जहाँ उसमें और पशु में कोई अधिक अन्तर नहीं दिखाई देता।

६
नैतिकता का सामाजिक आधार

यौन जीवन के विषय में आई विषमता का कारण व्यक्ति का अज्ञान है। वह नहीं जानता कि आदिम काल से लेकर मनुष्य ने किन किन परिस्थितियों के बीच चलकर अपने जीवन का विकास किया है। वह यह भी नहीं जानता कि जिन आदर्शों को लेकर वह धर्म की दुहाई देता है, वे शाश्वत नहीं हैं, बल्कि विभिन्न परिस्थितियों के बीच मनुष्य द्वारा निर्मित हैं।

धर्म और संस्कृति की पुकार करने वाले लोग कितना कम समझते हैं कि धर्म और संस्कृति क्या होती है। एक बार एक सज्जन कहने लगे कि पश्चिम के संसार में इतना अधिक व्यभिचार फैला हुआ है, फिर भी कितना दुःख होता है कि भारतीय उन्हीं पश्चिम वालों का अनुकरण करते हैं। क्या हमारी संस्कृति की कभी वे तुलना कर सकते हैं? वहाँ की बाजारू औरतें हमारे यहाँ की आदर्श महिलाओं की तुलना कैसे कर सकती हैं? वहाँ स्त्री एक बार जिससे विवाह कर लेती है, कुछ समय पश्चात उसको तलाक देकर उससे अपरिचित सी बन जाती है लेकिन भारतीय महिला कितना भी दुःख सहकर पति को देवता समझकर उसकी सेवा करती है, क्या इस आदर्श की गरिमा पश्चिम की स्त्री प्राप्त कर सकती है?

महाभारत में पाराशर की एक कथा आती है। उन्होंने एक बार

एक धीवर की क्वारी कन्या मत्स्यगन्धा के साथ सहवास किया था और उस कँवारी कन्या के गर्भ से कृष्णद्वैपायन (वेदव्यास) जैसे महर्षि पैदा हुए थे, जिन्होंने हिन्दुओं के सबसे प्राचीन धर्म-ग्रन्थ वेद का व्यास किया है, क्या पाराशर का यह व्यवहार आज आदर्श व्यवहार कहा जायेगा ? उस समय इसे बुरा नहीं माना गया था। (यद्यपि कुन्ती का ऐसा ही आचरण अच्छा नहीं माना गया था।) आदर्श को यदि देश-काल से अलग करके देखा जाये तो कुछ भी नहीं है। वह तो परिस्थिति से सापेक्षता रखता हुआ उसी के अनुसार ही तो अपना विकास करता है।

आज के जीवन में इसी आदर्श और मर्यादा के कारण ही सारी विषमता है। जब तक व्यक्ति अपने ज्ञान का इतना विस्तार नहीं कर लेगा कि वह विभिन्न परिस्थितियों के बीच उठते विभिन्न रूपों और आदर्शों को पहचान न ले, वह इस जड़ता से कभी नहीं बच सकता। उसके मस्तिष्क में अवश्य ही इसके प्रभाव में एक गतिरोध सा रहेगा। आजकल जितने भी पुरातनवादी हैं, वे सभी यही कहकर तो पुकारते हैं कि प्राचीन काल का सा आदर्श जीवन अब नहीं रहा। सतयुग तो पूरी तरह सत्य और पुण्य का युग था जिसमें कभी मनुष्य के मस्तिष्क में पाप उठता ही नहीं था; लेकिन कलियुग में आते-आते वे सारे आदर्श नष्ट हो गये और अब सत्य के स्थान पर झूठ और फरेब ने चारा और अपना साया फैला रखा है। इस सारी उन्नति और अवनति की वास्तविकता बताने की दृष्टि से ही योन जीवन का वह प्राचीन रूप जानना चाहिए जब मनुष्य प्राय पशु अवस्था में रहता हुआ ही अपना जीवन बिताया करता था। अधिकतर आदर्शवादी और मर्यादावादी तो उस युग को स्वीकार ही नहीं करते। सम्भवतः इससे उनके हृदय को धक्का लगता है लेकिन सत्य किसी की इच्छा और अनिच्छा पर निर्भर नहीं रहता। सत्य समाज के सम्बन्धों में से जन्म लेता है और उसी की दार्शनिक व्याख्या की जाती है और उसे धार्मिक रूप दे दिया जाता है। प्राय संसार में यही परिपाटी चलती है। सौ वर्ष पहले ही मनुष्य को अपने उस प्राचीन स्वरूप का ज्ञान हुआ था जिसके बारे में वह कभी कल्पना भी नहीं कर सकता था। जब उसे यह ज्ञात हुआ कि एक समय वह भी अमावस्था में पशुओं की तरह इस पृथ्वी पर विचरण करता था तो उसके अहंकार को धक्का लगा। कोमल कल्पनाओं का महल खण्ड खण्ड होकर बिखर गया। अब वह कैसे कह दे कि उसके पूर्वज तो परम तपस्वी मनु थे ? विकास के सिद्धान्त ने शताब्दियों पूर्व से बने हुए भ्रम-जाल को तोड़ दिया और अब वैज्ञानिक दृष्टि से इतिहास का अध्ययन चला। पहले वंश-परम्परा से लोग

उन्हीं धार्मिक कहानियों को सुनते और उन पर विश्वास करते चले आये थे। तथ्यों के बारे में उन्होंने कभी तर्क उठाया ही नहीं था लेकिन उन्नीसवीं शताब्दी से तर्क उठने लगे। इस शताब्दी को ही विश्व-चेतना का पुनर्जागरण काल कहना चाहिए। डारविन ने बिखरे तथ्यों को इकट्ठा करके एक सिद्धान्त के रूप में प्रस्तुत किया। मौरगन जैसे विद्वान ने प्राचीन समाज के बारे में खोज बीन प्रारम्भ कर दी। अनेक विद्वानों ने जाकर विभिन्न स्थानों में रहने वाली प्राचीन जातियों के जीवन का अध्ययन भी किया है और उनके बीच पनपती विभिन्न प्रकार की प्रथाओं को देखा है। यौन सम्बन्धों के बारे में भी उन्होंने पता लगाया है और वहाँ भी उनके सामने अनेक प्रकार के रूप आये हैं, तब यह पूरी तरह सिद्ध हो चुका है कि प्राचीन काल में न तो आज का सा पातिव्रत का आदर्श था और न आज की सी पुरुष की सर्वोपरि सत्ता थी।

अपने प्रारम्भिक काल में मनुष्य प्रायः अधनंगा रहता था। पशुओं के समान उसका जीवन था। या तो वह पेड़ों पर रहता था या गुफायें बनाकर उनके अन्दर अपने आपको छिपाने का प्रयत्न करता था। उस समय वह अनेक हिंस्र पशुओं से डरता था इसलिए कभी अकेला नहीं रहता था। समूह में रहने की उसकी प्रवृत्ति का यही कारण था। वेद में भी इसकी ओर संकेत मिलता है। ऋषि ने लिखा है कि सृष्टि के प्रारम्भ में व्यक्ति अकेला था उस समय उसको भय हुआ और उसने अपनी सुरक्षा के लिये समाज बनाया। इस समूह में स्त्री और पुरुष दोनों ही रहते थे। उस समय आज की तरह स्त्री अपनी अधनंगी अवस्था पर लज्जित नहीं होती थी। प्रोफ़ेसर मैलिनोवस्की (P Malinowski) ने मेलेनेशिया (Melanesia) की प्राचीन जातियों का अध्ययन किया वहाँ स्त्रियाँ केवल अपनी योनि और नितम्बों को ही ढकती हैं, बाकी उनका सारा शरीर खुला रहता है। इसलिये उस प्राचीन अवस्था के बारे में यह सोचना तर्क विरुद्ध नहीं है कि स्त्रियाँ एक समय नग्न अवस्था में रहती थीं। यदि वे अपने शरीर को ढकती भी थीं तो किसी प्रकार के लज्जा के भाव के कारण नहीं ढकती थीं बल्कि सर्दी और बरसात से अपने शरीर को बचाने के लिए ही यह करती थीं। उसी प्रकार पुरुष करते थे। अधिकतर वे पशुओं का शिकार करके या कन्द मूल फल खाकर ही अपना जीवन निर्वाह करते थे। पशु को मारकर उसकी खाल उधेड़ कर उसको ओढ़ लिया करते थे या पेड़ों की छाल मिलाकर शरीर को ढक लेते थे। वे सीना पिरोना करना नहीं जानते थे। यहाँ तक कि कुछ काल तक तो उनको अग्नि भी प्राप्त नहीं हुई थी जिस पर वे कन्द और मूल आदि को पका कर खा सकें। बाद में जाकर

उन्हें एकायक पत्थरों की रगड़ से पदा हुई अग्नि का ज्ञान हुआ और तब से उनके जीवन में एक नया ही अध्याय प्रारम्भ हो गया।

स्त्री और पुरुष बराबर का परिश्रम करके ही उस समय अपना भोजन प्राप्त करते थे इसलिए आज की तरह यह प्रश्न नहीं उठता था कि चूंकि पति अपनी पत्नी का भरण पोषण करता है इसलिए वह भार्या कहलाती है और इसी कारण भार्या की एक मर्यादा है—पति उसके लिए देवता के समान है। उस समय दोनों स्त्री पुरुष अधिकतर स्वतन्त्र रहते थे। एक दूसरे की परतन्त्रता नहीं उठाता था। शिकार करके जो कुछ भी वे लाते थे या कन्दमूल फल आदि जो कुछ भी इकट्ठा करके लाते थे उसे मिल बाँटकर खा लेते थे। व्यक्ति की अलग कोई सम्पत्ति उस समय नहीं होती थी। उसके दो कारण हैं। एक तो व्यक्ति अपने आपको अकेले में इतना असहाय समझता था कि वह हिंस्र पशुओं से अपने जीवन की रक्षा नहीं कर सकता था और आवश्यक रूप से उसे समूह बनाकर रहना पड़ता था। दूसरे वह अधिक से अधिक परिश्रम करके भी केवल अपने भोजन के लिये ही पर्याप्त सामग्री जुटा पाता था। व्यक्तिगत सम्पत्ति के अधिकार के साथ ही तो परतन्त्रता शोषण अन्याय आदि की समस्याएं उठती हैं उस समय वह नहीं था, तभी उस युग को आदिम साम्यवादी युग कहा जाता है।

लेकिन यहाँ विचारणीय प्रश्न यह है कि उस अवस्था में जब मनुष्य बिलकुल पशुओं का सा जीवन बिताता था और व्यक्तिगत सम्पत्ति का अधिकार भी नहीं पैदा हुआ था तो भी क्या स्त्री और पुरुष के बीच सत्ता और अधिकार के लिये किसी प्रकार का संघर्ष नहीं था? क्या दोनों एक ही समान धरातल पर थे। अधिकतर इतिहासकार तो प्राचीनकाल में मातृसत्तात्मक समाज की बातें करते हैं जिसके अन्तर्गत माता का अधिकार बड़ा था। माता के रूप में स्त्री ही पुरुष की अपेक्षा ज्यादा अधिकार रखती थी। पुरुष उसको आज्ञा मानता था और उसकी महत्वपूर्ण सत्ता का उचित मान्यता देकर ही उस समय समाज के सारे नियम बने थे। सम्पत्ति के अधिकार भी माता को ही प्रमुखता देकर बनाये गये थे – तब क्या यह मानें कि स्त्री की पुरुष के ऊपर महत्ता प्राप्त करने की स्थिति आदिमकाल से आने की स्थिति है या उन्हीं परिस्थितियों के बीच यह पैदा हो गई थी।

स्त्री की प्रमुखता आदिमकाल में ही स्थापित हो गई थी। यद्यपि आर्थिक दृष्टि से दोनों के अधिकार प्रारम्भ में बराबर थे फिर भी कुछ अन्य ऐसे कारण थे जिनके कारण पुरुष ने स्त्री को अपने आपसे अधिक महत्ता दी। जैसे साधा-

एतएवता हम पशुओं के बीच देखते हैं कि मादा नर से शारीरिक शक्ति में कम होती है, इसीलिये नर हमेशा मादा पर शासन ही करता है। पशुओं के जीवन को निकट से देखकर यह पूरा विश्वास होता है कि अवश्य ही प्रकृति ने स्त्री को पुरुष की अपेक्षा शारीरिक दृष्टि से कमजोर बनाया और यदि यह नहीं भी मानें तो उसके साथ प्रसव आदि का सम्बन्ध होने के कारण वह सदा पुरुष से कमजोर ही होती है। फिर क्या कारण है कि पुरुष ने स्त्री को ही अपने आपसे अधिक महत्ता दी?

जर्मनी का दार्शनिक नीत्शे कहता था कि प्रकृति ने स्त्री को पुरुष की अपेक्षा सभी दृष्टियों में हीन बनाया है इसलिये समाज में आवश्यकता और पुत्र पैदा करने की है। जिस समाज में कन्याओं का जन्म अधिक होता है वह ह्रास शील समाज है। नीत्शे ने पशुओं और आजकल के स्त्री पुरुषों का जीवन देखकर ही अपना यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया था।

यह कहना कि नीत्शे और मनु समान थे एक प्रकार की भूल है। मनु ने स्त्री को पुरुष द्वारा रक्षित तो अवश्य बताया है परन्तु उसने स्त्री को घर में पूरा महत्त्व दे दिया है और स्त्री का दर्जा वहाँ इतना गिरा हुआ नहीं है, जितना नीत्शे में। नीत्शे में स्त्री केवल प्रजनन का साधन-मात्र है। यूनानियों अरबों, और तुर्कों में स्त्री का दर्जा काफी गिरा हुआ था। यह सत्य है कि मुहम्मद ने स्त्री का दर्जा अरब में काफी उठाने का प्रयत्न किया था, लेकिन वह वस्तुतः उठा नहीं। इस दृष्टि से पितृसत्ता के इतिहास में ही कई बार स्त्री के अधिकार बढ़े हैं और कई बार घटे हैं। यह समाज के वर्गीय सम्बन्धों पर निर्भर रहा है कि कब उसने अपने अधिकार खोये हैं कब पाये हैं। भारत में सामंतीय व्यवस्था के उदय के समय उसने कुछ आज़ादी पायी थी लेकिन सामंतीय व्यवस्था का ज्यों ज्यों ह्रास होता गया उसके अधिकार भी घटते गये। पूँजीवादी व्यवस्था के उदय ने भी स्त्री को तुलनात्मक रूप से अधिक अधिकार दिए हैं।

यद्यपि विकास के सिद्धान्त के आने पर यह मानना किसी तरह सत्यात्मक नहीं है, और न होना ही चाहिए, कि हमारे आदिम पूर्वज पशु के समान थे लेकिन फिर भी पशु और आदिम मनुष्य की चेतना में बहुत अन्तर था। पशु अवस्था से गुजरते हुए उस आदिम मनुष्य में विचार शक्ति थी जो पशुओं में अधिकतर होती ही नहीं और बन्दर जैसे जानवरों में होती भी है तो बहुत थोड़ी होती है। मनुष्य प्रारंभ से ही निरन्तर अपने आपको तथा अपने आस-पास की परिस्थितियों को समझने का प्रयत्न करता रहा है। जब स्त्री के गर्भ से सन्तान पैदा हुई थी तो उसे ही इतना अधिक कौतूहल हुआ था कि उसने इसके साथ

स्वीकार करके कि चूँकि बच्चा स्त्री के गर्भ से पैदा होता है इसलिये स्त्री ही उसे अपने रक्त और माँस से बनाती है और जब तक गर्भावस्था में वह रहता है तब तक अन्दर उसको पालती रहती है फिर बाहर अपना दूध पिलाकर उसको पालती है इसलिये बच्चे पर पूर्णतया उसी का ही अधिकार है। वही उसका निर्माण करती है। अन्दर और बाहर वही उसको खाना देकर उसका पालन-पोषण करती है इसलिये माता के रूप में यह स्त्री ही प्रमुख स्थान रखती है, क्योंकि पुरुष कभी यह कल्पना ही नहीं कर सकता था कि वह अपने शरीर से किसी दूसरे पुरुष को पैदा कर दे। स्त्री के साथ मानी इस अपूर्व शक्ति ने ही पुरुष को कौतूहल में डाल दिया।

पुरुष के इसी अज्ञान ने उसे स्त्री का आधिपत्य स्वीकार करने के लिये बाध्य कर दिया। यह मातृसत्तात्मक समाज की वह प्रारम्भिक स्थिति थी जब स्त्री और पुरुष जोड़ों के रूप में बँटकर नहीं रहते थे।

कुछ विद्वान इस मत का विरोध करते हैं। उनका विश्वास है कि स्त्री और पुरुष प्रारम्भ से जोड़ों के रूप में रहते थे सम्भोग भी इन दोनों तक ही सीमित था। कामाचार की स्थिति मनुष्य समाज में कभी नहीं आई थी। बाद में चलकर इसी जोड़े के सम्बन्ध को पातिव्रत और एक पत्निव्रत के रूप में मर्यादित कर दिया गया।

यह धारणा पूरी तरह निर्मूल है क्योंकि जिन पशु-पक्षियों के जीवन का अध्ययन करके और उनके साथ मनुष्य के जीवन की तुलना करके वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं उसी सम्बन्ध में एस्पिनास (Aspinas) ने लिखा है 'पशुओं के बीच झुण्ड सामाजिक प्रवृत्ति का उच्चतम रूप है, लेकिन यह भी देखा जाता है कि उस झुण्ड के बीच जोड़े के रूप में परिवार भी होते हैं। उन्हें देखकर यह निश्चित होता है कि परिवार बनाने की प्रवृत्ति का उदय होते ही परिवार और झुण्ड के बीच एक प्रकार का अन्तर्विरोध आ खड़ा हुआ क्योंकि झुण्ड बनाने की प्रवृत्ति और परिवार बनाने की प्रवृत्ति एक दूसरे की विरोधी प्रवृत्तियाँ हैं।'[1]

हिंस्र पशुओं के भय के कारण मनुष्य प्रारम्भ से समूह बनाकर रहता था। इस बात को सभी इतिहासकार मानते हैं। फिर यह कैसे विश्वास कर लिया जाय कि मनुष्य का प्रारम्भ से ही परिवारों के रूप में विकास हुआ और इसी प्रकार उसके यौन-सम्बन्ध रहे। इस तरह के प्रयास तो उन्हीं लोगों के होते हैं जो अपने पूर्वजों को इस कामाचार की स्थिति में देखकर लज्जित होते हैं और उस स्थिति पर पर्दा डालने के लिये इस तरह की तर्क-विरुद्ध बातें किया करते हैं।

1 Animal Societies by Aspinas

आदिम मनुष्य की चेतना इस प्रकार के पुण्य और पाप की धारणा से नहीं बँधी हुई था जिस प्रकार हमारी बँधी हुई है। उसके विश्वास ही दूसरे प्रकार के थे। उस समय मूल सम्भोग के साथ न तो किसी प्रकार लज्जा का भाव जुड़ा हुआ था और न उस प्रकार के सम्बन्धों को पाप माना जाता था। यौन-सम्बन्धों के साथ पाप-पुण्य की धारणाएं तो बाद में जुड़ी हैं। बाद में समाज में स्त्री पुरुष के सम्बन्धों को लेकर मर्यादा और नियम बने हैं। उसी समय से एक प्रकार की विषमता पैदा हो गई है। फ्रायड कहता है कि जिस समय से मनुष्य के यौन सम्बन्धों को किन्हीं सीमाओं के भीतर मर्यादित कर दिया गया और उनके साथ पाप-पुण्य की धारणायें लगायी गई उसी समय से समाज में पागलपन (Neurosis) की बीमारी चल पड़ी है। उससे पहले मनुष्य कभी पागल नहीं हुआ करते थे। फ्रायड के मतानुसार यौन-सम्बन्ध ही मनुष्य की मूलभूत चेतना के आधार हैं।

फ्रायड ने वास्तव में सेक्स को ही सबकुछ माना है। इससे यह अभाव स्पष्ट होता है कि फ्रायड भी मर्यादा और आदर्श के युग से पहले एक ऐसे युग की कल्पना करता है जब मनुष्य अपने यौन-सम्बन्धों में पूरी तरह स्वतन्त्र था। मौर्गन (Morgan) ने अमरीका की प्राचीन जातियों का अध्ययन करके यह पूरी तरह सिद्ध कर दिया है कि उस समय बहिन और भाई एक ही पुत्र या पुत्री के माता और पिता हो सकते थे। उनके आपस के विवाह को किसी तरह पाप नहीं समझा जाता था। इसी प्रकार अनेक स्थानों पर प्राप्त तथ्यों के आधार पर यह भी निष्कर्ष निकाला गया है कि उस प्राचीन स्थिति में पिता अपनी ही पुत्री के साथ विवाह करके पुत्र उत्पन्न कर लेता था।

पिता के रूप में पुरुष की पहचान तो बहुत बाद में हुई है। तब भी इस प्रकार की स्वतन्त्रता यौन-सम्बन्धों में थी तो उससे पहले का समय तो और भी अधिक स्वतन्त्रता का रहा होगा। भारतवर्ष जैसे देश में जहाँ मर्यादा और आदर्श की अधिक दुहाई दी जाती है, मनु की कहानी पढ़ते समय हम एक ऐसे मनुष्य के सम्पर्क में आते हैं जिसने अपनी पुत्री इला के साथ विवाह करके मनुष्य जाति को पैदा किया था। कुछ लोग इसे पौराणिक कल्पना ही मानेंगे लेकिन क्या इस पर विचार नहीं करना चाहिये कि यदि यह स्थिति नहीं रही होती तो क्या पुराणकार इसकी कल्पना कर पाता? फिर मर्यादा के भीतर बद्ध चेतना के रहते हुए भी इस प्रकार के सम्बन्धों की चर्चा तो वही कर सकता है जो उस स्थिति में मनुष्य के विश्वासों का दूसरा ही आधार ढूंढने की क्षमता रखता हो। भारतीय इतिहास का अध्ययन करते समय हम कितने ही प्रकार

के यौन-सम्बन्धों को देखते हैं, यदि सभी को एक ही आदर्श के ऊपर रखने की चेष्टा करें तो बड़े-बड़े महर्षियों को अनाचारी और दुष्ट कहना पड़ेगा। सबसे बड़ी बात तो समझने की यह है कि हम अपने आपको एक ही आदर्श के साथ बाँधकर इतना जड़ क्यों बना लें। एक सच्चे विद्यार्थी की तरह अनेक सम्बन्धों को अपनी-अपनी परिस्थितियों के अन्तर्गत रखकर क्यों नहीं देखें तब यह पाप पुण्य की संकुचित धारणा भी इस रूप में चेतना को कुंठित नहीं करेगी जैसे साधारण आदमी को करती है। आवश्यकता इस बात की है कि हम अपने ज्ञान का विस्तार करें और देखें कि इस सारी पाप-पुण्य की धारणा का आधार क्या है और किस प्रकार यह यौन-सम्बन्धों के साथ जुड़ गई।

उस मातृसत्तात्मक समाज की व्यवस्था और नियमावली के अन्तर्गत मनुष्य केवल अपनी माता या जननी को पहचानता था क्योंकि उसके गर्भ से पैदा होता था लेकिन पिता के बारे में यह निश्चित करना असम्भव था कि अमुक व्यक्ति ही अमुक सन्तान का पिता है क्योंकि एक स्त्री अनेक पुरुषों के साथ सम्भोग-सम्बन्ध स्थापित करती थी। बकोफिन (Bachofen) ने अपनी पुस्तक 'माता का अधिकार' (Mother Right) में इसी मत का प्रतिपादन किया है। बैकोफिन मौरगन से पहले उन विद्वानों में से है जिन्होंने पहले पहल इस प्रागैतिहासिक काल के यौन-सम्बन्धों की खोजबीन की थी। उसने इस स्थिति के सम्बन्ध में अपनी इन निष्कर्षों की स्थापना की है—

(१) अपने आदिकाल में मनुष्य-समाज में मुक्त सम्भोग चलता था। उस समय केवल स्त्री और पुरुष का ही भेद था। पिता माता भाई बहिन के रूप में सम्बन्धों की स्थापना नहीं हुई थी। यह स्त्री पुरुष के बीच चलते द्वन्द्व का प्रारम्भिक रूप था।

(२) इस स्थिति में केवल माता का ही ज्ञान हो सकता था क्योंकि उसके गर्भ से बालक जन्म लेता था। पिता के सम्बन्ध में कोई नहीं जानता था। यहीं से माता का प्रमुख अधिकार मान्य हो जाता है। पुरुष उस समय पिता के रूप में नहीं जाने जाते थे। सबसे पहले पुरुष को अपनी माता का ही ज्ञान हुआ इसलिये उसने अद्वितीय शक्ति वाली माता के अधिकारों को अपने आपसे ऊपर रखा।

(३) माता के रूप में स्त्री की इस प्रमुखता ने ही चारों तरफ प्राचीन जातियों के बीच मातृ सत्ता की स्थापना की।

मनुष्य समाज में माता की मान्यता का यह एक मुख्य कारण था। यद्यपि स्त्री शारीरिक बल में पुरुष से कमजोर होती है, लेकिन फिर भी पुरुष ने उसको

प्रमुखता थी, इसका यही कारण है। यह तो मानना ही पड़ेगा कि मनुष्य विचारशील प्राणी है। जब से मनुष्य रूप में उसका विकास इस पृथ्वी पर हुआ है तभी से उसने अपने आपको तथा अपने चारों ओर की प्रकृति को समझने की चेष्टा की है। जन्म और मृत्यु के सिद्धान्त भी उसने अपनी उस आदिम चेतना के आधार पर बनाये हैं। बादल गरजना, बिजली चमकना वर्षा होना आदि प्रकृति की सारी क्रियाएँ उसे कौतूहल में डालती रही हैं और उसने उन सबको समझने की चेष्टा की है। सभी के सम्बन्ध में उसकी विचित्र प्रकार की धारणाएं हैं। पशु और मनुष्य में यही अन्तर है। इसी विचारशीलता के कारण उसने स्त्री से अधिक शक्तिशाली होने पर भी उसके अधिकार को प्रमुखता दी। वह बहुत दिनों तक यह नहीं समझ पाया कि स्त्री के गर्भ से जो बच्चा पैदा होता है, उसमें उसका भी कोई भाग होता है। बच्चा पैदा होने के सम्बन्ध में उसकी तो कुछ विचित्र प्रकार की ही धारणा थी।

मैलिनोवस्की ने उत्तरी पश्चिमी मैलेनेशिया की आदिम जातियों का अध्ययन किया है। जब उसने वहाँ के लोगों से पूछा कि स्त्री के गर्भ से जो बच्चा पैदा होता है, उसके बारे में उनका क्या विश्वास है तो उन्होंने बताया कि माता ही अपने रक्त और माँस से बच्चे को गढ़ती है। उस समय वैदिक काल की तरह पुरुष पूरी तरह जागरूक होकर यह नहीं कहता था कि हे पुत्र! तेरा शरीर मेरे शरीर में से ही पैदा हुआ है। तेरी आत्मा मेरी आत्मा में से उत्पन्न हुई है। तेरा रक्त और माँस मेरा रक्त और माँस ही है। उनका विश्वास तो ठीक इसके विपरीत था। वे तो माता को ही इस दृष्टि से देखते थे।

हजारों वर्षों तक यही धारणा प्रचलित रही और फिर इसके साथ याद रहना चाहिए कि यह मातृ अधिकार मनुष्य के उस मुक्त सम्भोग के समय से लेकर उस समय तक चला जबकि जोड़ों के रूप में परिवार की स्थापना हो चुकी थी। मैलिनोवस्की ने ट्रौब्रियाण्ड जाति के बीच इसी प्रकार के परिवारों को पाया। वहाँ पुरुष और स्त्री पति पत्नी के रूप में रहते हैं लेकिन फिर भी पिता की अपेक्षा माता का अधिकार अधिक है। कुछ विद्वान यह सोचते हैं कि जिस समय एक पुरुष एक स्त्री का पति बन गया और समूह टूट कर परिवारों के रूप में विभक्त हो गया उसी समय से पितृसत्ता का उदय हुआ और मातृसत्ता पूरी तरह समाप्त हो गई लेकिन यह धारणा गलत है। ट्रौब्रियाण्ड (Trobriands) जाति के बीच इस प्रकार के पारिवारिक सम्बन्ध होने पर भी मातृसत्ता की ही मान्यता है। मूल रूप में इसका भी यही कारण है। पहली स्थिति से अब की स्थिति में केवल यह अन्तर अवश्य हो गया कि स्त्री के गर्भ

 होते ही एक ऐसे पुरुष को देखता है जो उसकी माता का पति

होता है लेकिन वह उसे पिता कभी नहीं मानता है। यही स्त्री की अभी भी प्रमुख सत्ता रहने का मूल कारण है। बच्चा हमेशा उस पुरुष को अपनी माता का पति समझता है अपना पिता नहीं और इसका मुख्य कारण यही है कि अभी तक उस समाज के पुरुषों को यह मालूम नहीं है कि उनका भी सन्तानोत्पत्ति में कुछ भाग है। वे तो यही जानते हैं कि जब तक बच्चा स्त्री के पेट में भीतर रहता है तब तक वह उसको अपने खाने से पालती है और जब बाहर निकल आता है तब अपने शरीर से निकला दूध पिला कर पालती है, इस तरह वह अपने ही खून से बच्चा का निर्माण करती है। भाई और बहिन एक ही मांस और रक्त के बने होते हैं क्योंकि वे एक ही माता के गर्भ से जन्म लेते हैं, फिर सन्तानोत्पत्ति के सम्बन्ध में वे कुछ देवी शक्तियों की भी कल्पना करते हैं और उस पर पूरी तरह विश्वास करते अपने आपको तो केवल स्त्री के साथ सम्भोग करके आनन्द प्राप्त करने वाले के सिवाय और अधिक कुछ भी नहीं समझते।

मैलिनोवस्की ने अपनी पुस्तक प्राचीन जंगली जातियों का यौन-जीवन (The Sexual life of Savages) में ट्रौब्रियान्ड के इन्हीं देवी विश्वास के बारे में लिखा है। यह ट्रौब्रियान्ड लोग अभी तक असभ्य माने जाते हैं। शरीर के विभिन्न अंगों तथा उनकी प्रक्रिया के बारे में उनके क्या विश्वास थे और फिर देवी शक्तियों से वे अपने जीवन का सम्बन्ध किस प्रकार जोड़ते थे बाद में चलकर यही विश्वास किस तरह पुनर्जन्म के रूप में परिष्कृत हो गया। फिर पहले उस समाज के विश्वास हैं जो अपनी आदिम अवस्था से काफी आगे बढ़ आई हैं, उस प्रारम्भिक काल के मनुष्यों के कैसे विचित्र विश्वास रहे होंगे।

शरीर-विज्ञान के सम्बन्ध में उन आदिम जातियों की इतनी सूक्ष्म जानकारी नहीं है लेकिन फिर भी मुख्य अंगों को वे जानते हैं। आज तो डॉक्टरों ने मनुष्य तथा अन्य जीवों के शरीर की पूरी चीड़-फाड़ करके प्रत्येक अवयव के बारे में पूरी जानकारी प्राप्त कर ली है लेकिन इन जातियों के अपने वे ही पुराने विश्वास हैं।

वे स्त्री और पुरुष के निम्नलिखित अंगों को जानते हैं—योनि, जिसके लिए वे वीला (wila) शब्द का प्रयोग करते हैं, लिङ्ग जिसको वे क्वीला (Kwila) कहते हैं, अण्डकोश, जिन्हें वे पुवाला (Puwala) कहते हैं और लिङ्गाकार योनि के अन्दर का भाग जिसे वे कैसेसा (Kasesa) कहते हैं। लिङ्ग के आगे के भाग को वे मातला क्वीला (Matala Kwila) कहते हैं और जिस खाल की पतली

प्रभुसत्ता थी, इसका यही कारण है। यह तो मानना ही पड़ेगा कि मनुष्य विचारशील प्राणी है। जब से मनुष्य रूप में उसका विकास इस पृथ्वी पर हुआ है तभी से उसने अपने आपको तथा अपने चारों ओर की प्रकृति को समझने की चेष्टा की है। जन्म और मृत्यु के सिद्धान्त भी उसने अपनी उस आदिम चेतना के आधार पर बनाये हैं। बादल गरजना बिजली चमकना, वर्षा होना आदि प्रकृति की सारी क्रियाएँ उसे कौतूहल में डालती रही हैं और उसने इन सबको समझने की चेष्टा की है। सभी के सम्बन्ध में उसकी विचित्र प्रकार की धारणाएं हैं। पशु और मनुष्य में यही अन्तर है। इसी विचारशीलता के कारण उसने स्त्री से अधिक शक्तिशाली होने पर भी उसके अधिकार को प्रभुसत्ता दी। वह बहुत दिनों तक यह नहीं समझ पाया कि स्त्री के गर्भ से जो बच्चा पैदा होता है, उसमें उसका भी कोई भाग होता है। बच्चा पैदा होने के सम्बन्ध में उसकी तो कुछ विचित्र प्रकार की ही धारणा थी।

मैलिनोवस्की ने उत्तरी पश्चिमी मेलेनेशिया की आदिम जातियों का अध्ययन किया है। जब उसने वहाँ के लोगों से पूछा कि स्त्री के गर्भ से जो बच्चा पैदा होता है, उसके बारे में उनका क्या विश्वास है तो उन्होंने बताया कि माता ही अपने रक्त और माँस से बच्चे को गढ़ती है। उस समय वैदिक काल की तरह पुरुष पूरी तरह आश्वस्त होकर यह नहीं कहता था कि हे पुत्र! तेरा शरीर मेरे शरीर में से ही पैदा हुआ है। तेरी आत्मा मेरी आत्मा में से उत्पन्न हुई है। तेरा रक्त और माँस मेरा रक्त और माँस ही है। उनका विश्वास तो ठीक इसके विपरीत था। वे तो माता को ही इस दृष्टि से देखते थे।

हजारों वर्षों तक यही धारणा प्रचलित रही और फिर इसके साथ याद रखना चाहिए कि यह मातृ अधिकार मनुष्य के उस मुक्त सम्भोग के समय से लेकर उस समय तक चला जबकि जोड़ों के रूप में परिवार की स्थापना हो चुकी थी। मैलिनोवस्की ने ट्रोब्रियान्ड जाति के बीच इसी प्रकार के परिवारों को पाया। वहाँ पुरुष और स्त्री पति पत्नी के रूप में रहते हैं लेकिन फिर भी पिता की अपेक्षा माता का अधिकार अधिक है। कुछ विद्वान यह सोचते हैं कि जिस समय एक पुरुष एक स्त्री का पति बन गया और समूह टूट कर परिवारों के रूप में विभक्त हो गया उसी समय से पितृसत्ता का उदय हुआ और मातृसत्ता पूरी तरह समाप्त हो गई लेकिन यह धारणा गलत है। ट्रोब्रियान्ड (Trobriands) जाति के बीच इस प्रकार के पारिवारिक सम्बन्ध होने पर भी मातृसत्ता की ही मान्यता है। मूल रूप में इसका भी यही कारण है। पहली स्थिति से अब की स्थिति में केवल यह अन्तर अवश्य हो गया कि स्त्री के गर्भ से बालक पैदा होते ही एक ऐसे पुरुष को देखता है जो उसकी माता का पति

होता है लेकिन वह उसे पिता कभी नहीं मानता है। यही स्त्री की प्रभी भी प्रमुख सत्ता रहने का मूल कारण है। बच्चा हमेशा उस पुरुष को अपनी माता का पति समझता है अपना पिता नहीं और इसका मुख्य कारण यही है कि अभी तक उस समाज के पुरुषों को यह मालूम नहीं है कि उनका भी सन्तानोत्पत्ति में कुछ भाग है। वे तो यही जानते हैं कि जब तक बच्चा स्त्री के पेट में भीतर रहता है, तब तक वह उसको अपने खाने से पालती है और जब बाहर निकल आता है तब अपने शरीर से निकला दूध पिला कर पालती है, इस तरह वह अपने ही खून से बच्चा का निर्माण करती है। भाई और बहिन एक ही माँस और रक्त के बने होते हैं क्योंकि वे एक ही माता के गर्भ से जन्म लेते हैं, फिर सन्तानोत्पत्ति के सम्बन्ध में वे कुछ दैवी शक्तियों की भी कल्पना करते हैं और उस पर पूरी तरह विश्वास करके अपने आपको तो केवल स्त्री के साथ सम्भोग करके आनन्द प्राप्त करने वाले के सिवाय और अधिक कुछ भी नहीं समझते।

मैलिनोवस्की ने अपनी पुस्तक 'प्राचीन जंगली जातियों का यौन-जीवन (The Sexual life of Savages) में ट्रौबियान्ड के इन्हीं दैवी विश्वास के बारे में लिखा है। यह ट्रौबियान्ड लोग अभी तक असभ्य माने जाते हैं। शरीर के विभिन्न धर्मों तथा उनकी प्रक्रिया के बारे में उनके क्या विश्वास थे और फिर उन्हीं शक्तियों से वे अपने जीवन का सम्बन्ध किस प्रकार जोड़ते थे बाद में चलकर यही विश्वास किस तरह पुनर्जन्म के रूप में परिणत हो गया। फिर पहले इस समाज के विश्वास हैं जो अपनी आदिम अवस्था से काफी आगे बढ़ आई हैं, उस प्रारम्भिक काल के मनुष्यों के कैसे विचित्र विश्वास रहे होंगे।

शरीर-विज्ञान के सम्बन्ध में इन आदिम जातियों को इतनी सूक्ष्म जानकारी नहीं है लेकिन फिर भी मुख्य अंगों को वे जानते हैं। आज तो डॉक्टरों ने मनुष्य तथा अन्य जीवों के शरीर की पूरी चीड़-फाड़ करके प्रत्येक अवयव के बारे में पूरी जानकारी प्राप्त कर ली है लेकिन इन जातियों न अपने वे ही पुराने विश्वास हैं।

वे स्त्री और पुरुष के निम्नलिखित अंगों को जानते हैं—योनि जिसके लिए वे वीला (wila) शब्द का प्रयोग करते हैं, लिङ्ग जिसको वे क्वीला (Kwila) कहते हैं अण्डकोष जिन्हें वे पुवाला(Puwala)कहते हैं और भिङ्गाकार योनि के अन्दर का भाग जिसे वे कँसेसा (Kasesa) कहते हैं। लिङ्ग के आगे के भाग को वे मातला क्वीला (Matala Kwila) कहते हैं और लिङ्ग खाल की पतली

परत से बह बना रहता है, उसे वे कैनिविनेला क्वीला (Kanivinela Kwila) कहते हैं। स्त्री के भन्दर के भङ्गों को वे बाम (Bam) के नाम से पुकारते हैं जिनमें गर्भाशय और नाल सम्मिलित हैं। भन्दर की थैलियों (Ovaries) के लिए उनके पास कोई शब्द नहीं है।

उनका विश्वास है कि स्त्री और पुरुष की गुह्येन्द्रियाँ केवल दो कामों के लिए हैं। एक तो दोनों का सम्भोग का आनन्द प्रदान करने के लिए और दूसरे मूत्र आदि को शरीर से बाहर निकालने के लिए। मूत्र का सम्बन्ध वे गुर्दों (Kidneys) से साथ नहीं जोड़ते हैं। उनका तो विश्वास है कि पेट से सीधी एक नली मूत्र की बंसी के भीतर उतरती है और वहाँ से आगे वही मूत्र को इन्द्रियों तक पहुँचाकर बाहर निकालने का काम करती है। तो सोचते हैं कि जो पानी हम पीते हैं वही उस नली के द्वारा बहकर बाहर निकल जाता है। यह रास्ता पार करने में ही उस पानी का रंग बदल जाता है।

कामोत्तेजना पैदा होने के सम्बन्ध में उनका विश्वास बहुत कुछ आधुनिक मनोवैज्ञानिक विश्वास से मिलता जुलता है। वे आँखों को कामेच्छा जागृत करने का स्थान मानते हैं। काम-वासना इन्हीं आँखों से ही प्रारम्भ होती है। पहले हम किसी सुन्दर स्त्री को देखकर उसके साथ सहवास करने की इच्छा करते हैं। हमारी यह इच्छा वोटूना' (wotuna) एक प्रकार की शिरा द्वारा मस्तिष्क में पहुँचती है और फिर वहाँ से यह सारे शरीर में फैल जाती है। हाथ पाँव आदि सभी पर इसका असर हो जाता है। अन्त में यह गुर्दों में केन्द्रीभूत हो जाती है। इन गुर्दों को कुछ नसें लिङ्ग से मिलाती हैं। जब यह काम-वासना लिङ्ग तक पहुँच जाती है तो उसको उत्तेजना मिलती है। इस तरह आँखों से लेकर लिङ्ग तक यह कामोत्तेजना कुछ ही क्षणों में अपना प्रसार कर लेती है। इस दृष्टि से वे आदिम लोग आँखों को ही कामवासना पैदा करने का प्रमुख स्थान मानते हैं क्योंकि वे कहते हैं कि यदि कोई आदमी आँखें बन्द करके खड़ा हो जाये तो उसके भीतर किसी प्रकार की कामोत्तेजना पैदा नहीं हो सकती। लेकिन इस विश्वास का वे यह कहकर खण्डन भी कर देते हैं कि अँधेरे में जब आँखें अपना काम नहीं कर पातीं तब भी कभी कभी कामोत्तेजना जागृत हो जाती है। स्त्रियाँ जब अँधेरे में अपने वस्त्र के पेटीकोट (Petticoat) उतारती हैं तो उनके अन्दर सहवास की इच्छा सहसा ही जाग उठती है। इस तरह आँखों के अलावा वे मस्तिष्क की उस चेतना की भी कल्पना कर लेते हैं जो आँखों की अपेक्षा न करती हुई पूर्वानुभवों की याद पर निर्भर रहकर अँधेरे में भी सबकुछ देखती रहती है।

इसे देखने पर यही प्रतीत होता है कि आदिम जाति के लोग आँख गुर्दे और गुप्तेन्द्रियों को एक ही नाम से सम्बन्धित समझते हैं। आँखों से कामवासना जाग्रत होती है, नसों के द्वारा वह मस्तिष्क में पहुँचती है फिर गुर्दों में जाकर केन्द्रीभूत होती है और वहाँ से उसी नसों द्वारा इन्द्रियों तक पहुँचती है। इन्द्रियों को उससे उत्तेजना मिलती है और तब स्खलन प्रारम्भ होता है। स्त्री और पुरुष के स्खलन रज और वीर्य को वे मोमोला (Momola) के नाम से पुकारते हैं। वीर्य का स्थान वे गुर्दों को ही मानते हैं। पुरुष के वीर्य और स्त्री के रज के साथ वे किसी प्रकार का प्रजनन-क्रिया का सम्बन्ध नहीं जोड़ते। उनका तो सीधा-सादा यही विश्वास है कि इस स्खलन से आनन्द मिलता है, बस इसके सिवा इसका कोई प्रयोजन नहीं है।

आदिमवासी इन सारे अङ्गों को मिलाकर इनके सामूहिक रूप की तुलना पेड़ से करते हैं। जिस प्रकार पेड़ की जड़ तना और चोटी का हिस्सा होता है उसी प्रकार मनुष्य के शरीर में इन्द्रियाँ, गुर्दे और चोटी-स्वरूप आँखें होती हैं।

आदिमवासी गुर्दों को बहुत ही महत्त्वपूर्ण स्थान देते हैं, क्योंकि उन्हें ही वे शरीर की सारी शक्ति का केन्द्र मानते हैं। उन्हीं के भीतर वे वीर्य की स्थिति मानते हैं। अण्डकोषों के सम्बन्ध में तो वे केवल इतना ही जानते हैं कि प्रकृति ने इन्हें तो इसलिए शरीर में स्थित किया है, जिससे इनके साथ मिलकर लिंग का आकार सुन्दर और सुडौल मालूम हो। जब उनसे यह कहा गया कि बीज इन्हीं अण्डकोषों के भीतर स्थित रहता है तो वे सिर हिलाते हुए कहने लगे कि यह कभी नहीं हो सकता क्योंकि स्त्री के अण्डकोष न होने पर भी उसकी योनि से स्खलन होता है, इससे यह स्पष्ट रूप से सिद्ध होता है कि बीज अंडकोषों में स्थित न रहकर गुर्दों के अन्दर स्थित रहता है। आदिमवासी वीर्य और रज में कोई विशेष अन्तर नहीं समझते हैं।

स्नेह और प्रेम को वे आँतों में स्थित मानते हैं। पेट की त्वचा और हाथों के साथ प्रेम की भावना का सम्बन्ध जोड़ना उनकी तत्काल अनुभूति के ऊपर ही निर्भर है। इस सम्बन्ध में आँखों को वे पीछे गिनते हैं। वे कहते हैं कि हम उन्हीं लोगों की ओर देखने की इच्छा करते हैं, जिनको हम चाहते हैं—जैसे मित्र माता-पिता बन्धु आदि और जब हमारी प्रेम और स्नेह की भावना तीव्र हो जाती है तब हम उनको बाँहों में बाँधकर पेट से चिपकाने का प्रयत्न करते हैं। उनके विश्वास का यही आधार है।

मासिक-धर्म के साथ स्त्री की योनि से बहते हुए रक्त का सम्बन्ध वे प्रजनन के साथ लगाते तो हैं, लेकिन [illegible] रूप में ही

परत है यह बना रहता है, उसे वे कोनिविनेला क्वीला (Kanlvinela Kwila) कहते हैं। स्त्री के अन्दर के अङ्गों को वे बाम (Bam) के नाम से पुकारते हैं जिसमें गर्भाशय और नाल सम्मिलित है। अन्दर की थैलियों (Ovaries) के लिए उनके पास कोई शब्द नहीं है।

उनका विश्वास है कि स्त्री और पुरुष की गुह्येन्द्रियाँ केवल दो कार्यों के लिए हैं। एक तो दोनों को सम्भोग का आनन्द प्रदान करने के लिए और दूसरे मूत्र आदि को शरीर से बाहर निकालने के लिए। मूत्र का सम्बन्ध वे गुर्दों (Kidneys) के साथ नहीं जोड़ते हैं। उनका तो विश्वास है कि पेट से सीधी एक नली मूत्र की थैली के भीतर उतरती है और वहाँ से आगे वही मूत्र को इन्द्रियों तक पहुँचाकर बाहर निकालने का काम करती है। तो सोचते हैं कि जो पानी हम पीते हैं वही उस नली के द्वारा बहकर बाहर निकल जाता है। यह रास्ता पार करने में ही उस पानी का रंग बदल जाता है।

कामोत्तेजना पैदा होने के सम्बन्ध में उनका विश्वास बहुत कुछ आधुनिक मनोवैज्ञानिक विश्वास से मिलता जुलता है। वे आँखों को कामेच्छा जाग्रत करने का स्थान मानते हैं। काम-वासना इन्हीं आँखों से ही प्रारम्भ होती है। पहले हम किसी सुन्दर स्त्री को देखकर उसके साथ सहवास करने की इच्छा करते हैं। हमारी यह इच्छा 'वोटूमा' (wotuma) एक प्रकार की शिरा द्वारा मस्तिष्क में पहुँचती है और फिर वहाँ से यह सारे शरीर में फैल जाती है। हाथ पाँव आदि सभी पर इसका असर आ जाता है। अन्त में यह गुर्दों में केन्द्रीभूत हो जाती है। इन गुर्दों को कुछ नालें लिङ्ग से मिलाती हैं। जब यह काम-वासना लिङ्ग तक पहुँच जाती है तो उसको उत्तेजना मिलती है। इस तरह आँखों से लेकर लिङ्ग तक यह कामोत्तेजना कुछ ही सणों में अपना प्रचार कर लेती है। इस दृष्टि से वे आदिम लोग आँखों को ही कामवासना पैदा करने का प्रमुख स्थान मानते हैं, क्योंकि वे कहते हैं कि यदि कोई आदमी आँखें बन्द करके खड़ा हो जाये तो उसके भीतर किसी प्रकार की कामोत्तेजना पैदा नहीं हो सकती। लेकिन इस विश्वास का वे यह कहकर खण्डन भी कर देते हैं कि अँधेरे में जब आँखें अपना काम नहीं कर पातीं तब भी कभी कभी कामोत्तेजना जाग्रत हो जाती है। स्त्रियाँ जब अँधेरे में अपने पास के पेटीकोट (Petticoat) उतारती हैं तो उनके अन्दर सहवास की इच्छा सहसा ही जाग उठती है। इस तरह आँखों के अभाव में मस्तिष्क की उस चेतना की भी कल्पना कर लेते हैं जो आँखों की अपेक्षा न करती हुई पूर्वानुभवों की याद पर निर्भर रहकर अँधेरे में भी सबकुछ देखती रहती है।

इसे देखने पर यही प्रतीत होता है कि आदिम जाति के लोग आँख गुर्दे और कुछ स्त्रियों को एक ही नाम से सम्बन्धित समझते हैं। आँखों से कामवासना जाग्रत होती है नली के द्वारा वह मस्तिष्क में पहुँचती है फिर गुर्दों में जाकर केन्द्रीभूत होती है और वहाँ से उसी नली द्वारा इन्द्रियों तक पहुँचती है। इन्द्रियों को उससे उत्तेजना मिलती है और तब स्खलन प्रारम्भ होता है। स्त्री और पुरुष के स्खलन रज और वीर्य को वे मोमोला (Momola) के नाम से पुकारते हैं। वीर्य का स्थान वे गुर्दों को ही मानते हैं। पुरुष के वीर्य और स्त्री के रज के साथ वे किसी प्रकार का प्रजनन-क्रिया का सम्बन्ध नहीं जोड़ते। उनका तो सीधा-सादा यही विश्वास है कि इस स्खलन से आनन्द मिलता है, बस इसके सिवा इसका कोई प्रयोजन नहीं है।

आदिमवासी इन सारे अङ्गों को मिलाकर इनके सामूहिक रूप की तुलना पेड़ से करते हैं। जिस प्रकार पेड़ की जड़ तना और चोटी का हिस्सा होता है उसी प्रकार मनुष्य के शरीर में इन्द्रियां, गुर्दे और चोटी-स्वरूप आँखें होती हैं।

आदिमवासी गुर्दों को बहुत ही महत्त्वपूर्ण स्थान देते हैं, क्योंकि उन्हें ही वे शरीर की सारी शक्ति का केन्द्र मानते हैं। उन्हीं के भीतर वे वीर्य की स्थिति मानते हैं। अण्डकोषों के सम्बन्ध में तो वे केवल इतना ही जानते हैं कि प्रकृति ने इन्हें तो इसलिए शरीर में स्थित किया है, जिससे इनके साथ मिलकर लिंग का आकार सुन्दर और सुडौल मालूम हो। जब उनसे यह कहा गया कि वीर्य इन्हीं अण्डकोषों के भीतर स्थित रहता है तो वे सिर हिलाते हुए कहने लगे कि यह कभी नहीं हो सकता क्योंकि स्त्री के अण्डकोष न होने पर भी उसको योनि से स्खलन होता है, इससे यह स्पष्ट रूप से सिद्ध होता है कि वीर्य अंडकोषों में स्थित न रहकर गुर्दों के अन्दर स्थित रहता है। आदिमवासी वीर्य और रज में कोई विशेष अन्तर नहीं समझते हैं।

स्नेह और प्रेम को वे आँतों में स्थित मानते हैं। पेट की त्वचा और हाथों के साथ प्रेम की भावना का सम्बन्ध जोड़ना उनकी तत्काल अनुभूति के ऊपर ही निर्भर है। इस सम्बन्ध में हाथों को वे पीछे गिनते हैं। वे कहते हैं कि हम उन्हीं लोगों की ओर देखने की इच्छा करते हैं, जिनको हम चाहते हैं—जैसे मित्र माता-पिता बन्धु आदि, और जब हमारी प्रेम और स्नेह की भावना तीव्र हो जाती है तब हम उनको बाँहों में बाँधकर पेट से चिपकाने का प्रयत्न करते हैं। उनके विश्वास का यही आधार है।

मान्त्रिक-धर्म के साथ स्त्री की योनि में बहते हुए रक्त का सम्बन्ध वे प्रजनन के साथ लगाते तो हैं, लेकिन कुछ सन्देहास्पद रूप में ही

रपाते हैं। निश्चित रूप से वे नहीं जानते कि जब यह बहते-बहते बन्द हो जाता
[और फिर प्रतिमास नहीं बहता तो स्त्री को गर्भवती मानना चाहिए। फिर
ी कुछ आदिमवासियों की तरह ट्रौब्रियान्ड इस रक्त को इतना नहीं मानते कि
ा स्त्री को उससे जंगल में जाकर रहने के लिए बाध्य करें। कुछ आदिमवासी
ास समय स्त्री को बहुत दूर रखते हैं लेकिन वे लोग उसके पास ही एक
ोंपड़ी में रहते हैं। वे उस समय स्त्री के साथ सम्भोग नहीं करते।

आदिमवासी शरीर के विभिन्न अंगों के बारे में इतना जानते हुए भी
इतना कम जानते हैं। उनके बीच शरीर विज्ञान की वह जानकारी नहीं है जो
ाज हमारे बीच है, फिर इसमें सबसे विशेष बात यह है कि वे वीर्य और रक्त
ादि सब के बारे में जानते हुए यह नहीं जानते कि इनके मिलने से स्त्री गर्भ
ती होती है। जैसे आज के डाक्टर जानते हैं कि स्पर्म और ओवम' के मिलने
गर्भ स्थित होता है, उस तरह यदि ये आदिमवासी इतना भी जान जाते
क बच्चे पैदा करने में पुरुष का भी कुछ हाथ है तो शायद मातृसत्ता इतने
ालों तक कभी स्थित नहीं रह पाती, क्योंकि जिस आर्थिक स्थिति पर स्त्री का
धिकार टिका हुआ था, वह कभी की इन ट्रौब्रियान्ड लोगों के बीच खत्म हो
ुकी है, अब तो परम्परा के रूप में माता का अधिकार चल रहा है। उत्तरा
धकार के नियम भी माता को ही प्रमुखता देकर बनाये गये हैं। मातृसत्तात्मक
माज किन आर्थिक परिस्थितियों के बीच पैदा हुआ था और आगे विकासक्रम
स तरह चला जिसने पितृसत्ता को जन्म दिया, इसके सम्बन्ध में विचार
रना आवश्यक है।

पुरुष और स्त्री के द्वन्द्व को आर्थिक परिस्थितियों ने बहुत प्रभावित किया
। उनको पूरी तरह समझे बिना इस द्वन्द्व के विकास को समझना
सम्भव है।

आदिमवासी जन्म के सम्बन्ध में किस प्रकार की धारणायें रखते थे और
स तरह वे प्रत्येक बात में जिसको वे पूरी तरह समझ नहीं पाते थे दैवी
क्तियों का सम्बन्ध जोड़ते थे।

मैलेनेशिया के आदिमवासी जन्म का सम्बन्ध मृत्यु से जोड़ते हैं। वे आत्मा
समान ही एक तत्व में विश्वास करते हैं जो मृत्यु के साथ ही मनुष्य के शरीर
निकल जाता है। यह तत्व ही फिर शरीर धारण करके मनुष्य-रूप में इस
ी पर जन्म लेता है।

जब मनुष्य मर जाता है तो यह आत्मा ट्यूमा (Tuma) नामक स्थान

पर जाती है। उस स्थान पर मरने के पश्चात् सभी मनुष्यों की आत्माएं पहुँचती हैं। वहाँ यह आत्मा अत्यधिक आनन्दपूर्ण जीवन व्यतीत करती है। यह आनन्द पृथ्वी पर प्राप्त आनन्द से कई गुना अधिक होता है। आत्मा को आदिमवासी बेलोमा (Baloma) कहते हैं। ज्योंही यह बेलोमा यह देखता है कि उसके शरीर पर बाल पक रहे हैं, झुर्रियाँ पड़ने लगी हैं, उसी समय यह अपना यह जीर्णरूप उतार कर नया रूप धारण कर लेता है। फिर यह चिकना बिना रुए वाला शरीर प्राप्त कर लेता है। उसके बाल काले हो जाते हैं। इस तरह आनन्दपूर्ण जीवन बिताकर जब फिर यह अपनी जीर्णावस्था में आता है तो फिर उसी प्रकार परिवर्तन कर डालता है। इस तरह बेलोमा ट्यूमा (Baloma Tuma)नामक लोक में सदा अपने सुस्थिर और स्वस्थ रूप में रहता है। वृद्धावस्था की दारुण व्यथा उसको कभी नहीं सताती। जीवन यौवन के खुमार की तरह बीतता जाता है। पृथ्वी पर इस प्रकार आनन्दपूर्ण जीवन सम्भव नहीं होता क्योंकि यहाँ तो यौवनावस्था बीत जाने पर वृद्धावस्था के दुःख आकर मन को व्यथित करते हैं, लेकिन ट्यूमा में चित्त सदैव प्रसन्न रहता है।

फिर जब बेलोमा इस तरह जीवन परिवर्तन करता हुआ बहुत दिनों तक ट्यूमा में रह लता है तो उससे ऊबकर पृथ्वी पर आने की इच्छा करता है। तब वह शिशु के रूप में स्त्री के गर्भ से पैदा होता है।

आदिमवासी पृथ्वी लोक के समान ही ट्यूमा को एक दूसरा लोक समझते हैं। वहाँ जीवन की गतिविधि प्राय पृथ्वी के समान ही चलती है, लेकिन एक विशेष अन्तर होता है। आदिमवासी ट्यूमा में सदा यौवनावस्था और आनन्द की कल्पना करते हैं। वहाँ किसी प्रकार का दुःख होता ही नहीं। हिन्दुओं के बीच स्वर्ग की कल्पना ठीक ऐसी ही होती है। स्वर्ग में मनुष्य सदा युवक रह कर जीवन का आनन्द भोगता है। वहाँ रोग और बुढ़ापा नहीं है। उसी तरह की कल्पना आदिमवासियों की है। इस आनन्द-पूर्ण जीवन को काटते हुए बेलोमा ऊब जाता है तब वह पृथ्वी के इस संघर्षपूर्ण जीवन को प्राप्त करने की कामना करता है। हमारे स्वर्ग म देवताओं का वास रहता है। वे कभी उससे ऊब कर पृथ्वी पर आने की कामना नहीं करते; बल्कि कर्मजाल से मुक्त होकर ही तो प्राणी स्वर्ग प्राप्त करता है। इस तरह के उदाहरण भारतीय ग्रन्थो मे अवश्य मिलते हैं, जब किन्हीं महापुरुषों का स्वर्ग से पतन हुआ है और उन्हें आकर फिर पृथ्वी पर अपना जीवन प्रारम्भ करना पड़ा है। राजा ययाति को स्वर्ग स देवताओं ने गिरा दिया था। इसी प्रकार ययाति के पिता नहुष का भी पतन हुआ था, लेकिन इस पतन के अन्य कारण थ। अहङ्कार के कारण इनके

पुण्य नष्ट हो गये थे। इसलिए इनका पतन हुआ। स्वर्ग के सुख से ऊब कर पृथ्वी पर जन्म लेने की इच्छा करने वाले किसी महापुरुष की कथा भारतीय ग्रन्थों में नहीं मिलती इसलिये आदिमवासियों के टयूमा और हिन्दुओं के स्वर्ग का भेद स्पष्ट समझ लेना चाहिये। फिर इसके साथ आदिमवासियों का यह विश्वास भी विचारणीय है कि टयूमा में जादूगर भी रहते हैं। वे ही काला जादू करके बैलोमा को कभी कभी कमजोर कर देते हैं, या बीमार डाल देते हैं, इससे ऊब कर बैलोमा पृथ्वी पर आने की इच्छा करता है। जादूगर इस बैलोमा को कितना भी जादू करके मार नहीं सकता। उसकी मृत्यु कभी नहीं होती। वह तो स्थान बदलता है। टयूमा से उठकर शिशु के रूप में वह पृथ्वी पर स्थित हो जाता है। टयूमा में स्थित यही आत्मायें (Balomas) पृथ्वी पर उतरती रहती हैं और इस तरह सृष्टि का क्रम चलता है। जन्म और मृत्यु की समस्या को ट्रोब्रियान्ड इसी तरह हल करते हैं। वे सोचते हैं कि मनुष्य की आत्मा कुछ समय के लिये टयूमा में चली जाती है लेकिन फिर लौटकर उसे यहीं आना होता है। यह आकर स्त्री के गर्भ में स्थित हो जाती है और फिर वही बच्चे को जन्म देती है।

टयूमा से चलकर स्त्री के गर्भ में आकर बैलोमा किस तरह स्थित हो जाता है इसके बारे में अलग-अलग विश्वास प्रचलित हैं लेकिन इस पर सभी समान रूप से विश्वास करते हैं कि प्रत्येक बालक जो इस पृथ्वी पर जन्म लेता है, पहले टयूमा में अपना जीवन व्यतीत कर लेता है और फिर सृष्टि क्रम में आकर मिलता है। इस तरह आदिमवासी इस सृष्टि से पहले टयूमा की कल्पना करते हैं जहाँ पृथ्वी पर शरीर धारण करने से पहले आत्मायें रहती हैं। सृष्टि की उत्पत्ति के विषय में इन आदिमवासियों की विभिन्न धारणायें हैं, उनके बारे में भी हम लिखेंगे। इससे पहले बैलोमा की स्त्री के गर्भ तक की यात्रा पर विचार करना चाहिये।

(१) ओमराकाना (Omarakana) में जाकर मैलिनोवस्की ने वहाँ के आदिमवासियों से पूछा तो उन्होंने बताया कि बैलोमा जब भी अपनी पूर्व स्थिति छोड़कर नवीन स्थिति धारण करता है तो वह नमकीन पानी के एक कूप के किनारे जाता है और उसमें स्नान करके फिर यौवनावस्था प्राप्त कर लेता है।

टोमवाया लेकवेबुलो (Tomwaya Lakwabulo) नाम के एक जादूगर ने जो अपनी अन्तर्दृष्टि से टयूमा को भी देखता था, बताया कि बैलोमा एक झरने पर जाता है, जिसे सोपिविना (Sopiwina) के नाम से पुकारते हैं और

वहाँ बैठकर वह अपने शरीर को नमकीन पानी से धोता है और उससे उसके शरीर की स्थिति बदल जाती है। वृद्धावस्था के बदले फिर वह यौवनावस्था प्राप्त कर लेता है। इस तरह सभी बैलोमा स्वस्थ और युवक हो जाते हैं। अन्त में जब इस पृथ्वी पर शिशु रूप में जन्म लेने की उनकी इच्छा होती है तो फिर उन्हें उसी नमकीन पानी में स्नान करना पड़ता है। स्नान करने के पश्चात् वे समुद्र की लहरों के साथ बहने लगते हैं और पृथ्वी की ओर उनकी यात्रा प्रारम्भ हो जाती है।

उनके बारे में आदिमवासियों का विश्वास है कि या तो वे बहते लट्ठों पर बैठकर आते हैं या डालियों पत्तियों या समुद्र के सीप-घोंघों आदि के ऊपर बैठकर आते हैं। जब वे टूमा के किनारे आकर पानी पर बहने लगते हैं तो वा वा, वा करके रोते हैं। ठीक शिशुओं की तरह उनके रोने की आवाज सुनाई देती है। साधारणतया उनकी इस आवाज को कोई सुन नहीं पाता है क्योंकि टूमा से पृथ्वी की तरफ आने के बीच की स्थिति को कोई भी आदिम वासी नहीं देख पाता लेकिन मल्लाहों ने दूर समुद्र में जाकर यह आवाज सुनी है। उनके इस तरह कहने पर ही आदिमवासियों का यह विश्वास दृढ़ हो गया है।

कुछ लोगों का विश्वास है कि ये आत्मायें अपने आप टूमा से बहती हुई इस पृथ्वी तक नहीं आतीं बल्कि एक दूसरी शक्ति इनको लाती है। वे इस प्रकार इसका वर्णन करते हैं—

बच्चा एक बहते हुए लट्ठे पर बैठकर बहता है। दूसरी आत्मा (spirit) जो उस औरत के (जिसके गर्भ से बच्चा पैदा होने वाला होता है) माता या पिता की आत्मा होती है, उस बच्चे को ले लेती है। वह लाकर उसे उस स्त्री के सिर पर रख देती है। ज्योंही वह बच्चा उसके सिर पर आता है, उस स्त्री के सिर में दर्द होने लगता है। उसका जी मचलाने लगता है और फिर पेट में भी उसके दर्द शुरू हो जाता है। सिर पर से बच्चा पेट में उतर आता है और तब वह निश्चित रूप से गर्भवती हो जाती है।

वह कहती है अब बच्चा मेरे पेट में आ गया है। उन आत्माओं ने लाकर उस बच्चे को मेरे पेट में रख दिया है।

कुछ लोगों का विश्वास है कि स्त्री के माता-पिता की आत्मायें बच्चे को या तो किसी लकड़ी की थाली में रखकर लाती हैं, या नारियल की टोकरी में रखकर वे उसे उस स्त्री के सिर तक लाती हैं। कुछ भी हो, इतना सभी

मानते हैं कि बच्चे के जन्म का कारण स्त्री और पुरुष का सहवास नहीं है बल्कि जब बैलोमा (Baloma) ट्यूमा से लेकर बच्चे को माता के सिर पर लाता है और यह बच्चा उसके पेट में उतर जाता है तभी उस बच्चे का जन्म होता है। ट्यूमा से बच्चे को लाने वाली यह आत्मा मुख्य होती है। कभी-कभी स्वप्न में स्त्री को यह पहले ही दिखाई दे जाती है।

एक आदिमवासी ने मैलिनोवस्की को बताया था कि स्त्री कहती है मैं स्वप्न मे अपनी माता को देखती हूँ। उसका चेहरा मुझे दिखाई देता है।

उस समय वह स्त्री जागकर प्रसन्न होते हुए कहती है—आह ! मेरी माता मेरे लिये बच्चा ला रही है।

इस तरह आदिमवासियों में यह विश्वास दृढ़ होकर बैठ गया है कि माता या पिता की आत्मा बच्चे को ट्यूमा से लेकर आती है और स्त्री को देती है तब वह गर्भवती होती है और उसे मालूम होता है कि उसके पेट में बच्चा आ चुका है। स्वप्न देखकर स्त्रियाँ कभी कभी यह भी बता देती हैं कि किसकी आत्मा बच्चे को लेकर आई है।

ओमरकाना (Omarakana) के सरदार ने बताया था कि उससे पहले सरदार की आत्मा ही उसे ट्यूमा से पृथ्वी पर लाई थी। मैलिनोवस्की ने काफी लोगों से इस सम्बन्ध में पूछा था तो अधिकतर उसने माता या माता के सम्बन्धियों की आत्माओं को ही बच्चों को लाने वाली पाया।

आदिमनिवासियों का यही विश्वास है। स्त्री के माता या पिता के किसी सम्बन्धी की आत्मा बच्चे की आत्मा को लाकर उसके सिर पर रखती है तो उस स्त्री के शरीर में एक साथ खून दौड़ना शुरू हो जाता है और वह सिर में आकर इकट्ठा हो जाता है, फिर वहाँ से बच्चे की आत्मा को लेकर वह नीचे उतरता है और पेट में आकर उस बच्चे को स्थित कर देता है। पेट का खून ही फिर उस बच्चे का पोषण करता है, यही कारण है कि जब स्त्री गर्भवती हो जाती है तो माहवारी के रूप में उसकी योनि से बहने वाला रक्त बन्द हो जाता है और वह पेट में इकट्ठा होकर बच्चे के लिये उपयोगी सिद्ध होता है। स्त्री माहवारी रुकने पर निश्चित रूप से यह जान जाती है कि उसके गर्भ में बच्चा आ चुका है।

इस विश्वास के साथ ही आदिम-वासियों का एक दूसरा विश्वास और है। कुछ लोग मानते हैं कि बच्चे की आत्मा को कोई दूसरी आत्मा लेकर नहीं आती बल्कि यह तो अपने आप ही समुद्र की लहरों के साथ बहती हुई पृथ्वी की ओर आ जाती है। बहती हुई अन्त में आकर वह किनारे पर रुक जाती

है। उस स्थान पर और भी आत्मायें आकर इकट्ठी हो जाती हैं। जब स्त्रियाँ वहाँ नहाने के लिए जाती हैं तो वे आत्मायें उनके अन्दर घुस जाती है और तभी से स्त्रियाँ गर्भवती हो जाती हैं। उनका विश्वास है कि टूमा के चारों ओर बच्चों की आत्मायें पत्तियों व डालों और लट्ठे आदि पर बैठी रहती हैं इसलिए जब या तो तेज हवा के कारण या ज्वार के कारण काफी पत्तियाँ डाल लट्ठे आदि किनारे पर इकट्ठे हो जाते हैं तो लड़कियाँ इस डर से पानी के अन्दर नहीं घुसतीं कि कहीं बच्चों की आत्मायें उनके अन्दर प्रवेश करके उनको गर्भवती न बना दें। ट्रौब्रियान्ड के बीच कुँवारी लड़की का गर्भवती बन जाना अच्छा नहीं समझा जाता।

कुछ गाँवों में तो लोग किनारे से घड़े मे पानी भर लाते हैं और उस घड़े को लाकर उस स्त्री के घर में रख देते हैं जो गर्भवती होना चाहती है। यह विश्वास किया जाता है कि यदि घड़ा उसके घर रात भर रखा रहा तो बच्चे की आत्मा उससे निकलकर स्नान के समय उस स्त्री के गर्भ में चली जायेगी और इस तरह स्त्री गर्भवती हो जायेगी। फिर भी स्वप्न में किसी सम्बन्धी की आत्मा के दिखने का विश्वास प्रचलित है। इसलिए बच्चे की आत्मा के साथ इस दूसरी संरक्षक आत्मा को किसी न किसी रूप में सभी मानते हैं।

इस सम्बन्ध में भी एक ऐसा नियम है जो मातृसत्तात्मक समाज के अन्तर्गत ही पाया जा सकता है। किनारे से जो आदमी घड़े मे भर कर पानी लाता है वह या तो उस स्त्री का भाई या उसकी माता का भाई होना चाहिए।

बच्चे के जन्म के सम्बन्ध में आदिमवासियों के इस विश्वास में पिता को किसी प्रकार की महत्ता नहीं दी गई है। बच्चे का सम्बन्ध माता से ही है। उसी के गर्भ में आकर वह पलता है और फिर उसके बाहर आने पर भी वही उसको अपना दूध पिलाकर उसका पालन-पोषण करती है इसलिए आदिम वासी पिता को तो केवल स्त्री के साथ सहवास करके आनन्द प्राप्त करने वाले के सिवा अधिक कुछ नहीं समझते। बच्चा भी पिता को अपनी माता का पति ही समझता है। पिता के लिए वे लोग तमा (Tama) शब्द का प्रयोग करते हैं। सन्तानोत्पत्ति में पिता का क्या भाग है, इसको न जानने के कारण ही वे माता की सत्ता को प्रमुख मानते हैं। उत्तराधिकार भी माता के सम्बन्धियों को ही प्राप्त होता है। जितने भी नियम बनाये जाते हैं वे सभी स्त्री को महत्ता महत्व देकर बनाये जाते हैं। यद्यपि धार्मिक रूप से पुरुष स्वामी है लेकिन परम्परा से स्त्री के ही अधिकार अधिक हैं। पुरुष उसके अधिकार की सीमाओं को नहीं लाँघ सकता।

आदिमवासियों के विश्वासों को जानकर आश्चर्य हो सकता है लेकिन इसमें सबसे अधिक आश्चर्य की बात तो यह है कि आदिमवासी यह जानता हुआ भी कि पुरुष और स्त्री के सहवास के बिना स्त्री गर्भवती नहीं हो सकती, यह नहीं समझता कि स्त्री को गर्भवती बनाने में पुरुष का वीर्य महत्वपूर्ण कार्य करता है।

वह यह विश्वास करता है कि कँवारी कन्या गर्भवती नहीं हो सकती लेकिन इसका कारण यह बताता है कि स्त्री तभी गर्भवती होती है जब उसके योनिमार्ग को पुरुष उसके साथ सम्भोग करके खोल दे। जब योनि-मार्ग खुल जाता है तभी संरक्षक आत्मायें दूबुमा से बच्चों की आत्मायों को लाकर स्त्री के गर्भ में स्थापित करती हैं। योनिमार्ग खुल जाने पर उनको विश्वास हो जाता है कि अब बच्चों के लिए पेट से बाहर निकलने का मार्ग खुल गया। कँवारी कन्या का योनिमार्ग खुला हुआ नहीं रहता इसलिए संरक्षक आत्मायें कभी भी उसके गर्भ में लाकर बच्चे की आत्मा को नहीं रखतीं। यही कारण है कि कँवारी कन्यायें कभी गर्भवती नहीं होतीं। 'हाँ, यदि विवाह से पहले ही वे किसी पुरुष के साथ सहवास कर लें तो उनका योनिमार्ग खुल जाने पर संरक्षक आत्मायें बच्चों की आत्मायों को लाकर उनके गर्भ के भीतर रख सकती हैं और उस स्थिति में कँवारी कन्या भी गर्भवती हो जाती है।

स्त्री और पुरुष के सहवास को सन्तानोत्पत्ति के लिए आवश्यक समझते हुए भी आदिमवासी पिता की महत्ता को नहीं समझते और बच्चे के जन्म का सम्बन्ध दूबुमा और स्त्री के गर्भ तक ही सीमित रहता है। आदिम वासियों के बीच प्रचलित इन विश्वासों के आधार पर मातृसत्ता का प्रमुख आधार पता चलता है।

सृष्टि की उत्पत्ति के सम्बन्ध में आदिमवासियों के बीच प्रचलित विश्वास भी दूसरे हैं।

कुछ तो मानते हैं कि पृथ्वी के गर्भ से मनुष्य जाति की उत्पत्ति हुई। सबसे पहले एक जोड़ा स्त्री और पुरुष का निकला। उसी से बाद में सृष्टि का क्रम चला।

कुछ स्त्री की उत्पत्ति पहले मानते हैं। मलिनोवस्की ने ट्रौब्रियाण्ड लोगों से पूछा था कि उनके इस विश्वास का क्या आधार है कि पहले पहल स्त्रियाँ ही इस पृथ्वी पर पैदा हुई। इस पर आदिमवासियों ने कहा—क्या तुम नहीं देखते कि हम कितने पुरुष इस पृथ्वी पर हैं। इसका यही कारण है कि स्त्रियाँ इस पृथ्वी पर पहले पैदा हुईं। यदि पुरुष पहले पैदा होते तो स्त्री न होने के कारण बाद में उनकी संख्या कैसे बढ़ती।

आदिमवासियों का यह भी विश्वास है कि सृष्टि के प्रारम्भ में पैदा होने वाली स्त्री पुरुष के बिना ही गर्भवती हो गई थी। वैकुटा (Vakuta) द्वीप में उस स्त्री के बारे में कथा प्रचलित है कि उसने अपनी योनि को बरसात की बूंदों की ओर कर दिया था इससे उसका योनिमार्ग खुल गया और फिर संरक्षक आत्मा ने दूसरा से आकर उसके गर्भ में बच्चा रख दिया। इस प्रकार सृष्टि का क्रम चल निकला।

ट्रोब्रियाण्ड लोगों के बीच इस तरह की अनेक कथायें प्रचलित हैं जो यही बताती हैं कि सृष्टि का आरम्भ स्त्री से हुआ। उस स्त्री के साथ पुरुष की कल्पना करना आवश्यक नहीं है, क्योंकि उस समय बरसात की बूंदों से या और किसी उपाय से अपना योनिमार्ग खोलने पर वह स्त्री गर्भवती हो गई थी।

इस तरह की कथायें पुरुष को सन्तानोत्पत्ति के लिए किसी तरह आवश्यक नहीं बतातीं। बाद में भी स्त्री के साथ उसके सहवास का केवल यही प्रयोजन था कि वह स्त्री के योनिमार्ग को खोल दे, जिससे बैलोमा को गर्भ से बाहर निकलने का मार्ग मिल जाय।

मातृसत्तात्मक समाज में जो भी पिता का स्थान रहा, उसे आदिमवासियों के बीच प्रचलित इन विश्वासों को जानकर समझा जा सकता है। मैलेनेशिया के अलावा अन्य स्थानों पर भी कुछ इसी तरह के विश्वास प्रचलित रहे जिनके मूल में आदिमवासियों की यही धारणा थी कि माता ही बच्चे को पैदा करती है। वही उसका पालन-पोषण करती है, इसलिए उसका ही उसके ऊपर अधिकार है। पिता तो केवल उसी घर में रहने वाला माता का पति है। मातृसत्तात्मक समाज के अन्तर्गत ही विवाह के समय दो प्रथायें थीं। कहीं पर तो पुरुष स्त्री के घर जाकर निवास करता था जैसे आज विवाह के पश्चात कन्या को वर के घर जाना पड़ता है। उस प्राचीन समाज में व्यवस्था उलटे तरह की थी। स्त्री का अधिकार अधिक होने के कारण पुरुष को स्त्री के घर जाना पड़ता था। चूंकि पुरुष किसी दूसरे गण का होता था इसलिए उस स्त्री की सभी सन्तानें उसको अपरिचित के रूप में ही मानती थीं। बच्चों के सभे सम्बन्धी तो माता के भाई या माता की माता के भाई तथा अन्य उसी माता की तरफ के व्यक्ति होते थे। बच्चे को पिता की अपेक्षा अपना मामा अधिक प्रिय होता था और उसे ही वह अपना सच्चा सम्बन्धी समझता था। उसी की सम्पत्ति का उत्तराधिकार उसे मिलता था।

दूसरी तरह की व्यवस्था स्त्री के पुरुष के घर जाकर रहने की है लेकिन

७

यौन-जीवन की सामाजिक व्यवस्था

किसी भी चरित्र सम्बन्धी मूल्य की वास्तविकता का तभी पता चलता है जब ऐतिहासिक दृष्टि से उसकी खोज हो और उसकी उन परिस्थितियों के बारे में जानकारी प्राप्त हो जिनके बीच वह विशेष प्रकार का मूल्य पैदा हुआ है।

इसका क्या प्रमाण है कि आदिम समाज में स्त्री और पुरुष के बीच मुक्त सम्भोग चलता था और भाई-बहिन, पिता-पुत्री आदि का किसी प्रकार का विचार-यौन सम्बन्धों के बीच आवश्यक प्रतीत नहीं हुआ था।

इसके प्रमाण-स्वरूप पहले हम पश्चिम के विद्वान मौरगन (Morgan) के उन निष्कर्षों को रखते हैं जो उन्होंने न्यूयार्क राज्य की इरोकोई (Iro-quois) नाम की प्राचीन जातियों के बीच स्त्री-पुरुष के सम्बन्धों को देखकर निकाले थे। मौरगन ने काफ़ी दिन उन जातियों के बीच रहकर उनकी अनेक प्रथाओं का अध्ययन किया था। इरोकोई जाति के लोग मनुष्य की प्राचीन संस्कृति के ऊपर अच्छा प्रकाश डालते हैं। यद्यपि ये लोग विकास करके उस आदिम स्थिति से काफ़ी आगे बढ़ गये हैं लेकिन फिर भी इनके रीतिरिवाज तथा इनके सम्बन्धों को देखकर इनकी उस प्राचीन स्थिति के बारे में पता लगाया जा सकता है। यही मौरगन ने किया था।

मौरगन ने इनके बीच कुछ विचित्र बातें देखी थीं। इनमें सबसे बड़ी बात

भी इनके पिता माता, पुत्र पुत्री भाई बहिन आदि के रूप में सम्बन्ध और भाव के सम्बन्धों से उनका मिलता।

मैलेनेशियावासियों में माता के सामने पिता का कोई अधिक महत्व नहीं होता। उसका कारण इन लोगों का यही विश्वास है कि बच्चे के जन्म के लिए माता ही उत्तरदायी है, पिता का उसमें किसी प्रकार का हाथ नहीं होता लेकिन इरोकोई लोगों के बीच पिता को पूरी मान्यता है। उनके बीच सभी लोग अपने पिता और माता को जानते हैं। उनके साथ भाई बहिनों को भी, वे लोग अच्छी तरह पहचानते हैं। परिवारों के रूप में वे लोग बँटे हुए हैं। जहाँ तक यौन-सम्बन्धों का प्रश्न है, भाई-बहिन पिता-पुत्री आदि के बीच यौन सम्बन्ध पूरी तरह वर्जित है। इनके साथ कुछ और सीमाएं भी हैं लेकिन सबसे अलग बात तो इनके बीच पिता-पुत्र माता-पुत्र भाई-बहिन आदि के सम्बन्धों का प्रयोग है।

इरोकोई केवल अपने ही बच्चों को ही अपने पुत्र और पुत्री नहीं कहता बल्कि अपने भाइयों के बच्चों के साथ भी उसका यही सम्बन्ध होता है। भाई के बच्चे भी उसको अपने पिता के साथ-साथ ही पिता कहकर पुकारते हैं।

पिता के पिता के भाई के पुत्रों को भी वे बच्चे पिता कहकर पुकारते हैं। फिर पिता के पिता के पिता के भाई के पुत्र को भी वे बच्चे अपना पिता कहकर पुकारते हैं।

इसी प्रकार माता शब्द का प्रयोग केवल अपनी सगी माता के लिये ही इरोकोई नहीं करता बल्कि माता की बहिन को भी वह माता कहता है। फिर माता की माता की बहिन की पुत्री को भी वे बच्चे माता कहते हैं। इस प्रकार माता की माता की माता की बहिन की पुत्री की पुत्री को भी माता के नाम से पुकारा जाता है। माता की ओर इसी प्रकार सम्बन्ध चलता है।

अब प्रश्न आता है माता के भाइयों का और उसके साथ पिता की बहिन का। माता के भाइयों को इरोकोई मामा (uncle) कहकर पुकारता है और उसके पुत्र ममेरे भाई कहलाते हैं। इसी प्रकार पिता की माता के भाइयों के पुत्रों को भी ममेरे भाई (Cousins) कहकर पुकारा जाता है। इसी दिशा में यह सम्बन्ध चलता चला जाता है।

पिता की बहिन को वहाँ के लोग बुआ (aunt) कहकर पुकारते हैं। इसी शब्द का प्रयोग माता के पिता की बहिन की पुत्री के लिए किया जाता है।

इन सम्बन्धों के अनुसार पिता के भाइयों तथा माता की बहिनों के बच्चे

इरोक्वोई के भाई और बहिन कहलायेंगे। उनके साथ वह अपने सगे भाई बहिनों का सा व्यवहार करेगा। लेकिन पिता की बहिन और माता के भाइयों के बच्चे चचेरे भाई कहलायेंगे। इसीलिए इरोक्वोई निवासी अपने भाइयों के पुत्र और पुत्रियों को अपने पुत्र और पुत्रियों की तरह समझता है और अपनी बहिन के पुत्र पुत्रियों को अपने भानजे भानजी (Nephews and Nieces) की तरह समझता है। इसी प्रकार माता की बहिनों के पुत्र और पुत्रियों को माता अपने ही पुत्र पुत्रियों के रूप में समझती है। पिता का आवश्यक रूप से फिर उनके साथ वही सम्बन्ध जुड़ ही जाता है।

इन सम्बन्धों को देखने से यह बात स्पष्ट रूप से सामने आ जाती है कि इरोक्वोई पुरुष अपनी स्त्री को तो अपनी पत्नी समझता ही है लेकिन उसके साथ ही चूँकि अपनी पत्नी की बहिनों के बच्चों को वह अपना बच्चा समझता है, इसलिये बहिनों के प्रति भी वही सम्बन्ध जुड़ जाता है जो उसका अपनी पत्नी के प्रति है। पत्नी की बहिनें उसकी पत्नी हो जाती हैं और इसी सम्बन्ध से वे स्त्रियाँ भी अपने पति के अलावा उसके भाइयों को भी अपना पति मानने लगती हैं। इस तरह सभी भाइयों की पत्नियाँ आपस में बहिन होती हैं। यद्यपि अब इरोक्वोई लोगों के बीच परम्परा के रूप में ही ये सम्बन्ध जीवित हैं और परिवारों की मर्यादा कुछ ऐसी है कि एक पुरुष अपनी पत्नी के अलावा दूसरी स्त्री के साथ यौन-सम्बन्ध जोड़ने के कारण अपराधी समझा जाता है लेकिन जिस प्राचीन समाज की झाँकी ये सम्बन्ध देते हैं, वह निश्चित ही ऐसा समाज रहा होगा जहाँ पुरुषों और स्त्रियों के यौन-सम्बन्ध सामूहिक रूप में रहे होंगे। व्यक्ति का अधिकार व्यक्ति तक ही सीमित नहीं रहा होगा। बल्कि एक पुरुष का अधिकार अपनी पत्नी को छोड़कर अपने भाइयों की पत्नियों पर भी होगा। उनके साथ उसका स्वतन्त्र सम्भोग चलता होगा। इसी प्रकार स्त्रियाँ भी अपने पति के भाइयों के प्रति पति का सा ही दृष्टिकोण रखती होंगी।

मौरगन ने इसी आधार पर सिद्ध किया है कि प्राचीन काल में अवश्य विवाह इस प्रकार सामूहिक प्रणाली से होता होगा। उसमें अवश्य ही एक स्त्री का सम्बन्ध केवल एक पुरुष से न होकर कई पुरुषों के साथ होता और इसी प्रकार पुरुष भी अनेक स्त्रियों के साथ स्वच्छन्दतापूर्वक रमण करने का अधिकारी रहा होगा। इस प्रकार की सामाजिक परिस्थिति बहुपत्नि तथा बहुपति प्रथा में (Polygamy and Polyandry) साथ-साथ ही रही होंगी।

इस निष्कर्ष के अलावा इन सम्बन्धों के आधार पर एक और निष्कर्ष निकलता है। उस सामाजिक स्थिति में भाई और बहिन तथा पिता और पुत्री के बीच विवाह-सम्बन्ध वर्जित थे क्योंकि यदि ऐसा होता तो भाई बहिन के

सहवास से पैदा हुए पुत्र पुत्री उन दोनों के पुत्र और पुत्री कहलाते लेकिन इस व्यवस्था के अन्तर्गत तो भाई अपनी बहिन की सन्तानों को अपनी सन्तान न समझकर अपनी भानजी भानजे आदि के रूप में समझता है, इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि इन लोगों के बीच भाई-बहिन के बीच विवाह नहीं होता था। इसी प्रकार पिता और पुत्री के विवाह की बात है। पिता अपनी पुत्री के बच्चों को भी अपनी बहिन के बच्चों की पंक्ति मे रखता है फिर कैसे सम्भव हो सकता है कि पिता पुत्री का पति बनकर वे बच्चे पैदा करे, जो उसके नहीं कहलायेंगे।

इस सभी के बारे में फ्रेडरिक मौरगन ने यह बता दिया है कि इरोकोईयों के बीच एक समय ऐसी सामाजिक स्थिति थी जबकि सभी बहिनें मिलकर उन पुरुषों के साथ विवाह कर लेती थीं जो आपस में भाई होते थे। उनके बीच यौन-सम्बन्धों की छूट थी। एक व्यक्ति का अधिकार एक स्त्री पर नहीं था। एक जोड़े के रूप में जिस ईर्ष्या ने पुरुष और स्त्री के हृदय में जन्म ले लिया है वह सम्भवतः उस समाज में नहीं थी।

अब प्रश्न यह है कि यह विवाह एक ही गण के भीतर से हो जाता था या दो गणों के बीच इस प्रकार का सम्बन्ध स्थापित होता था। इसके बारे में हम यह लिख ही चुके हैं कि मातृसत्तात्मक समाज के अन्तर्गत यह नियम था कि जो पुरुष किसी स्त्री के साथ विवाह करता था तो उसे अपना गण छोड़कर स्त्री के गण में जाकर रहना पड़ता था। इस प्रकार गण में जितने भी भाई के रूप में पुरुष होते थे वे अपनी बहिनों को छोड़कर उन स्त्रियों के गणों में जाकर रहने थे जिन्हें वे अपनी पत्नी बनाते थे। इस प्रकार भाई-बहिन अलग अलग गणों में बँट जाते थे। इसी प्रकार भाई की सन्तति भी अलग-अलग गणों में बँट जाती थी। इन भाई बहिनों के बच्चे आपस में सगे भाई बहिन न होने के नाते एक दूसरे से विवाह कर सकते थे। इस प्रकार चचेरे भाई बहिन की शादी इनके बीच आसानी से हो जाती थी। यह प्रथा आज भी मुसलमानों के बीच पाई जाती है।

प्राचीन काल में इरोकोई जातियों के बीच ही नहीं बल्कि अन्य जातियों के बीच भी इस प्रकार सामूहिक विवाह प्रणाली (group marriage) के सम्बन्ध रहे हैं। इसका मूल आधार यही है कि जिस प्रकार की सम्बन्ध प्रणाली इरोकोई लोगों के बीच पाई जाती है उसी प्रकार की सम्बन्ध प्रणाली भारतवर्ष के आदि निवासियों के बीच भी पाई जाती है। दक्षिण में द्राविड़ और गोरी जातियों के बीच इसी प्रकार के सम्बन्ध उनके सामूहिक विवाह प्रणाली के उस प्राचीन रूप की ओर संकेत करते हैं। रेड इंडियन (American Indian) लोगों के बीच

इन्हीं सम्बन्धों का प्रचलन है। यद्यपि आज उनके बीच इस प्रकार सामूहिक विवाह प्रणाली प्रचलित नहीं है लेकिन इरोकोई लोगों के ही तरह पिता, पुत्र, पत्नी, माता, बहिन, भाई आदि के बीच सम्बन्धों का साम्य होने के कारण यह मानना तर्कपूर्ण ही होगा कि आदिम काल में इनके बीच भी इसी प्रकार के यौन-सम्बन्ध रहे होंगे।

अमरीका ही नहीं एशिया अफ्रीका तथा आस्ट्रेलिया तक में इसी प्रकार की सम्बन्ध प्रणाली मिली है। इससे यही सिद्ध होता है कि दुनिया में चारों ओर साधारणतया विकास-क्रम एकसा ही रहा होगा लेकिन फिर भी इस विकास-क्रम को निश्चित काल के रूप में बाँटना असम्भव सा ही है। प्राचीन जातियों के सम्बन्धों की कल्पना मोटे रूप से ही हम कर सकते हैं। नये नये तथ्य प्राप्त होने पर ही प्राचीन काल के सम्बन्ध में कुछ पता चलता है।

कुछ ही दिन पहले ही सैण्डविच द्वीपों में रहने वाले लोगों के बारे में खोज हुई थी। उनके बीच पिता-माता भाई-बहिन पुत्र-पुत्री, चाचा चाची, मामा मामी आदि के वही सम्बन्ध पाये गये हैं जिनकी कल्पना मौरगन को करनी पड़ी थी। इरोकोई लोगों के बीच तो परम्परा के रूप में ही केवल नाममात्र को ये सम्बन्ध रह गये थे बाकी समस्त का ढाँचा बदल चुका था लेकिन सैण्डविच द्वीपों के लोगों के बीच वास्तविक रूप में यही सम्बन्ध पाये जाते हैं। वहाँ सामूहिक विवाह प्रणाली आज भी प्रचलित है। इससे और भी अच्छी तरह यह साबित हो जाता है कि जिन स्थानों पर केवल नाममात्र के लिये ही सही इस प्रकार के सम्बन्ध हैं, उन स्थानों पर प्राचीन काल में अवश्य ही सामूहिक विवाहप्रणाली रही होगी।

अब एक दूसरी विचित्र बात तो इन सैण्डविच द्वीप के निवासियों के बारे में मिलती है। ये लोग अपने चचेरे भाइयों और बहिनों को भी अपने सगे भाई बहिन की तरह मानते हैं। उन्हें वे केवल अपने पिता की बहिनों तथा अपनी माता के भाइयों के अलग अलग बच्चों के रूप में नहीं देखते बल्कि जिस प्रकार वे अपने और उनके बीच किसी प्रकार सगे और पराये का भेद नहीं समझते उसी प्रकार पिता और उसकी बहिन तथा माता और उसके भाई के बीच किसी प्रकार की दूरी नहीं समझते। दोनों की पति पत्नी के रूप में ही वे कल्पना करते हैं। स्पष्ट है, यदि मैं और मेरे पिता की बहिन का भाई दोनों आपस में भाई भाई हैं तो फिर मेरे पिता का मेरी माता के साथ जो सम्बन्ध है, वही अपनी बहिन के साथ हुआ या था भी कहें तो भी ठीक होगा कि पिता की बहिन ही मेरी माता हो सकती थी—अर्थात भाई अपनी बहिन के साथ ही विवाह कर सकता था।

सेण्डविच द्वीपों (Hawaii) के निवासियों के बीच प्रचलित सम्बन्धों के आधार पर यह निष्कर्ष अच्छी तरह निकाला जा सकता है। इरोकोई और सेण्डविच निवासियों की स्थिति अपने से पीछे की स्थिति की ओर हमारा ध्यान खींचती है क्योंकि वास्तव में जो सम्बन्ध इरोकोई लोगों के बीच केवल परम्परा के रूप में शेष रह गये हैं वे सैण्डविच निवासियों के बीच एक वास्तविकता के रूप में स्थित हैं इसलिये इस स्थिति के बारे में तो किसी प्रकार की शंका करना निर्मूल है, इसी प्रकार जो सम्बन्ध चचेरे भाइयों के बीच एक परम्परा के रूप में ही हवाई द्वीपों में रह गया है वह भी किसी युग में वास्तविक रूप से रहा होगा और उसके साथ भाई बहिनों के बीच यौन-सम्बन्ध भी रहे होंगे। बाद में चलकर ये सम्बन्ध वर्जित कर दिये गये होंगे।

इस तरह यौन-सम्बन्धों के दो रूप हमें मिलते हैं—

(१) जिसमें भाई और बहिन पति-पत्नी के रूप में एक दूसरे के साथ सम्भोग कर सकते थे। एक ही गण के अन्तर्गत विवाह हो जाता था। स्त्री या पुरुष को विवाह के पश्चात कहीं दूसरे स्थान पर जाने की आवश्यकता नहीं होती थी।

(२) इसके पश्चात समाज में यह नियम बन गया कि एक ही गण के अन्तर्गत भाई और बहिन विवाह नहीं कर सकते। भाई अपनी सगी बहिन को छोड़कर अपनी चचेरी बहिन से शादी कर सकता है। चचेरी बहिन दूसरे गण की होती थी। इसी प्रकार एक गण से दूसरे गण का सम्बन्ध स्थापित हुआ। इस व्यवस्था के अन्तर्गत सामूहिक विवाह प्रणाली चलती थी। पुरुष का अपनी पत्नी पर तो अधिकार रहता ही था लेकिन उसके साथ-साथ अपने भाइयों की पत्नियों के साथ भी वह बिना किसी रोक-टोक के सम्भोग कर सकता था। इस तरह बहुपत्नी प्रथा (Polygamy) और बहुपति प्रथा (Polyandry) साथ-साथ ही चलती थी। स्त्री और पुरुष अपने अपने क्षेत्र में समान अधिकार रखते थे। पुरुष स्त्री की स्वच्छन्दता पर किसी प्रकार अंकुश नहीं रखता था और नहीं स्त्री के हृदय में अपनी सौत के प्रति किसी प्रकार की ईर्ष्या थी। सच तो यह है कि सौत के प्रति किसी विशेष वैमनस्यपूर्ण भावना का उस समाज में कोई स्थान ही नहीं था।

इस व्यवस्था के अन्तर्गत जो बच्चे स्त्रियों के गर्भ से पैदा होते थे, वे किसी एक के होकर नहीं रहते थे बल्कि उन पर सभी का सामूहिक अधिकार रहता था। यद्यपि परिवार अलग-अलग होकर भी बाद की स्थिति में उस लेकिन फिर भी मूल स्थिति में कोई परिवर्तन नहीं आता।

उक्त स्थितियों में पहली स्थिति अधिक प्राचीन काल के यौन सम्बन्धों की

ओर संकेत करती है लेकिन इससे भी पहले की वह स्थिति है जब पिता और पुत्री भी पति-पत्नी के रूप में रह सकते थे। बैन्क्रोफ्ट[१] ने अपनी खोज के आधार पर यह पूरी तरह प्रमाणित कर दिया है कि एक समय वह भी था जब केवल पुरुष और स्त्री का भेद था। किसी प्रकार पिता-पुत्री भाई-बहिन को लेकर यौन-सम्बन्धों के साथ मर्यादा नहीं बाँधी गई थी। जिस प्रकार पशुओं के बीच ऐसा कोई भेद नहीं दिखाई देता उसी प्रकार अपनी आदिम अवस्था में मनुष्य भी ऐसे भेद नहीं रखता था। उस समय किसी प्रकार की मर्यादा नहीं थी और इसी कारण पाप-पुण्य का प्रश्न ही नहीं उठता था। आज के युग में यदि पिता अपनी पुत्री की ओर काम-वासना-पूर्ण दृष्टि से देख भी ले तो उसे समाज पापी, नीच, घृणित, पशु कहेगा लेकिन उस आदिम युग में कोई इन सम्बन्धों के बीच बँधकर भी पापी नहीं था। इस सबसे तुम यह तो समझ जाओगे कि किस तरह बदलते समय के साथ यौन-सम्बन्धों को मर्यादित किया गया और वे ही मर्यादायें आज पाप-पुण्य को निर्धारित करती हैं। ये सभी परिस्थिति-जन्य हैं। शाश्वत इनके साथ कुछ भी नहीं है। जैसे यौन सम्बन्धों के साथ पाप और पुण्य की जो धारणा प्रचलित है उसका आधार गलत है।

बैन्क्रोफ्ट ने बेरिंग स्ट्रेट के कैवियट (Kaviats of the Berring strait) एलास्का के पास कैडियक (Kadlaks near Alaska) तथा ब्रिटिश उत्तरी अमरीका के टिनेह (Tinnehy) लोगों के समाज का अध्ययन करते समय वहाँ पिता-पुत्री के यौन सम्बन्धों को उनके बीच प्रचलित पाया है।

बैन्क्रोफ्ट के अलावा लेतूरन्यू (Letourean) ने भी चिप्पेवा भारतियों, चिली के क्यूकस, इक्वेडोर के कैरन्स तथा कैरिबियन्स आदि लोगों के बीच भी पिता-पुत्री के यौन सम्बन्धों को प्रचलित पाया। फारस तथा सीथिया निवासियों के सम्बन्ध में हुई खोजों से भी यही प्रमाणित हुआ है कि प्राचीनकाल मे इनके बीच पिता-पुत्री के यौन-सम्बन्धों के बारे में किसी प्रकार की मर्यादा नहीं थी।

यह स्थिति आदिम समाज की पहली स्थिति है। इन सब स्थितियों पर गम्भीरता से विचार करना है और देखना है कि आज जो वर्जित है या पवित्र है उसका कोई वास्तव आधार भी है। आज यदि भूल से कोई स्त्री सामाजिक मर्यादा का उल्लंघन कर जाती है तो उसके साथ ऐसा पाप जुड़ जाता है जो जीवन भर उसके चरित्र से दूर नहीं हो सकता। क्या वास्तव में यह ऐसा बड़ा

१ — The Native races of the Pacific states of North America : H.H. Bancroft.

पाप-कार्य कर डालती है, जिसके कारण उसका जीवन नष्ट हो जाता है? इसमें स्त्री-पुरुष के बीच की तीन स्थितियों को रख दिया है। इससे यह भ्रम दूर हो जायेगा कि स्त्री पुरुष के सम्बन्ध के रूप में पातिव्रत ही अन्तिम सत्ता नहीं है। पातिव्रत की अपनी परिस्थितियां हैं और उनके बीच यह आदर्श समाज को प्रगति देता हुआ ही बढ़ा था। इसने स्त्री की स्थिति को पहले की अपेक्षा अच्छा किया था लेकिन बाद में जैसे सभी चीजें रूढ़ि बनकर गतिरोध पैदा कर देती हैं उसी प्रकार इसने भी गतिरोध पैदा कर दिया है और कई परिस्थितियों के आने के कारण यह निश्चित नहीं कहा जा सकता कि पातिव्रत का वही मध्यकालीन आदर्श शाश्वत बनकर चलता रहेगा। आज के जनतन्त्रात्मक युग में फिर स्त्री और पुरुष बराबर के अधिकार लेकर चलना चाहते हैं। मध्यकालीन आदर्श तो यही था कि पति स्वामी है और स्त्री उसकी दासी है, जिसके जीवन का साध्य पति की सेवा करना है; लेकिन आज पत्नी के व्यक्तित्व को इस तरह पति की सेवा तक ही सीमित न समझकर उसका पुरुष के समान ही सामाजिक आधार ढूंढने का प्रयत्न चारों ओर चल रहा है। अब स्त्री पुरुष को अपना अधिकारी (Possessor) नहीं मानना चाहती। वह अपनी स्वतन्त्र सत्ता का अधिकार समाज से मांगती है और ऐसे समाज के लिए संघर्ष कर रही है जिसमें उसको केवल प्रजनन का ही एक साधन-मात्र न मानकर उसको पुरुष के ही समान सामाजिक और राजनैतिक क्षेत्रों में समान अधिकार प्राप्त हों। क्या स्त्री इस संघर्ष में विजय प्राप्त कर जायेगी?

सफलता और असफलता के लिए अधिकतर ऐतिहासिक तथा सामाजिक परिस्थितियों को ही उत्तरदायी समझना ठीक है। जब पुरानी व्यवस्था रूढ़ि बनकर समाज के आगे का मार्ग रोक देती है तो अवश्य उसके स्थान पर नई व्यवस्था उठती है। यही क्रम प्रारम्भ से चलता आ रहा है। इस सामाजिक पृष्ठभूमि को समझ लेना अति आवश्यक है जिसके साथ विभिन्न आदर्शों और मर्यादाओं का सम्बन्ध है। एक बार जिस सम्बन्ध को साधारण और स्वाभाविक मानकर स्वीकार कर लिया गया वही कालान्तर में जाकर कुत्सित और पापपूर्ण कैसे हो गया।

(१) सबसे पहले हमारे सामने उस समय का चित्र आता है जिसमें केवल स्त्री-पुरुष का ही भेद था। भाई बहिन, पिता-पुत्री के बीच किसी प्रकार की मर्यादा नहीं थी। उस समाज में प्रत्येक स्त्री प्रत्येक पुरुष की पत्नी हो सकती थी। यह मनुष्य की जंगली अवस्था (Savagery) के प्रारम्भिक काल का रूप है जब मनुष्य समूह बनाकर पेड़ों पर तथा कभी उनके नीचे रहते थे और मिल कर ही अपने भोजन का प्रबन्ध करते थे। या तो वे शिकार करके जंगली पशुओं

और संकेत करती है लेकिन इससे भी पहले की वह स्थिति है जब पिता और पुत्री भी पति-पत्नी के रूप में रह सकते थे। बैंक्रोफ्ट[1] ने अपनी खोज के आधार पर यह पूरी तरह प्रमाणित कर दिया है कि एक समय वह भी था जब केवल पुरुष और स्त्री का भेद था। किसी प्रकार पिता-पुत्री भाई-बहिन को लेकर यौन-सम्बन्धों के साथ मर्यादा नहीं बाँधी गई थी। जिस प्रकार पशुओं के बीच ऐसा कोई भेद नहीं दिखाई देता उसी प्रकार अपनी आदिम अवस्था में मनुष्य भी ऐसे भेद नहीं रखता था। उस समय किसी प्रकार की मर्यादा नहीं थी और इसी कारण पाप-पुण्य का प्रश्न ही नहीं उठता था। आज के युग में यदि पिता अपनी पुत्री की ओर काम-वासना-पूर्ण दृष्टि से देख भी ले तो उसे समाज पापी, नीच, घृणित, पशु कहेगा लेकिन उस आदिम युग में कोई इन सम्बन्धों के बीच बंधकर भी पापी नहीं था। इन सबसे तुम यह तो समझ जाओगे कि किस तरह बदलते समय के साथ यौन-सम्बन्धों को मर्यादित किया गया और ये ही मर्यादायें आज पाप-पुण्य को निर्धारित करती हैं। ये सभी परिस्थिति-जन्य हैं। शाश्वत इनके साथ कुछ भी नहीं है। जैसे यौन सम्बन्धों के साथ पाप और पुण्य की जो धारणा प्रचलित है उसका आधार गलत है।

बैंक्रोफ्ट ने बेरिंग स्ट्रेट के कैवियट्स (Kaviats of the Berring strait) अलास्का के पास कैडियक (Kadiaks near Alaska) तथा ब्रिटिश उत्तरी अमरीका के टिनेह (Tinnehy) लोगों के समाज का अध्ययन करते समय वहाँ पिता-पुत्री के यौन-सम्बन्धों को उनके बीच प्रचलित पाया है।

बैंक्रोफ्ट के अलावा लेतूरन्यू (Letourean) ने भी चिप्पेवा भारतियों चिलो के क्यूकस, इक्वेडोर के कैरम्ब तथा कैरिबियन्स आदि लोगों के बीच भी पिता-पुत्री के यौन सम्बन्धों को प्रचलित पाया। फारस तथा सीथिया निवासियों के सम्बन्ध में हुई खोजों से भी यही प्रमाणित हुआ है कि प्राचीनकाल में इनके बीच पिता-पुत्री के यौन-सम्बन्धों के बारे में किसी प्रकार की मर्यादा नहीं थी।

यह स्थिति आदिम समाज की पहली स्थिति है। हम सब स्थितियों पर गम्भीरता से विचार करना है और देखना है कि आज का घृणित है या पवित्र है उसका कोई शाश्वत आधार भी है। आज यदि भूल से कोई स्त्री सामाजिक मर्यादा का उल्लंघन कर जाती है तो उसके साथ ऐसा पाप जुड़ जाता है जो जीवन भर उसके चरित्र से दूर नहीं हो सकता। क्या वास्तव में वह ऐसा बड़ा

१—The Native races of the Pacific states of North America H. H. Bancroft.

पाप-कार्य कर डालती है, जिसके कारण उसका जीवन नष्ट हो जाता है? हमने स्त्री-पुरुष के बीच की तीन स्थितियों को रख दिया है। इससे यह भ्रम दूर हो जायेगा कि स्त्री पुरुष के सम्बन्ध के रूप में पातिव्रत ही अन्तिम सत्ता नहीं है। पातिव्रत की अपनी परिस्थितियां हैं और इनके बीच यह आदर्श समाज को प्रगति देता हुआ हो उठा था। इसने स्त्री की स्थिति को पहले की अपेक्षा अच्छा किया था लेकिन बाद में जैसे सभी चीजें रूढ़ि बनकर गतिरोध पैदा कर देती हैं उसी प्रकार इसने भी गतिरोध पैदा कर दिया है और कई परिस्थितियों के आने के कारण यह निश्चित नहीं कहा जा सकता कि पातिव्रत का यही मध्यकालीन आदर्श शाश्वत बनकर चलता रहेगा। आज के जनतन्त्रात्मक युग में फिर स्त्री और पुरुष बराबर के अधिकार लेकर चलना चाहते हैं। मध्यकालीन आदर्श तो यही था कि पति स्वामी है और स्त्री उसकी दासी है, जिसके जीवन का साध्य पति की सेवा करना है; लेकिन आज पत्नी के व्यक्तित्व को इस तरह पति की सेवा तक ही सीमित न समझकर उसका पुरुष के समान ही सामाजिक आधार ढूंढने का प्रयत्न चारों ओर चल रहा है। अब स्त्री पुरुष को अपना अधिकारी (Possessor) नहीं मानना चाहती। वह अपनी स्वतन्त्र सत्ता का अधिकार समाज से मांगती है और ऐसे समाज के लिए संघर्ष कर रही है जिसमें उसको केवल प्रजनन का ही एक साधन-मात्र न मानकर उसको पुरुष के ही समान सामाजिक और राजनैतिक क्षेत्रों में समान अधिकार प्राप्त हों। क्या स्त्री उस संघर्ष में विजय प्राप्त कर जायेगी?

सफलता और असफलता के लिए अधिकतर ऐतिहासिक तथा सामाजिक परिस्थितियों को ही उत्तरदायी समझना ठीक है। जब पुरानी व्यवस्था रूढ़ि बनकर समाज के आगे का मार्ग रोक देती है तो अवश्य उसके स्थान पर नई व्यवस्था उठती है। यही क्रम प्रारम्भ से चलता आ रहा है। उस सामाजिक पृष्ठभूमि को समझ लेना अति आवश्यक है जिसके साथ विभिन्न आदर्शों और मर्यादाओं का सम्बन्ध है। एक बार जिस सम्बन्ध को साधारण और स्वाभाविक मानकर स्वीकार कर लिया गया, वही कालान्तर में जाकर घृणित और पापपूर्ण कैसे हो गया।

(१) सबसे पहले हमारे सामने उस समय का चित्र आता है जिसमें केवल स्त्री-पुरुष का ही भेद था। भाई बहिन, पिता पुत्री के बीच किसी प्रकार की मर्यादा नहीं थी। उस समाज में प्रत्येक स्त्री प्रत्येक पुरुष की पत्नी हो सकती थी। यह मनुष्य की जंगली अवस्था (Savagery) के प्रारम्भिक काल का रूप है जब मनुष्य समूह बनाकर पेड़ों पर तथा कभी उनके नीचे रहते थे और मिल कर ही अपने भोजन का प्रबन्ध करते थे। या तो वे शिकार करके जंगली पशुओं

ओर संकेत करती है लेकिन इससे भी पहले की यह स्थिति है जब पिता और पुत्री भी पति-पत्नी के रूप में रह सकते थे। बैंक्रोफ्ट[1] ने अपनी खोज के आधार पर यह पूरी तरह प्रमाणित कर दिया है कि एक समय वह भी था जब केवल पुरुष और स्त्री का भेद था। किसी प्रकार पिता-पुत्री भाई-बहिन को लेकर यौन-सम्बन्धों के साथ मर्यादा नहीं बाँधी गई थी। जिस प्रकार पशुओं के बीच ऐसा कोई भेद नहीं दिखाई देता उसी प्रकार अपनी आदिम अवस्था में मनुष्य भी ऐसे भेद नहीं रखता था। उस समय किसी प्रकार की मर्यादा नहीं थी और इसी कारण पाप-पुण्य का प्रश्न ही नहीं उठता था। आज के युग में यदि पिता अपनी पुत्री की ओर काम-वासना-पूर्ण दृष्टि से देख भी ले तो उसे समाज पापी, नीच, घृणित, पशु कहेगा लेकिन उस आदिम युग में कोई इस सम्बन्धों के बीच बँधकर भी पापी नहीं था। इस सबसे तुम यह तो समझ जाओगे कि किस तरह बदलते समय के साथ यौन-सम्बन्धों को मर्यादित किया गया और वे ही मर्यादायें आज पाप-पुण्य को निर्धारित करती हैं। वे सभी परिस्थिति-जन्य हैं। शाश्वत इनके साथ कुछ भी नहीं है। वैसे यौन सम्बन्धों के साथ पाप और पुण्य की जो धारणा प्रचलित है उसका आधार गलत है।

बैंक्रोफ्ट ने बैरिंग स्ट्रेट के कैवियट (Kaviats of the Berring strait) एलास्का के पास कैडियक (Kadiaks near Alaska) तथा ब्रिटिश उत्तरी अमरीका के टिनेह (Tinnehy) लोगों के समाज का अध्ययन करते समय यहाँ पिता-पुत्री के यौन-सम्बन्धों को उनके बीच प्रचलित पाया है।

बैंक्रोफ्ट के अलावा लतूरन्यू (Letourean) ने भी चिप्पेवा जातियों, चिली के क्यूकस, इक्वेडोर के कौरेन्स तथा कैरिबियन्स आदि लोगों के बीच भी पिता-पुत्री के यौन सम्बन्धों को प्रचलित पाया। फारस तथा सीथिया स्थित सियों के सम्बन्ध में हुई खोजों से भी यही प्रमाणित हुआ है कि प्राचीनकाल में इनके बीच पिता-पुत्री के यौन-सम्बन्धों के बारे में किसी प्रकार की मर्यादा नहीं थी।

यह स्थिति आदिम समाज की पहली स्थिति है। इन सब स्थितियों पर गम्भीरता से विचार करना है और देखना है कि आज जो घृणित है या पवित्र है उसका कोई शाश्वत आधार भी है। आज यदि भूल से कोई स्त्री सामाजिक मर्यादा का उल्लंघन कर जाती है तो उसके साथ ऐसा पाप जुड़ जाता है जो जीवन भर उसके चरित्र से दूर नहीं हो सकता। क्या वास्तव में वह ऐसा बड़ा

१—The Native races of the Pacific states of North America H H Bancroft.

पाप-कार्य कर डालती है, जिसके कारण उसका जीवन नष्ट हो जाता है? हमने स्त्री-पुरुष के बीच की तीन स्थितियों को रख दिया है। इससे यह भ्रम दूर हो जायेगा कि स्त्री पुरुष के सम्बन्ध के रूप में पातिव्रत ही अन्तिम सत्ता नहीं है। पातिव्रत की अपनी परिस्थितियाँ हैं और उनके बीच यह आदर्श समाज को प्रगति देता हुआ ही उठा था। इसने स्त्री की स्थिति को पहले की अपेक्षा अच्छा किया था लेकिन बाद में जैसे सभी चीजें रूढ़ि बनकर गतिरोध पैदा कर देती हैं उसी प्रकार इसने भी गतिरोध पैदा कर दिया है और कई परिस्थितियों के आने के कारण यह निश्चित नहीं कहा जा सकता कि पातिव्रत का यही मध्यकालीन आदर्श शाश्वत बनकर चलता रहेगा। आज के जनतन्त्रात्मक युग में फिर स्त्री और पुरुष बराबर के अधिकार लेकर चलना चाहते हैं। मध्यकालीन आदर्श तो यही था कि पति स्वामी है और स्त्री उसकी दासी है, जिसके जीवन का साध्य पति की सेवा करना है; लेकिन आज पत्नी के व्यक्तित्व को इस तरह पति की सेवा तक ही सीमित न समझकर उसका पुरुष के समान ही सामाजिक आधार ढूंढने का प्रयत्न चारों ओर चल रहा है। अब स्त्री पुरुष को अपना अधिकारी (Possessor) नहीं मानना चाहती। वह अपनी स्वतन्त्र सत्ता का अधिकार समाज से माँगती है और ऐसे समाज के लिए संघर्ष कर रही है जिसमें उसको केवल प्रजनन का ही एक साधन-मात्र न मानकर उसको पुरुष के ही समान सामाजिक और राजनैतिक क्षेत्रों में समान अधिकार प्राप्त हों। क्या स्त्री इस संघर्ष में विजय प्राप्त कर जायेगी?

सफलता और असफलता के लिए अधिकतर ऐतिहासिक तथा सामाजिक परिस्थितियों को ही उत्तरदायी समझना ठीक है। जब पुरानी व्यवस्था रूढ़ि बनकर समाज के आगे का मार्ग रोक देती है तो अवश्य उसके स्थान पर नई व्यवस्था उठती है। यही क्रम प्रारम्भ से चलता आ रहा है। उस सामाजिक पृष्ठभूमि को समझ लेना अति आवश्यक है जिसके साथ विभिन्न आदर्शों और मर्यादाओं का सम्बन्ध है। एक बार जिस सम्बन्ध को साधारण और स्वाभाविक मानकर स्वीकार कर लिया गया, वही कालान्तर में जाकर घृणित और पापपूर्ण कैसे हो गया।

(१) सबसे पहले हमारे सामने उस समय का चित्र आता है जिसमें केवल स्त्री-पुरुष का ही भेद था। भाई बहिन पिता-पुत्री के बीच किसी प्रकार की मर्यादा नहीं थी। उस समाज में प्रत्येक स्त्री प्रत्येक पुरुष की पत्नी हो सकती थी। यह मनुष्य की जंगली अवस्था (Savagery) के प्रारम्भिक काल का रूप है जब मनुष्य समूह बनाकर पेड़ों पर तथा कन्दराओं में रहते थे और मिल कर ही अपने भोजन का प्रबन्ध करते थे। या तो वे शिकार करके जंगली वस्तुओं

ओर संकेत करती है लेकिन इससे भी पहले की वह स्थिति है जब पिता और पुत्री भी पति-पत्नी के रूप में रह सकते थे। बेन्क्रोफ्ट[1] ने अपनी खोज के आधार पर यह पूरी तरह प्रमाणित कर दिया है कि एक समय वह भी था जब केवल पुरुष और स्त्री का भेद था। किसी प्रकार पिता-पुत्री भाई-बहिन को लेकर यौन-सम्बन्धों के साथ मर्यादा नहीं बाँधी गई थी। जिस प्रकार पशुओं के बीच ऐसा कोई भेद नहीं दिखाई देता उसी प्रकार अपनी आदिम अवस्था में मनुष्य भी ऐसे भेद नहीं रखता था। उस समय किसी प्रकार की मर्यादा नहीं थी और इसी कारण पाप-पुण्य का प्रश्न ही नहीं उठता था। आज के युग में यदि पिता अपनी पुत्री की ओर काम-वासना-पूर्ण दृष्टि से देख भी ले तो उसे समाज पापी, नीच, घृणित, पशु कहेगा लेकिन उस आदिम युग में कोई इन सम्बन्धों के बीच बंधकर भी पापी नहीं था। इन सबसे तुम यह तो समझ जाओगे कि किस तरह बदलते समय के साथ यौन-सम्बन्धों को मर्यादित किया गया और वे ही मर्यादायें आज पाप-पुण्य को निर्धारित करती हैं। वे सभी परिस्थिति-जन्य हैं। शाश्वत इनके साथ कुछ भी नहीं है। वैसे यौन सम्बन्धों के साथ पाप और पुण्य की जो धारणा प्रचलित है उसका आधार गलत है।

बेन्क्रोफ्ट ने बेरिंग स्ट्रेट के कैविएट (Kaviats of the Borring strait) एलास्का के पास कैडियक (Kadiaks near Alaska) तथा ब्रिटिश उत्तरी अमरीका के टिनैह (Tinnehy) लोगों के समाज का अध्ययन करते समय वहाँ पिता-पुत्री के यौन-सम्बन्धों को उनके बीच प्रचलित पाया है।

बैन्क्रोफ्ट के अलावा लतूरन्यू (Letourean) ने भी चिप्पेवा भारतियों चिली के क्यूकस इण्डोचीन के कैरन्स तथा कैरिबियन्स आदि लोगों के बीच भी पिता-पुत्री के यौन सम्बन्धों को प्रचलित पाया। कारस तथा सोमिया निवासियों के सम्बन्ध में हुई खोजों से भी यही प्रमाणित हुआ है कि प्राचीनकाल में इनके बीच पिता-पुत्री के यौन-सम्बन्धों के बारे में किसी प्रकार की मर्यादा नहीं थी।

यह स्थिति आदिम समाज की पहली स्थिति है। इन सब स्थितियों पर गम्भीरता से विचार करना है और देखना है कि आज जो घृणित है या पवित्र है उसका कोई शाश्वत आधार भी है। आज यदि भूल से कोई स्त्री सामाजिक मर्यादा का उल्लंघन कर जाती है तो उसके साथ ऐसा पाप जुड़ जाता है जो जीवन भर उसके चरित्र से दूर नहीं हो सकता। क्या वास्तव में वह ऐसा बड़ा

---

१ – The Native races of the Pacific states of North America H H, Bancroft.

पाप-कार्य कर डालती है, जिसके कारण उसका जीवन नष्ट हो जाता है ? हमने स्त्री-पुरुष के बीच की तीन स्थितियों को रख दिया है। इससे यह भ्रम दूर हो जायेगा कि स्त्री पुरुष के सम्बन्ध के रूप में पातिव्रत ही अन्तिम सत्ता नहीं है। पातिव्रत की अपनी परिस्थितियां हैं और उनके बीच यह आदर्श समाज को प्रगति देता हुआ ही उठा था। इसने स्त्री की स्थिति को पहले की अपेक्षा अच्छा किया था लेकिन बाद में जैसे सभी चीजें रूढ़ि बनकर गतिरोध पैदा कर देती हैं उसी प्रकार इसने भी गतिरोध पैदा कर दिया है और नई परिस्थितियों के आने के कारण यह निश्चित नहीं कहा जा सकता कि पातिव्रत का वही मध्यकालीन आदर्श शाश्वत बनकर चलता रहेगा। आज के जनतन्त्रात्मक युग में फिर स्त्री और पुरुष बराबर के अधिकार लेकर चलना चाहते हैं। मध्यकालीन आदर्श तो यही था कि पति स्वामी है और स्त्री उसकी दासी है जिसके जीवन का साध्य पति की सेवा करना है लेकिन आज पत्नी के व्यक्तित्व को इस तरह पति की सेवा तक ही सीमित न समझकर उसका पुरुष के समान ही सामाजिक आधार ढूंढने का प्रयत्न चारों ओर चल रहा है। अब स्त्री पुरुष को अपना अधिकारी (Possessor) नहीं मानना चाहती। वह अपनी स्वतन्त्र सत्ता का अधिकार समाज से मांगती है और ऐसे समाज के लिए संघर्ष कर रही है जिसमें उसको केवल प्रजनन का ही एक साधन-मात्र न मानकर उसको पुरुष के ही समान सामाजिक और राजनैतिक क्षेत्रों में समान अधिकार प्राप्त हों। क्या स्त्री उस संघर्ष में विजय प्राप्त कर जायेगी ?

सफलता और असफलता के लिए अधिकतर ऐतिहासिक तथा सामाजिक परिस्थितियों की ही उत्तरदायी समझना ठीक है। जब पुरानी व्यवस्था रूढ़ि बनकर समाज के आगे का मार्ग रोक देती है तो अवश्य उसके स्थान पर नई व्यवस्था उठती है। यही क्रम प्रारम्भ से चलता आ रहा है। उस सामाजिक पृष्ठभूमि को समझ लेना अति आवश्यक है जिसके साथ विभिन्न आदर्शों और मर्यादाओं का सम्बन्ध है। एक बार जिस सम्बन्ध को साधारण और स्वाभाविक मानकर स्वीकार कर लिया गया वही कालान्तर में जाकर घृणित और पापपूर्ण कैसे हो गया।

(१) सबसे पहले हमारे सामने उस समय का चित्र आता है जिसमें केवल स्त्री-पुरुष का ही भेद था। भाई बहिन, पिता-पुत्री के बीच किसी प्रकार की मर्यादा नहीं थी। उस समाज में प्रत्येक स्त्री प्रत्येक पुरुष की पत्नी हो सकती थी। यह मनुष्य की जंगली अवस्था (Savagery) के प्रारम्भिक काल का रूप है जब मनुष्य समूह बनाकर पेड़ों पर तथा कभी उनके नीचे रहते थे और मिल कर ही भोजन का प्रबन्ध करते थे। या तो वे शिकार करके जंगली पशुओं

ओर संकेत करती है लेकिन इससे भी पहले की वह स्थिति है जब पिता और पुत्री भी पति-पत्नी के रूप में रह सकते थे। बेन्क्रोफ्ट[1] ने अपनी खोज के आधार पर यह पूरी तरह प्रमाणित कर दिया है कि एक समय वह भी था जब केवल पुरुष और स्त्री का भेद था। किसी प्रकार पिता-पुत्री, भाई-बहिन को लेकर यौन-सम्बन्धों के साथ मर्यादा नहीं बाँधी गई थी। जिस प्रकार पशुओं के बीच ऐसा कोई भेद नहीं दिखाई देता उसी प्रकार अपनी आदिम अवस्था में मनुष्य भी ऐसे भेद नहीं रखता था। उस समय किसी प्रकार की मर्यादा नहीं थी और इसी कारण पाप-पुण्य का प्रश्न ही नहीं उठता था। आज के युग में यदि पिता अपनी पुत्री की ओर काम-वासना-पूर्ण दृष्टि से देख भी ले तो उसे समाज पापी, नीच, कुत्सित, पशु कहेगा लेकिन उस आदिम युग में कोई इन सम्बन्धों के बीच बँधकर भी पापी नहीं था। इन सबसे तुम यह तो समझ जाओगे कि किस तरह बदलते समय के साथ यौन-सम्बन्धों को मर्यादित किया गया और वे ही मर्यादायें आज पाप-पुण्य को निर्धारित करती हैं। ये सभी परिस्थिति-जन्य हैं। वास्तव इनके साथ कुछ भी नहीं है। जैसे यौन सम्बन्धों के साथ पाप और पुण्य की जो धारणा प्रचलित है उसका आधार गलत है।

बेन्क्रोफ्ट ने बेरिंग स्ट्रेट के कैवियट (Kaviats of the Berring strait) एलास्का के पास कैडियक (Kadiaks near Alaska) तथा ब्रिटिश उत्तरी अमरीका के टिनेह (Tinnehy) लोगों के समाज का अध्ययन करते समय वहाँ पिता-पुत्री के यौन सम्बन्धों को उनके बीच प्रचलित पाया है।

बेन्क्रोफ्ट के अलावा लेतूरन्यु (Letourean) ने भी चिप्पेवा भारतियों, चिली के क्लूकस, एक्वेडोर के कैरन्स तथा कैरिबियन्स आदि लोगों के बीच भी पिता-पुत्री के यौन सम्बन्धों को प्रचलित पाया। फारस तथा प्राचीन सिथ-नियों के सम्बन्ध में हुई खोजों से भी यही प्रमाणित हुआ है कि प्राचीनकाल में इनके बीच पिता-पुत्री के यौन-सम्बन्धों के बारे में किसी प्रकार की मर्यादा नहीं थी।

यह स्थिति आदिम समाज की पहली स्थिति है। इन सब स्थितियों पर दृष्टिपात करने से निष्कर्ष निकलता है और देखता है कि पाप या कुत्सित है या पवित्र है उसका कोई वास्तव आधार भी है। आज यदि भूल से कोई स्त्री सामाजिक मर्यादा का उल्लंघन कर जाती है तो उसके साथ ऐसा पाप जुड़ जाता है जो जीवन भर उसके चरित्र से दूर नहीं हो सकता। क्या वास्तव में वह ऐसा बड़ा

१ – The Native races of the Pacific states of North America : H.H Bancroft.

पाप-कार्य कर डालती है, जिसके कारण उसका जीवन नष्ट हो जाता है? हमने स्त्री-पुरुष के बीच की तीन स्थितियों का रख दिया है। इससे यह भ्रम दूर हो जायेगा कि स्त्री पुरुष के सम्बन्ध के रूप में पातिव्रत ही अन्तिम सत्ता नहीं है। पातिव्रत की अपनी परिस्थितियाँ हैं और उसके बीच यह आदर्श समाज को प्रगति देता हुआ ही उठा था। इसने स्त्री की स्थिति को पहले की अपेक्षा अच्छा किया था लेकिन बाद में जैसे सभी चीजें रूढ़ि बनकर प्रतिरोध पैदा कर देती हैं उसी प्रकार इसने भी प्रतिरोध पैदा कर दिया है और कई परिस्थितियों के आने के कारण यह निश्चित नहीं कहा जा सकता कि पातिव्रत का वही मध्यकालीन आदर्श शाश्वत बनकर चलता रहेगा। आज के जनतन्त्रात्मक युग में फिर स्त्री और पुरुष बराबर के अधिकार लेकर चलना चाहते हैं। मध्यकालीन आदर्श तो यही था कि पति स्वामी है और स्त्री उसकी दासी है, जिसके जीवन का साध्य पति की सेवा करना है; लेकिन आज पत्नी के व्यक्तित्व को इस तरह पति की सेवा तक ही सीमित न समझकर उसका पुरुष के समान ही सामाजिक आधार हूढ़ने का प्रयत्न चारों ओर चल रहा है। अब स्त्री पुरुष को अपना अधिकारी (Possessor) नहीं मानना चाहती। वह अपनी स्वतन्त्र सत्ता का अधिकार समाज से माँगती है और ऐसे समाज के लिए संघर्ष कर रही है जिसमें उसको केवल प्रजनन का ही एक साधन-मात्र न मानकर उसको पुरुष के ही समान सामाजिक और राजनैतिक क्षेत्रों में समान अधिकार प्राप्त हों। क्या स्त्री इस संघर्ष में विजय प्राप्त कर जायेगी?

सफलता और असफलता के लिए अधिकतर ऐतिहासिक तथा सामाजिक परिस्थितियों को ही उत्तरदायी समझना ठीक है। जब पुरानी व्यवस्था रूढ़ि बनकर समाज के आगे का मार्ग रोक देती है तो अवश्य उसके स्थान पर नई व्यवस्था उठती है। यही क्रम प्रारम्भ से चलता आ रहा है। उस सामाजिक पृष्ठभूमि को समझ लेना अति आवश्यक है जिसके साथ विभिन्न आदर्शों और मर्यादाओं का सम्बन्ध है। एक बार जिस सम्बन्ध को साधारण और स्वाभाविक मानकर स्वीकार कर लिया गया, वही कालान्तर में जाकर घृणित और पापपूर्ण कैसे हो गया।

(१) सबसे पहले हमारे सामने उस समय का चित्र आता है जिसमें केवल स्त्री-पुरुष का ही भेद था। भाई बहिन, पिता-पुत्री के बीच किसी प्रकार की मर्यादा नहीं थी। उस समाज में प्रत्येक स्त्री प्रत्येक पुरुष की पत्नी हो सकती थी। यह मनुष्य की जंगली अवस्था (Savagery) के प्रारम्भिक काल का रूप है जब मनुष्य समूह बनाकर पेड़ों पर तथा कभी उनके नीचे रहते थे और मिल कर ही अपने भोजन का प्रबन्ध करते थे। या तो वे शिकार करके जंगली पशुओं

के साँप को खाकर अपना पेट भरते थे और या जंगल से कन्द मूल फल आदि खाकर जीवन निर्वाह करते थे। समूह बनाने की प्रवृत्ति मनुष्य की शुरू से ही रही है। यद्यपि मैकिन (Machin) ने अपनी पुस्तक 'मनुष्य क्या है?' (What is man) में यही प्रमाणित किया है कि मनुष्य अपने आप में ही सीमित रहने वाला प्राणी है। वह स्वभाव से ही सामाजिक प्राणी है, यह मानना गलत है। मैकिन की धारणा भ्रमपूर्ण है क्योंकि प्रारम्भ में प्राकृतिक शक्तियों तथा पशुओं के भय के कारण ही मनुष्य समूह रूप में संगठित हुए थे लेकिन उस जीवन की यह आवश्यकता धीरे धीरे स्वभाव के रूप में परिवर्तित हो गई और फिर स्वाभाविक रूप से ही अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए मनुष्य समाज बनाकर रहने लगा। खैर, उस परिस्थिति में स्त्री और पुरुष बराबर का परिश्रम करके अपना खाना जुटाते थे। पुरुष शिकार करके पशुओं का माँस लाते थे तो स्त्रियाँ कन्द मूल फल आदि इकट्ठे करके लाती थीं और वे मिलकर अपना जीवन निर्वाह करते थे। उस समाज में व्यक्तिगत सम्पत्ति का कोई प्रश्न ही नहीं था। वे इतना परिश्रम करके केवल उतना ही जुटा पाते थे जो उनके खाने के लिए पर्याप्त होता था। इस आर्थिक परिस्थिति के अन्तर्गत पुरुष और स्त्रियों के बीच स्वतन्त्र सम्भोग चलता था और अधिकार भी दोनों के साधारणतया बराबर ही थे। लेकिन मातृसत्ता के विषय में यहाँ नहीं भूल जाना चाहिए। स्त्री के साथ प्रजनन के रूप में जो अद्वितीय शक्ति थी उसने उसके अधिकारों को पुरुष की तुलना में अधिक कर दिया लेकिन व्यक्तिगत सम्पत्ति के अभाव में वह अधिकार पुरुष के अपने किसी अधिकार को छीन नहीं पाया। दोनों स्वच्छन्द होकर विचरण करते थे।

विवाह प्रायः समूह के अन्तर्गत ही हो जाया करता था। उस समय केवल एक ही समूह नहीं था, बल्कि अनेकों इसी प्रकार के समूह थे जो अपने खाने की तलाश में इधर उधर फिरा करते थे। कभी इनमें आपस में झगड़ा भी हो जाता था। जब किसी के पास खाना नहीं रहता था, तो वह दूसरे समूह पर आक्रमण करके उसका खाना छीन लेता था या उसको उस स्थान से भगा देता था जहाँ इधर उधर कन्द मूल फल के रूप में तथा जंगली पशुओं के शिकार के रूप में काफी खाना मिलता था। इस तरह जो अधिक शक्तिशाली होता था, वह कमजोर को भगा दिया करता था। इस कारण जंगलों में काफी उथल पुथल सी मची रहती थी। मनुष्य को एक तो पशुओं से भय था। उसके लिए तो उसने समूह बनाया था और सामूहिक रूप से वह अपनी रक्षा करता था फिर दूसरा भय अपने जैसे ही उन मनुष्यों का था जो उससे अधिक शक्तिशाली थे। यह सोचना पूरी तरह भ्रमपूर्ण है कि उन आदिम

साम्यवादी समाज में किसी प्रकार अधिकार के लिए संघर्ष नहीं था। अधिकार के लिए संघर्ष था लेकिन वह केवल खाने की वस्तुओं के अधिकार के लिए संघर्ष था, किसी प्रकार व्यक्तिगत सम्पत्ति बढ़ाने के लिए नहीं।

आर्थिक और सामाजिक दृष्टिकोण से यह मनुष्य की प्रारम्भिक स्थिति है। इसके साथ यौन-सम्बन्धों का भी यह प्रारम्भिक रूप ही है। इस रूप में और पशुओं के बीच यौन-सम्बन्धों के रूप में कोई विशेष अन्तर नहीं दिखाई देता। इस स्थिति में स्त्री और पुरुष जोड़ों के रूप में परिवार बसा कर नहीं रहते थे और न ही एक पुरुष किसी एक स्त्री के बच्चों के प्रति उत्तरदायी होता था। पूरा गण ही बच्चों के लिए उत्तरदायी था और वही उनके भोजन का प्रबन्ध करता था।

वेस्टरमार्क (Westermarck) ने कुछ पशु-पक्षियों के व्यावहारिक जीवन की खोज करके यह प्रमाणित करने का प्रयत्न किया है कि प्रारम्भ से ही स्त्री और पुरुष जोड़ों के रूप में रहे हैं और आदि काल में ही एक पुरुष ने एक स्त्री के साथ व्यक्तिगत स्नेह के सम्बन्ध स्थापित कर लिये थे। उसने ऐसे पक्षियों का उदाहरण दिया है जो मादा के साथ उस समय तक जोड़े के रूप में रहते हैं जब तक माता के गर्भ से बच्चा नहीं पैदा हो जाता और फिर वे अपनी माताओं के साथ ही उसके लिए खाना भी जुटाते हैं। इस तरह कुछ पक्षी स्वाभाविक रूप से ही जोड़े बनाकर रहते हैं, फिर मनुष्य तो अधिक विचारशील प्राणी है, वह इससे भी गई बीती अवस्था में कैसे रह सकता है। वेस्टरमार्क ने यह कह तो दिया लेकिन उसने मनुष्य और पक्षी की परिस्थितियों को अलग अलग करके नहीं देखा।

सबसे पहले तो वेस्टरमार्क को यह देखना चाहिए था कि सभी पक्षी मनुष्य की तरह समूह बनाकर नहीं रहते। जिस प्रकार मनुष्य ने भयभीत होकर अपने आपको संगठित किया था इस प्रकार की प्रवृत्ति सभी पक्षियों तथा पशुओं में नहीं मिलती।

दूसरी बात यह है कि पक्षी तो अकेले भी इधर उधर से अपना खाना इकट्ठा करके खा सकता है लेकिन मनुष्य तो समूह के रूप में ही रहकर अपना खाना जुटा सकता था, नहीं तो उसका जीवन एक क्षण भी सुरक्षित नहीं रह पाता। इस समूह के बीच अलग अलग परिवारों की कल्पना करना किसी प्रकार तर्कपूर्ण बात नहीं है क्योंकि यदि स्त्री और पुरुष इस तरह के जोड़ों के रूप में बँध जाते तो स्वाभाविक रूप से ही व्यक्तिगत वैमनस्य और ईर्ष्या बढ़ जाती। या तो एक स्त्री के पीछे दो लोगों में झगड़ा होता या एक पुरुष के पीछे दो स्त्रियों के हृदय में ईर्ष्या जागती। इस तरह की प्रवृत्ति पैदा होते ही

समूह खण्ड खण्ड होकर बिखर जाता। इसलिए उस आदिम अवस्था में परिवार के रूप में स्त्री-पुरुष के सम्बन्धों के लिए सामाजिक परिस्थिति अनुकूल नहीं थी।

फिर यदि एक बार मान भी लें कि एक पुरुष और स्त्री जोड़े के रूप में उस समूह के भीतर रहते भी थे तो यह कैसे मान लिया जाय कि उनके यौन सम्बन्ध केवल अपने जोड़े तक ही सीमित थे क्योंकि एक पतिव्रत तथा पत्निव्रत के आदर्श तो बहुत बाद की सामाजिक परिस्थितियों के बीच पैदा हुए हैं। उस समय स्त्री अपने जोड़े के पुरुष के अलावा अन्य पुरुषों के साथ यौन-सम्बन्ध जोड़ सकती थी, उसी प्रकार पुरुष को भी स्वतन्त्रता थी। इसीलिए जोड़े के रूप में भी परिवार की कल्पना करके यह सिद्ध नहीं किया जा सकता कि उस आदिम समाज में कामाचार नहीं था। हरिदत्त वेदालङ्कार ने वेस्टरमार्क की छाया में आकर यह सिद्ध करने का बहुत प्रयत्न किया है कि भारतवर्ष में यह स्वतन्त्र सम्भोग की स्थिति कभी नहीं थी। भारतवर्ष में आदिम मनुष्य क्या अधिक सुसंस्कृत होकर पैदा हुआ था जो उसने प्रारम्भ से ही इस कामाचार की स्थिति को घृणित समझकर इसे स्वीकार नहीं किया।

इस प्रकार के तर्कों का उद्देश्य किसी प्रकार अपने इस दम्भ की रक्षा करना है कि हम कभी भी पशुओं की तरह इस पृथ्वी पर नहीं रहे हैं लेकिन क्या इतिहास के सत्य पर इस प्रकार पर्दा डाला जा सकता है। वेस्टरमार्क का मनुष्य समाज के सम्बन्ध में अध्ययन एकांगी है। उसने बिना अधिक विचार किये ही मनुष्य के व्यवहार को पशु-पक्षियों के व्यवहार के आधार पर समझने का प्रयत्न किया है लेकिन मनुष्य और पशु-पक्षी में बहुत अन्तर होता है। उनका व्यवहार भी भिन्न प्रकार का होता है। हाँ कहीं कहीं साम्य भी होता है, लेकिन प्रत्येक स्थान पर साम्य देखना उचित नहीं है। फिर पशुओं के बीच तो मनुष्य से भी अधिक स्वेच्छाचार चलता है। मनुष्य समाज में तो लज्जा का भाव भी यौन-जीवन के साथ पैदा हो गया था लेकिन पशुओं के बीच यह सब कुछ नहीं है। उनके बीच यह सिद्ध करना असम्भव है कि एक मादा का केवल एक नर से ही यौन-सम्बन्ध रहता है और उसी प्रकार एक नर केवल एक मादा तक ही सीमित रहता है, बल्कि इसके विपरीत पूरी तरह स्वेच्छाचार इनके बीच मिलता है, फिर मनुष्य के बारे में ही यह क्यों सोचा जाय कि उसने अपने आदिम काल में ही एक पुरुष और एक स्त्री के जोड़ों के रूप में रहना प्रारम्भ कर दिया था?

उस स्वेच्छाचार की स्थिति में विवाह का प्रश्न ही नहीं उठता। गण के अन्दर के स्त्री पुरुषों का यौन-सम्बन्ध तो उसी समय से प्रारम्भ हो जाता था

जब वे उसके योग्य हो जाते थे। उस समय स्त्री को यह प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ती थी कि विवाह के पश्चात ही उसको सम्भोग का अधिकार प्राप्त हो सकता है। विवाह का कोई नियम न होने के कारण कुँवारी और विवाहिता के बीच किसी प्रकार की मर्यादा की रेखा नहीं थी।

(२) इसके बाद की स्थितियाँ मर्यादा और नियमों की स्थितियाँ हैं। इस स्वच्छन्दता के बाद स्त्री-पुरुष के यौन सम्बन्धों की सीमा निर्धारित की जाने लगी। पहली सीमा पिता-पुत्री के यौन-सम्बन्धों के बारे में बाँधी गई। समाज ने यह नियम बना दिया कि पिता पुत्री के साथ सम्भोग करने का अधिकारी नहीं है।

यह प्रश्न विवादास्पद है। आदिमवासी सदा अपनी माता को तो जानता था लेकिन पिता का ज्ञान होना असम्भव था। जिस समूह के भीतर सभी पुरुष सभी स्त्रियों के पति हैं, उस समाज में कोई बच्चा यह निश्चित रूप से कैसे बता सकता था कि अमुक व्यक्ति उसका पिता था। इस हालत में तो सभी पुरुष जो वहाँ की स्त्रियों के साथ सहवास करते थे उस बच्चे के पिता थे। इसी आधार पर लड़की समूह के उन सभी पुरुषों को पिता के रूप में जानती थी जो उसकी माता तथा उसके साथ की स्त्रियों के साथ सहवास करते थे। इस तरह पिता की पहचान होती थी। अब नियम बना कि यह पिता अपनी पुत्री के साथ सम्भोग नहीं करेगा। क्या कारण था कि इस प्रकार की सीमा पिता और पुत्री के बीच निर्धारित कर दी गई?

तो इसका कारण युवक-वर्ग तथा वृद्ध वर्ग का अन्तर्द्वन्द्व था। जब लड़की जवान होती थी तो एक तरफ तो उसी का जवान भाई उसके साथ सम्भोग करना चाहता था और दूसरी ओर अधेड़ माता को छोड़कर अधेड़ पिता भी उसी लड़की के साथ सम्भोग करना चाहता था। यहाँ संघर्ष होना अति स्वाभाविक था। जवान लड़की अधेड़ पिता से अधिक जवान भाई को चाहती थी और अपनी इच्छा से उसे ही पहले सहवास का अधिकार देती। फिर जवान भाई अधेड़ पिता से अधिक ताकतवर होता था इसलिये पिता उसको चुनौती देकर लड़की को अपने लिए छीन भी नहीं सकता था इस तरह पिता और पुत्री के बीच सम्भोग सम्बन्ध अन्तर्विरोध पैदा हो जाने के कारण टूटने लगे। स्वयं पुत्रियाँ ही इसे नहीं चाहती थी और फिर उनके साथ समूह के जवान आदमी इसे और भी अधिक नहीं चाहते थे। यही कारण था कि शीघ्र ही नियम बन गया कि पिता अपनी पुत्री के साथ सम्भोग नहीं कर सकता। समूह में जवान और शक्तिशाली लोगों की ही बात अधिक मान्य होती थी, क्योंकि वे

ही तो माता पिता की रक्षा का भार अपने ऊपर लेते थे और हर तरह पशुओं से टक्कर लेना उनका ही काम था।

इस प्रकार पहली मर्यादा स्थापित हो गई लेकिन आर्थिक तथा सामाजिक परिस्थितियों के बीच किसी प्रकार परिवर्तन नहीं आया। मनुष्य अपनी उसी जंगली अवस्था में विचरता रहा। जीवन निर्वाह का साधन भी उसके वे ही कन्दमूल फल और पशुओं का माँस था। इसीलिये स्त्री और पुरुष के अधिकार समान थे। कोई एक दूसरे पर शासन नहीं करता था। हाँ माता की मान्यता अधिक प्रबल थी यही कारण था कि स्त्री शारीरिक दृष्टि से पुरुष की अपेक्षा कमजोर होते हुए भी उस जंगली अवस्था में पुरुष के द्वारा पूज्य मानी गई। इसी मातृसत्ता का प्रभाव है कि पुत्र का माता के साथ सम्भोग सम्बन्ध स्थापित नहीं हो पाया। पिता पुत्री का सम्बन्ध भी समाज में चला लेकिन पुत्र-माता का सम्बन्ध नहीं चला। पशुओं में सम्भवतया माता के रूप में माता को यह सम्मान प्राप्त नहीं है और न उसके प्रति इस प्रकार की मर्यादा ही है।

(३) इसके पश्चात् एक दूसरे तरह की मर्यादा समाज के भीतर आई। वह थी भाई और बहिन के बीच यौन-सम्बन्धों को वर्जित घोषित करने वाली मर्यादा। अभी तक तो केवल पिता को ही इस सीमा के भीतर बाँधा गया था अब भाई और बहिन के बीच भी सीमा खड़ी कर दी गई। यद्यपि यह मर्यादा लागू करना काफी कठिन था क्योंकि पहली परिस्थिति में तो बवाल और अधेड़ उम्र के स्त्री पुरुष का सम्पर्क आने के कारण यौन-सम्बन्धों के अन्तर्गत प्रश्न विरोध उठ खड़ा हुआ था लेकिन भाई-बहिन के बीच तो इस प्रकार के असन्तोष की कोई वजह ही नहीं हो सकती थी फिर भी मर्यादा स्थापित हुई। इसका क्या कारण था ?

इसका कारण समूह या गण की शिथिलता है। जब तक समूह स्वयं अपनी रक्षा करने की सामर्थ्य रख सका तब तक तो भाई-बहिनों के सम्भोग सम्बन्ध नहीं रुके लेकिन ज्योंही समूह अपनी असहाय स्थिति पर विचार करने लगा और आपस में एक दूसरे समूह से समझौता करके शान्तिपूर्वक रह कर अपने जीवन-निर्वाह की बात सोचने लगा वहीं भाई बहिन के सम्भोग सम्बन्ध टूट गये। अब विवाह प्रणाली अपने प्रारम्भिक रूप में उठी। एक गण का पुरुष दूसरे गण की स्त्री के साथ विवाह करने के लिये उस गण में जाकर रहने लगा। मातृसत्तात्मक समाज होने के कारण पुरुष को ही स्त्री के गण में जाकर रहना पड़ता था। इस प्रकार एक गण से दूसरे गण का सम्बन्ध स्थापित हो गया। एक गण के सभी पुरुष अपने गण की स्त्रियों से सम्भोग न करके दूसरे गण की स्त्रियों के साथ विवाह करने लगे। इसी प्रकार दूसरे गण के पुरुष

भाकर इस गण की स्त्रियों के साथ विवाह करने लगे। इस तरह भाई-बहिन के सम्भोग-सम्बन्ध टूट गये और धीरे-धीरे इस दिशा में मर्यादा बाँध दी गई। अब पति-पत्नी के रूप में एक ही गण में दो गणों के पुरुष और स्त्री मिलते थे। सभी पुरुष अपने आपको भाई की तरह समझते थे। यद्यपि वे सगे भाई नहीं भी होते थे फिर भी सगे भाइयों की सी भावना उनके हृदय के अन्तर्गत होती थी। फिर स्त्रियाँ भी एक दूसरी को बहिन समझती थीं। इस प्रकार के परिवार को देखने से पता चलता है कि किस तरह मनुष्य अपनी सामाजिकता का विस्तार करता गया है। पहले वह अकेला था इसके पश्चात उसने समूह बनाया। उस समूह के पश्चात उसने दूसरे समूहों से उनका सम्बन्ध जोड़ा। इस तरह जैसे-जैसे समाज विकास करता गया वैसे ही स्त्री पुरुष के बीच यौन सम्बन्ध बदलते चले गये। यहाँ एक बात और ध्यान देने योग्य है। प्रत्येक परिवर्तन प्रगति के रूप में ही आया है। कोई भी मर्यादा समाज की गति को रोक-कर खड़ी नहीं हुई बल्कि उसने समाज और व्यक्ति को प्रगति के पथ की ओर अग्रसर किया है।

सबसे पहले पिता-पुत्री के सम्भोग सम्बन्ध को रोकने का कारण यह भी था कि अलग अलग उम्र वाले स्त्री पुरुषों के सहभोग से सन्तानें स्वस्थ और हृष्टपुष्ट नहीं होती थी इसलिये गण की शक्ति का ह्रास होता था यही कारण था कि इस सम्बन्ध को हटा दिया गया और फिर जब बराबर की उम्र वाले स्त्री-पुरुषों का सम्बन्ध जुड़ा तो सन्तान भी हृष्ट-पुष्ट पैदा होने लगी। इस तरह गण अपनी शक्ति बढ़ाने लगा।

दूसरी मर्यादा भाई-बहिन के सम्बन्धों को रोकने के सम्बन्ध की है। उससे भी समाज आगे की ओर ही बढ़ा। गण अपने आप में ही सीमित न रहकर दूसरे गणों के साथ सम्बन्ध स्थापित करने लगा और इस प्रकार व्यक्ति की सामाजिक भावना का प्रसार होने लगा। इस तरह इस सीमा के निर्धारित होने पर व्यक्ति अपने एक छोटे दायरे को छोड़कर बड़े दायरे के बीच आ गया।

इस समय भी मूलतः आर्थिक परिस्थिति उसी प्रकार की थी। मनुष्य अपनी जंगली अवस्था से बर्बर अवस्था की ओर अग्रसर हो रहा था। आर्थिक दृष्टि से स्त्री और पुरुष का अपने-अपने क्षेत्र में स्वतन्त्र अस्तित्व था। अभी तक मातृसत्तात्मक समाज ही चला आ रहा था। स्त्री घर घूम कर इकट्ठे करती थी। इसके साथ ही पशुओं को पालना भी प्रारम्भ हो चुका था। यह काम भी स्त्रियों को ही करना पड़ता था। पुरुष जंगल में जाकर शिकार करता था। पशु पालने के साथ ही जमीन से पौधे उगाना मनुष्य ने प्रारम्भ कर दिया था। इन सभी कार्यों में दोनों स्त्री-पुरुष का हाथ बराबर का ही रहता था इसलिये

कोई आर्थिक दृष्टि से एक दूसरे पर निर्भर नहीं था। स्त्री का सम्मान था और उसके अधिकार अभी तक भी पुरुष से अधिक थे लेकिन गण के भीतर अभी तक परिवार के रूप में स्त्री पुरुष नहीं बँटे थे। जोड़े के रूप में यौन-सम्बन्धों की सीमा नहीं खड़ी हुई थी। उस समाज में तो सामूहिक विवाह-प्रणाली थी। एक गण के पुरुष सामूहिक रूप से ही अपनी पत्नियाँ रखते थे। सभी पर सभी का अधिकार होता था। इरोकोई लोगों के बीच इस प्रकार के सम्बन्ध थे इसके बारे में हम पहले ही लिख चुके हैं। इसी प्रकार हवाई द्वीप में स्त्री पुरुष के सम्बन्ध थे।

हेरोडोटस तथा अन्य प्राचीन लेखकों ने खोज करके इस प्रकार के समाज पर काफी प्रकाश डाला है और यह पूरी तरह प्रमाणित कर दिया है कि उस समय सामूहिक विवाह-प्रणाली वास्तविक रूप से समाज में प्रचलित थी।

इंगलिश मिशिनरी लोरीमर फिसन ने आस्ट्रेलिया में रह कर वर्षों तक वहाँ की आदिम जातियों के जीवन का अध्ययन किया और उसने दक्षिणी आस्ट्रेलिया में माउण्ट गैम्बियर के हब्शियों (Australian Negroes of Mount Gambiar) को देखा। पूरी जाति दो वर्गों में बँटी हुई है। एक वर्ग का नाम है क्रोकी (Kroki) और दूसरे का नाम है क्यूमाइट (Kumite)। इन दोनों वर्गों में से प्रत्येक की अपनी एक सीमा है। किसी एक वर्ग के स्त्री पुरुष आपस में एक दूसरे के साथ सम्भोग नहीं कर सकते बल्कि दूसरे वर्ग के साथ ही उनका यह सम्बन्ध स्थापित हो सकता है। नियम यह है कि एक वर्ग का पुरुष दूसरे वर्ग की स्त्रियों का पति है। प्रत्येक स्त्री पर उसका अधिकार है, इसी प्रकार दूसरे गण या वर्ग के पुरुष का अपने से दूसरे वर्ग की स्त्रियों पर अधिकार है। अधिकार का अर्थ केवल सम्भोग का ही समझना। इस प्रकार दोनों वर्गों के बीच की पुरुष सामूहिक विवाह-प्रणाली के द्वारा एक दूसरे से बँधे हुए हैं।

आस्ट्रेलिया में अन्य स्थानों पर भी इसी प्रकार की विवाह-प्रणाली मिलती है। इस प्रणाली के साथ आर्थिक दृष्टि से भी एक गण का दूसरे गण के साथ आदान प्रदान चलता था क्योंकि आदिमवासियों ने यह भी नियम बना दिया था कि जब पुरुष आकर अपनी पत्नी के गण में रहेगा तो वह अपने गण से कुछ उपहार लेकर आयेगा। इस तरह एक गण की वस्तुएं दूसरे तक पहुँचती थीं। यह एक प्रकार का आर्थिक समझौता था। इसका मूल कारण यही था कि गण आर्थिक दृष्टि से भी कभी कभी निस्सहाय से हो उठते थे। अधिक शक्तिशाली गण कमजोर गण को कभी कभी ऐसे स्थान पर खदेड़ देता है जहाँ उनको खाना मिलना मुश्किल हो जाता था। इस परेशानी के कारण आदिमवासियों ने इस प्रकार का नियम बनाया। इस दृष्टि से देखने पर इस

मर्यादा के तीन आधार हैं। पहला राजनैतिक आधार। मैं यहाँ राजनैतिक शब्द का ही प्रयोग करूँगा क्योंकि राजनीतिक में भी राजा के उन्हीं कृत्यों को गिना जाता है जो वह अपनी सत्ता बनाये रखने के लिए करता है। यद्यपि इन आदिम गणों में कोई राजा नहीं था लेकिन फिर भी सामूहिक रूप से इन्होंने अपनी रक्षा के लिए यह तो महसूस किया था कि अब बिना दूसरे गणों के साथ समझौता किये काम नहीं चल सकता। इसी दृष्टि से दो गणों के बीच समझौते होने लगे और इस तरह गण आपस में टक्कर लेते थे। उसी प्रकार आज राज्य एक दूसरे से समझौता करके कमजोर राज्य का शोषण करने की प्रवृत्ति रखते हैं। संस्कृति के विकास के कारण खुल्लमखुल्ला किसी पर आक्रमण करने की प्रवृत्ति तो नहा रही है लेकिन फिर भी जब स्वार्थ अटकता है तो सारे मानवता के मूल्यों को ताक उठा कर रख दिया जाता है। इसलिए मैंने यहाँ राजनीति शब्द का प्रयोग किया है, क्योंकि देखा जाये तो मनुष्य की प्रवृत्ति में कोई विशेष परिवर्तन नहीं आया है। युग के अनुसार केवल रूप बदल जाते हैं, व्यवस्था दूसरे प्रकार की हो जाती है लेकिन मूल में वही अधिकार की प्रवृत्ति कायम रहती है।

दूसरा आर्थिक आधार था। आर्थिक दृष्टि से गण इस व्यवस्था के अन्तर्गत अधिक शक्तिशाली हो गया।

तीसरा आधार सन्तान सम्बन्धी था। आदिमवासियों ने यह देखा होगा कि भाई-बहिन के सहवास से जो सन्तान पैदा होती है उससे अच्छी और शक्तिशाली सन्तान वह होती है जो दो अलग अलग स्त्री पुरुषों के सहवास से पैदा होती है। इसे तो आज के सभी डॉक्टर मानते हैं। लेकिन प्रश्न यह है कि यह विचार आदिमवासी के मस्तिष्क में आया कैसे होगा? इसके लिए मेरा तो यही अनुमान है कि पहले एक दूसरे गणों में आपस में टक्कर होती ही थी। उस टक्कर में जब एक गण दूसरे को पराजित कर देता था तो उसकी भूमि पर जाके उस स्थान पर जहाँ वह अपना जीवन निर्वाह करता था, पूरा अधिकार कर लेता था और उस गण के सभी स्त्री-पुरुषों को दास बना लेता था। दास प्रथा उसी समय से चली आ रही है। युद्ध में जो पुरुष होते थे उन्हें मार डाला जाता था और स्त्रियों को रख लिया जाता था। इसका कारण यही हो सकता है कि स्त्रियाँ तो पुरुषों को सम्मान का आनन्द देती थी लेकिन पुरुषों से सदैव भय बना रहता था। हो सकता था कि वे पुरुष अपनी दासावस्था में विद्रोह करके विजेताओं को हानि पहुचाते इसी आपत्ति से बचने के लिये उन सभी को मार डाला जाता था। कहीं-कहीं उनको छोड़ भी दिया जाता था; लेकिन उस स्थिति म उन्हें भाई के रूप में स्वीकार कर लिया जाता था, क्योंकि दास के रूप

में मनुष्य का अहम् सदा से ही विद्रोह करता आया है। अब गण में दूसरे गण की स्त्रियाँ आ गईं और पुरुष भी जिनको नहीं मारा जाता था और जो भाई बनकर गण की शक्ति बढ़ाते थे आकर समानाधिकार के साथ रहने लगे। दूसरे गण की स्त्रियों के साथ विजेता गण के पुरुष सहवास करके जो सन्तान पैदा करते थे, वो निश्चित रूप से ही अधिक शक्तिशाली रही होगी, इसी प्रकार दूसरे गण के पुरुषों ने आकर विजेता गण की स्त्रियों के साथ रह कर जो बच्चे पैदा किये होंगे वे अधिक स्वस्थ और सुस्थिर रहे होंगे इसी कारण धीरे धीरे आदिमवासियों के मस्तिष्क में यह विचार आया होगा कि भाई-बहिन का यौन-सम्बन्ध किसी भी दृष्टि से लाभकारी नहीं है और उसके लिये एक अलग मर्यादा भी बना दी गई। इस सम्बन्ध में केवल अनुमान ही लगाया जा सकता है निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता।

यौन-सम्बन्धों की इस तीसरी मंजिल तक पातिव्रत का आदर्श नहीं आ पाया था। स्त्री और पुरुष स्वच्छन्द गति से विचरण करते थे। सिर्फ पिता-पुत्री, भाई-बहिन के सम्बन्ध में ही मर्यादा थी बाकी यौन-सम्बन्धों की छूट थी। यह उस समाज की वास्तविक स्थिति है। उसको उसी काल की परिस्थितियों के बीच रह कर हमें देखना चाहिये। आज जो पाप-पुण्य की धारणा है, उस दृष्टि से देखने पर यह सबकुछ कुत्सित जैसा लगेगा लेकिन इस प्रकार एक युग के मूल्यों के आधार पर दूसरे युग के सम्बन्धों का निर्णय करना कुत्सित समाजशास्त्रीय पद्धति का परिचायक है। इसलिये इसमें लज्जित होने का कोई कारण नहीं है। यदि इसी दृष्टि से हमने इतिहास का अध्ययन किया तो आज बीसवीं सदी में हमें अपने पूर्वज राम के उस कृत्य पर भी लज्जित होना पड़ेगा जब उन्होंने केवल अपने तथा ब्राह्मण-वर्ग के स्वार्थ के लिये शूद्र शम्बूक का वध किया था।

प्राचीन काल में आतिथ्य सत्कार का भी एक विचित्र नियम था। किन्हीं जातियों में जब अतिथि आता था तो उसको घर की स्त्रियों में से किसी के साथ भी सम्भोग करने का पूरा अधिकार होता था। पहली रात को ही घर का मालिक अपनी पत्नी को उसके पास भेजता था और वे रात-भर सहवास करते थे। आज क्या यह व्यवस्था कुत्सित नहीं मानी जायेगी?

यह सामूहिक-विवाह प्रणाली बर्बरकाल तक चलती रही। इस बीच आर्थिक परिस्थिति निरन्तर बदलती रही। पहली जंगली अवस्था में तो पुरुष और स्त्री की सत्ता आर्थिक दृष्टि से बराबर ही थी। जंगली अवस्था की अन्तिम स्थिति में धनुष और बाण तथा पत्थर के हथियार लेकर पुरुष शिकार के लिये

जाता था तो भी उसके पीछे बच्चों को सम्भालती थी और कन्द मूल फल इकट्ठा करती थी। इसलिये पुरुष की सत्ता उठने का प्रश्न ही नहीं उठता था। पुरुष से अधिक महत्त्वपूर्ण कार्य तो स्त्री करती थी। बच्चे पैदा करना ही उसका अद्वितीय कार्य था फिर उनका पालन करना और उसके साथ कन्द मूल फल इकट्ठे करना उसके दूसरे कार्य थे। इन सभी महत्त्वपूर्ण कार्यों के आधार पर स्त्री पुरुष से भी अधिक सम्मान पाती थी लेकिन बर्बरकाल में आकर स्त्री-पुरुष का द्वन्द्व नई करवट बदलने लगा। यौन-सम्बन्धों की तीसरी अवस्था बर्बरकाल में काफी दिनों तक रही। इसी काल में स्त्री की सत्ता को हटाकर पुरुष की सत्ता आगे बढ़ी और सामूहिक विवाह प्रणाली के स्थान पर स्त्री और पुरुष की जोड़े के रूप में विवाह-प्रणाली उठी। इस द्वन्द्व की पृष्ठभूमि पर विचार करना और देखना है कि क्या आज भी स्त्री और पुरुष का द्वन्द्व उसी प्रकार नहीं चल रहा है ?

कार्लमार्क्स ने कहा है कि वर्ग संघर्ष का पहला रूप स्त्री पुरुष के बीच चलते द्वन्द्व में मिलता है। इस द्वन्द्व में जिसके पास भी वे साधन आकर केन्द्रित हो जाते हैं जिनके बल पर दोनों का जीवन निर्वाह होता है, वही वर्ग दूसरे वर्ग की स्वतन्त्र सत्ता को छीन कर उसे अपने आधीन कर लेता है। यह आर्थिक आधार पर टिका हुआ द्वन्द्व है।

कार्लमार्क्स का कहना काफी हद तक ठीक है क्योंकि जैसे जैसे पुरुष के हाथ में ये सभी साधन इकट्ठे होते गये वैसे ही वैसे वह स्त्री का स्वामी बनता गया और अन्त में तो वह उसका पूज्य देवता तक बन बैठा। आरम्भ से ही इस द्वन्द्व की वास्तविकता को देखें। महाभारत में भीष्म ने कलियुग में स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध को 'द्वन्द्व' की (ही) संज्ञा दी है।

बर्बर काल के प्रारम्भिक समय में मनुष्य पशु पालने लगे थे और उसके साथ ही पौधे उगा कर कुछ खाने के लिये पैदा भी करने लगे थे। पशु पालन उसकी देख भाल करना स्त्रियों का काम था। पुरुष तो अपनी ताकत के बल पर पशुओं को ले आता था। उसके दो रास्ते थे। या तो वह जंगल में जाकर उनको बाँध लेता था और उनसे बहुत दिनों तक काम का साथ चलता था या फिर दूसरे गणों से पशुओं को छीनने के लिये लड़ाई हुआ करती थी। शक्तिशाली सरदार के पशुधन को छीन लाता था। इस तरह पुरुष सदा युद्ध करता रहता था। इस सम्बन्ध में उसे अधिकतर बाहर रहना पड़ता था। स्त्रियाँ बच्चों, पशुधन तथा अन्य वस्तुओं की सम्मालती थीं, स्वाभिमान पर जो मान

किस की तरह पुरुष उनका सम्मान करता था। मातृसत्ता का यह भी एक कारण है। यहाँ तक स्त्री का स्थान पुरुष से ऊंचा ही रहा लेकिन विशेष बात विचारणीय यह है कि पुरुष अधिक महत्वपूर्ण और कठिन कार्य करने लगा था। पशुधन जिसे काफी बड़ी सम्पत्ति समझा जाता था, पुरुष के हाथ ही लाई जाती थी, इसलिये उस मातृसत्तात्मक समाज में भी पुरुष अपने आपको काफी महत्वपूर्ण समझने लगा था।

व्यक्तिगत सम्पत्ति का उदय अभी तक नहीं हुआ था। शस्त्र-अस्त्र, तथा पशुधन आदि समौकृत गण-सम्पत्ति थी। बर्बरकाल की मध्यावस्था में मनुष्य ने कुछ आगे प्रगति की। सिंचाई करके वह खेती करने लगा। पशुओं के मांस के अलावा उनका दूध भी पीने लगा। मकान भी उसने बना लिये। बस यहीं से व्यक्तिगत सम्पत्ति प्रारम्भ हो जाती है। अलग-अलग घर बनाकर रहने की प्रवृत्ति ही व्यक्तिगत सम्पत्ति पर आधारित है। फिर भी भूमि पर किसी व्यक्ति का व्यक्तिगत सम्पत्ति के रूप में अधिकार नहीं था। केवल शस्त्रों तथा पशु-धन पर ही उसका व्यक्तिगत अधिकार हो पाया' लेकिन यह अधिकार एक दिन में ही नहीं हो गया। इसको आने में हजारों वर्ष लगे। इसका उदय तो टोटेम गणों के जादूगर पुजारियों के व्यक्तिगत अधिकार के साथ हुआ। अपनी आदिम अवस्था में मनुष्य टोटेम की उपासना करता था। हर एक गण का सर्प अथवा वानर, वृषभ, आदि कोई न कोई टोटेम होता था।

टोटेम क्या होता है। इसको पहले स्पष्ट कर दें। टोटेम वह वस्तु होती है जिससे गणवासियों को किसी तरह का लाभ पहुँचता है और कालान्तर में जाकर उसको वे पूज्य समझकर अपने को उसी से उत्पन्न समझने लगते हैं। उसे ही वे अपना पूर्वज बताते हैं। वानर टोटेम के उपासक कहेंगे कि वानर ही उनका पूर्वज है। उसी से उनकी उत्पत्ति हुई है। इसी प्रकार सर्प अथवा टोटेम वाले कहेंगे।

इन टोटेम देवताओं की उपासना जादू के रूप में होती है। गण के लोग एक स्थान पर इकट्ठे होकर अपने-अपने टोटेम देवता के कार्य-व्यापार की नकल करते हैं और उससे यह विश्वास कर लेते हैं कि अब वे टोटेम पर पूरा अधिकार प्राप्त कर गये हैं। वे उसको अपने वश में कर सकते हैं। सर्प टोटेम वाले सर्प की चाल की नकल करके यह विश्वास कर लेते थे कि वे अब सर्प को मार सकते हैं। इस तरह टोटेम का प्रारम्भिक विश्वास रहा है।

इस टोटेम-उपासना के साथ पुरोहित उठा था, जो उपासना में विशेष

महत्व रखता था। उसके बारे में विश्वास था कि वह अकेले में टॉटेम देवता से बात करता है इसलिये उस पुरोहित को सभी ग्रामवासी मिलकर कुछ विशेष भाग देते थे और इस तरह पुरोहित की व्यक्तिगत सम्पत्ति का उदय हुआ। यहीं से व्यक्तिगत सम्पत्ति का अधिकार प्रारम्भ हो जाता है। धीरे-धीरे पूरा गण ही व्यक्तिगत सम्पत्ति के आने पर अपना साम्यवादी रूप खो बैठा।

खेतिहर व्यवस्था आ जाने पर पुरुष का महत्व और भी बढ़ गया क्योंकि वह पशुधन एकत्रित करने के अलावा खेत को जोतता भी था। स्त्री तो केवल घर की देखभाल करती थी। लेकिन इस अवस्था में भी स्त्री माता के रूप में पूज्य थी। इसके साथ ही पुरुष को हर जगह पराया समझा जाता था। जब वह विवाह सम्बन्ध में बंध कर अपना गण छोड़कर दूसरे गण में जाता था तो उस गण के लोग उसे अपना नहीं समझते थे क्योंकि उसका टॉटेम देवता दूसरा होता था। माता के अधिकार के सामने उसके कुछ भी अधिकार नहीं होते थे। झगड़ा होने पर उसे गण से बाहर निकाला जा सकता था क्योंकि उसका अपना अधिकार अपनी माता के गण में होता था। उसी गण के लोग उसे अपना समझते थे और कभी भी उसको अपने गण में ले सकते थे। इस व्यवस्था ने पुरुष की स्थिति को काफी कमजोर बना दिया था। पुरुष व्यक्तिगत सम्पत्ति का स्वामी भी हो गया था। यहाँ तक कि वह सरदार के रूप में गण का स्वामी भी हो गया था लेकिन इस नियम ने उसके अधिकार को सदा चुनौती दी।

डॉ॰ मैलिनोवस्की ने मैलेनेशिया में बर्बरकालीन समाज-व्यवस्था पाई है। वहाँ मनुष्य का सम्पत्ति पर व्यक्तिगत अधिकार है लेकिन पहला अधिकार माता का है। उसी के सम्बन्धियों की शृंखला से उत्तराधिकार चलता है। गण का सरदार चाहकर भी अपनी सम्पत्ति का अधिकारी अपने पुत्र को नहीं बना सकता। सम्पत्ति पर उसका अधिकार तो उसके जीवन-काल में ही रहता था। मरने के पश्चात तो स्त्री ही उसकी स्वामिनी होती है और उसके भाई आदि उसका उत्तराधिकार पाते हैं। पुत्र तो उस गण में चला जाता है जिस गण से उसकी माता आती है और वहाँ उसको सम्पत्ति के अधिकार प्राप्त होते हैं। मैलिनेशिया-वासियों के बीच स्त्री को ही अपना गण छोड़कर पुरुष के गण जाना पड़ता है। इससे पहले पुरुष ही स्त्री के गण में जाता था। लेकिन दोनों ही स्थितियों में पुरुष पिता के रूप में किसी प्रकार की प्रतिष्ठा नहीं पाता है।

एक बार मैलिनेशिया वासियों के बीच झगड़ा हो गया। सरदार के लड़के ने किसी तरह की बदमाशी कर दी, उसके दण्ड में माता के सम्बन्धी तथा गणवासियों ने उस लड़के को गण से बाहर निकाल दिया और वह जाकर अपनी

माता के घर में रहने लगा। उसकी माता रो-रोकर उसकी याद में मर गई। पिता को भी काफी दुःख हुआ। इस दृष्टि से देखने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि मातृसत्ता के रहने पर पुरुष व्यक्तिगत सम्पत्ति के अधिकार पाकर भी स्त्री का स्वामी नहीं बन पाया स्त्री स्वतन्त्र थी। फिर भी पितृसत्ता के लिए सारी पृष्ठ-भूमि तैयार हो चुकी थी। पुरुष एक स्त्री के अलावा कई स्त्रियों के साथ विवाह कर सकता था। मैलिनोवस्की ने मैलेनेशिया में सरदार के कई पत्नियाँ देखीं। स्त्री अपना घर छोड़कर पुरुष के घर में आने भी लगी थी। फिर सबसे बड़ी बात तो यह थी कि पुरुष पिता के रूप में अपनी सन्तान से प्रेम भी करने लगा था और सदा यही सोचा करता था कि किसी प्रकार समाज व्यवस्था बदलकर पुत्र को उत्तराधिकार मिलने लगे। माता भी पुत्र के दूसरे घर में जाने पर दुखी होती थी। उसे अपने भाइयों की अपेक्षा अपनी सन्तान से अधिक प्यार था। इन सभी कारणों ने पुरानी व्यवस्था को झकझोर कर गिरा दिया और जब पुरुष को यह पता लगा कि माता के साथ वह भी पिता के रूप में सन्तान पैदा करने में अपना महत्त्व रखता है, उसी समय मातृसत्ता का अन्त हो गया और पुरुष पूरी तरह स्वामी बन गया। अब उत्तराधिकार पुत्र को ही जाने लगा। स्त्री केवल घर की देखभाल करने तक ही सीमित हो गई।

अभी तक मैलिनेशिया में मातृसत्तात्मक समाज व्यवस्था समाप्त नहीं हुई है, लेकिन अन्य स्थानों पर जहाँ मनुष्य सभ्यता के युग में रह रहे हैं इन्हीं कारणों से मातृसत्ता का अन्त हुआ होगा। उस दिन पुरुष इस जग में पूरी तरह विजयी हो गया। इससे पहले उसकी स्थिति उसने तो बनी थी और खेतिहर व्यवस्था तक वह काफी महत्त्व पा गया था लेकिन फिर भी स्त्री के सामने उसका स्थान नीचा था। पूरी तरह वह अपनी सम्पत्ति का स्वामी भी नहीं था।

कितने हजार वर्षों तक यह क्रम इस तरह चलता रहा होगा। जैसे-जैसे आर्थिक सम्बन्धों में विषमता आती गई और पुरुष के हाथ में उत्पादन के साधन केन्द्रित हो गये उसी समय में उसने स्त्री की सत्ता को चुनौती दे दी। उसी समय से पितृसत्ता की नींव डल गई लेकिन परम्परा के रूप में जो मातृ अधि-कार रहा उसको वह गिरा नहीं सका। उसका कारण पिता के रूप में उसकी अज्ञानता ही रही। धीरे धीरे वह अज्ञानता भी दूर हो गई और स्त्री का दर्जा सदा के लिए नीचे गिर गया। फिर उसको स्वतन्त्र सम्भोग का भी वह अधिकार नहीं रहा। एक पुरुष को पति मानकर वह उसके घर में रही। पातिव्रत की यही पृष्ठभूमि है। इसी स्थिति में पातिव्रत प्रवृत्ति का सन्देश लेकर आया। यहाँ एक बात याद रखनी चाहिये कि इस स्त्री की इस स्थिति

के लिए केवल पुरुष ही उत्तरदायी नहीं है। स्त्री भी स्वयं इसी व्यवस्था के अन्तर्गत अपनी सुरक्षा मांग रही थी। तभी उसने पुरुष के इस अधिकार को स्वीकार कर लिया।

जोड़े के साथ स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध किस तरह अपनी पूर्व स्थिति की तुलना में स्त्री के लिए अधिक कामकारी सिद्ध हुए यह देखना भी आवश्यक है।

फ्रेडरिक ऐंगिल्स (Fredrick Engels) ने अपनी पुस्तक 'परिवार व्यक्तिगत सम्पत्ति और राज्य की उत्पत्ति। (The origin of the family private property and the state) में इस स्थिति के सम्बन्ध में लिखा है कि जब सामूहिक विवाह प्रणाली पर आधारित प्यूनेल्यूअन परिवार (Punaluan family) टूटने पर जोड़े का परिवार (Pairing family) उत्पन्न हुआ था। उसने लिखा है कि गणों में स्त्रियों का हरण(abduction)होने लगा था। एक व्यक्ति अपने मित्रों की सहायता से किसी स्त्री को जिसे वह चाहता था छीन लाता था और फिर वह और उसके सभी मित्र उसके साथ सम्भोग आनन्द लेते थे। फिर वह उस व्यक्ति की पत्नी हो जाती थी जो आगे जाकर पहले उसे छीन लाया था।

फिर ऐंगिल्स लिखते हैं कि यदि वह स्त्री भाग जाती थी तो फिर दूसरा आदमी अपने मित्रों की सहायता से उसे पकड़ लेता था तो वह भी उसे अपनी पत्नी बनाकर मित्रों के साथ सम्भोग करता था। इस तरह स्त्री पर व्यक्तिगत अधिकार और बहुपत्नी प्रथा साथ साथ उठी।

यह प्रश्न विचारणीय है। पुरुष कब इस प्रकार हरण करने लगा। हम पहले ही लिख चुके हैं कि जब एक गण दूसरे गण पर आक्रमण करता था, तो उसकी स्त्रियों को भी छीन लाता था और उन सभी स्त्रियों के साथ गण के पुरुषों का सम्बन्ध स्थापित हो जाता था। उस समय भी और उससे पहले भी यह झगड़ा तो आदिमवासियों में होता ही होगा कि किसी सुन्दर स्त्री पर किस पुरुष का पहले अधिकार हो। स्वाभाविक है कि जिसकी लाठी उसकी भैंस वाले समाज में शक्तिशाली ही सदा जीतता होगा और इस तरह स्त्री के प्रति व्यक्तिगत अधिकार की भावना तो शायद मनुष्य में प्रारम्भ से ही रही लेकिन समूह की शक्ति के सामने उसकी शक्ति कम पड़ती थी और यही कारण है कि यह उस आदिम अवस्था में अपना व्यक्तिगत अधिकार स्त्री पर नहीं जमा सका। फिर मातृसत्तात्मक समाज के अपने नियम भी थे। इन सबको चुनौती देने की सामर्थ्य पुरुष में नहीं थी लेकिन इससे यह नहीं समझना चाहिए कि उसकी व्यक्तिगत अधिकार की प्रवृत्ति पूरी तरह मिट गई। हाँ, वह अनुकूल

परिस्थितियाँ न पाकर दबी रही। जब उसकी शक्ति बढ़ी, पुत्र के बच्चों पर उसका पूरा अधिकार होने साथ व्यक्तिगत रूप से उत्पादन के साधनों पर भी उसका अधिकार होने लगा तो उसने समाज की मर्यादाओं को तोड़ना प्रारम्भ किया। अब उस पुरानी व्यवस्था को चुनौती देने की सामर्थ्य उसमें आ गई थी। स्त्री को पशु से हर कर लाने का अर्थ ही यह था कि पुरुष ने मातृसत्तात्मक समाज के नियम को तोड़ा। फिर स्त्री को पत्नी बनाकर और अपने मित्रों को उसके साथ सम्भोग करने की आज्ञा देना निश्चित रूप से इस स्थिति की ओर संकेत करता है जब स्त्री की अवस्था काफी असहाय हो चुकी थी। समाज भी उसके अधिकारों की रक्षा नहीं कर पाया था। माता के सम्मान पर आधारित उसका गौरव घटने लगा था और वह लूट की वस्तुओं (commodities) के साथ शुमार की जाने लगी थी। यही समय था जब मनुष्य का यह भी कौतूहल दूर हो गया था कि स्त्री ही बालक को बनाती तथा उसका पालन पोषण करती है। पुरुष के अहङ्कार को यह कितना बड़ा बल था।

संक्षेप में मैं इस स्थिति को लिख दूं

(१) पुरुष सन्तानोत्पत्ति में स्त्री के साथ अपने महत्त्व को भी समझने लगा था। बहुत दिनों का उसका अज्ञान टूट गया था। अब वह पिता के रूप में प्रतिष्ठित हो गया था। इसी के साथ उसके अधिकार बढ़ गये। मातृसत्तात्मक समाज टूट गया और उसके स्थान पर पितृसत्ता खड़ी की।

(२) पितृसत्ता के साथ ही सम्पत्ति पर माता का अधिकार नहीं रहा। उत्तराधिकार पुत्र को मिलने लगा। माता के सम्बन्धियों का हस्तक्षेप कम हो गया। अब न पुरुष की शक्ति स्वामी के रूप में दृढ़ हो गई।

(३) पुरुष की ईर्ष्या बढ़ी और उसने स्त्री को व्यक्तिगत सम्पत्ति के रूप में बदलना चाहा। आगे चलकर पुरुष इसमें सफल भी हो गया। स्त्री केवल सन्तानोत्पत्ति की साधनमात्र रह गई।

(४) सबसे महत्त्वपूर्ण और विचारणीय परिवर्तन स्त्री की स्थिति में हुआ। अब वह पूरी तरह अबला के रूप में पुरुष की बर्बरता का शिकार बन चुकी थी। स्त्रियों की छीना झपटी चलती थी जिसमें स्त्री की स्वेच्छा की पुरुष तनिक भी परवाह नहीं करता था। पुरुष का बल ही सभीकुछ निर्णय कर लेता था।

मातृसत्ता के टूटने पर स्त्री की स्थिति काफी गिर चुकी थी। यहीं से उसके अधिकारों का पहले तो समझौता सा हुआ और फिर पुरुष ने पूरी तरह उसे अपने आधीन कर लिया। मातृसत्तात्मक समाज की समाप्ति पर जोड़े के परिवार

उठे थे या इससे पहले ही थे आ चुके थे। इसके बारे में विकास सब स्थानों पर एक सा नहीं हुआ। कहीं जोड़े का परिवार आ गया। फिर भी मातृसत्तात्मक समाज चलता रहा और कहीं उसके टूटने के पश्चात जोड़े का परिवार उठा। लेकिन एक बात निश्चित है कि मातृसत्तात्मक समाज के रहते हुए जोड़े के रूप में रहकर भी पुरुष स्त्री को अपनी इच्छा की दासी नहीं बना पाया था। यह तो मातृसत्ता के टूटने पर ही सम्भव हुआ था।

८

सामाजिक परिवर्तन में मनोवैज्ञानिक भेदों का विकास

हमने ऊपर के अध्याय में सामूहिक विवाह-प्रणाली तक समाज के बारे में लिखा है और उससे स्पष्ट होता है कि उस आदिम काल में वे ही यौन-सम्बन्ध जो आज घृणित और पापपूर्ण समझे जाते हैं कितने स्वाभाविक थे। उन आदिमवासियों के धार्मिक विश्वास अलग तरह के थे। उनमें यौन सम्बन्ध कुछ ही सीमा तक पाप के रूप में स्वीकार किये गए थे जैसे—भाई-बहिन के बीच सम्भोग सम्बन्ध दूषित समझे जाते थे और यदि कोई समाज की इस मर्यादा का उल्लंघन करता था तो उसे दण्ड दिया जाता था। सभी लोग उसको घृणित समझते थे। लेकिन यह स्थिति भी बाद की स्थिति है। इससे पहले तो यह सम्बन्ध भी स्वाभाविक रूप से चल ही रहा था। इससे पहले भी पिता और पुत्री का सम्बन्ध चलता था। तब उसे कोई पाप कहने वाला नहीं था। समाज ने धीरे धीरे विकास किया तो तरह तरह की मर्यादाएं बनीं और उनके साथ यौन सम्बन्ध बहुत काफी सीमित कर दिए गये। पहले जो चचेरे भाई बहिन के बीच विवाह सम्बन्ध स्थापित हो जाता था वह भी अब नहीं रहा। इसके अलावा और भी इस तरह के दूर के सम्बन्धियों के बीच सम्भोग पाप और दोषपूर्ण माना जाने लगा। इस तरह भेद धीरे धीरे कम होने लगा। अब दूर के भाई बहिन के बीच विवाह-सम्बन्ध स्थापित नहीं हो सकता था

इस कारण सामूहिक विवाह-प्रणाली का धीरे धीरे ह्रास होने लगा। इस विकास के बीच जोड़े का परिवार उठा। एक पुरुष एक स्त्री से ही विवाह करता था। धीरे धीरे अन्य मर्यादाओं के साथ यह मर्यादा भी बाँध दी गई; लेकिन फिर भी पुरुष को एक से अधिक पत्नी रखने का अधिकार मिल गया। पहले यह अधिकार गणपति को ही दिया गया था लेकिन बाद म दूसरों ने भी इसका उपयोग किया। इस तरह यद्यपि एक स्त्री को बहुपति रखना वर्जित कर दिया लेकिन पुरुष बराबर बहुपत्नि रखता हुआ अपनी कामवासना की तृप्ति करता रहा। इसका कारण आर्थिक क्षेत्र में बढ़ती हुई स्त्री की पराधीनता ही थी। पुरुष उत्पादन तथा युद्ध में प्रमुख भाग लेता था और इस तरह एक तरफ तो शत्रुओं से स्त्री और बच्चों की रक्षा करता था और दूसरी तरफ अपने श्रम से खाना पैदा करता था इसी कारण उसकी सत्ता स्त्री की सत्ता से ऊपर उठ गई। मातृसत्तात्मक समाज के अन्तर्गत ही उसको एक से अधिक पत्नी रखने के अधिकार प्राप्त हो गये थे जबकि स्त्री किसी दूसरे पुरुष के साथ अपने यौन-सम्बन्ध रखने के कारण दोषी समझी जाती थी।

डॉ मैलिनोवस्की ने मैलेनेशिया में प्रचलित विवाह प्रणाली के सम्बन्ध में खोज करके लिखा है।

ट्रौब्रियाण्ड (Trobriand) के बीच यद्यपि एक पुरुष एक ही स्त्री को अपनी पत्नी बना सकता है और पुरुष का पर-स्त्री से सम्बन्ध रखना और इसी प्रकार स्त्री का पर-पुरुष से सम्बन्ध रखना बुरा समझा जाता है लेकिन फिर भी उच्च स्तर के व्यक्ति जिनका किसी कारण से जाति के भीतर सम्मान अधिक है एक से अधिक स्त्रियाँ पत्नी के रूप में रख सकते हैं। सबसे उच्च स्तर का व्यक्ति बस्ती का सरदार होता है। उसके पास अन्य लोगों की अपेक्षा धन अधिक होता है। इसी कारण उसकी शक्ति भी सबसे अधिक होती है, लेकिन सबसे विचित्र बात तो यह है कि इस सम्पत्ति बढ़ाने के ही लिए वह एक से अधिक स्त्री के साथ विवाह करता है।

मैलिनेशिया में यह प्रथा है कि जब किसी स्त्री का विवाह सरदार के साथ होता है तो वह स्त्री अपने पिता भाई तथा अन्य सम्बन्धियों से पास से काफी धन लेकर आती है और इससे सरदार की सम्पत्ति को बढ़ाती है। इसी प्रकार जितनी भी स्त्रियाँ सरदार के साथ विवाह करती हैं, ऐसा ही करती हैं। यह एक प्रकार से दहेज सा ही होता है।

इस सम्पत्ति के अलावा सरदार की आधीनता में रहने वाले लोग उसको भेंट के रूप में धन देते हैं लेकिन इसमें अधिक पत्नियों द्वारा लाया गया धन होता है।

इस सबसे यह और भी स्पष्ट हो जाता है कि धीरे धीरे पुरुष ने अपनी आर्थिक सत्ता बढ़ाने के लिए स्त्री को अपनी सम्पत्ति बढ़ाने का साधन बना लिया है। ट्रोबियाण्ड स्त्रियाँ तलाक का अधिकार अवश्य रखती हैं। इससे पुरुष किसी तरह उन्हें अपनी बर्बरता का शिकार नहीं बना सकता। इसके अलावा मातृसत्ता की मान्यता होने के कारण उनकी इच्छा का विरोध भी पुरुष नहीं कर सकता। अनेक उत्सवों में उनका प्रमुख भाग रहता है लेकिन उत्पादन और युद्ध क्षेत्र में उनका अधिक भाग नहीं रहता इसलिए मातृसत्तात्मक समाज होते हुए भी पुरुष घर का स्वामी है। स्त्री अपने साथ उपहार लेकर उसके घर आकर उसकी पत्नी के रूप में रहती है। ये सभी लक्षण पितृसत्तात्मक समाज के हैं और इन्हीं के आधार पर यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि चाहे प्राय मातृसत्तात्मक समाज व्यवस्था होने के कारण मेलेनेशिया में स्त्री की इच्छा की पुरुष परवाह करता हो लेकिन ज्योंही पिता का ज्ञान प्राप्त करके पुरुष अपनी पितृसत्ता लेकर उठेगा तो स्त्री वहाँ भी उसी तरह दासी का रूप धारण कर लेगी जैसा प्रत्येक स्थान पर पितृसत्तात्मक समाज के अन्तर्गत हुआ है। इसका विशेष कारण समाज की आर्थिक व्यवस्था में परिवर्तन है। स्त्री और पुरुष के आर्थिक सम्बन्धों ने मेलेनेशिया में वह रूप ले लिया है जो पितृसत्ता के अनुरूप है।

ऐंगिल्स कहता है कि बर्बरकाल के प्रारम्भ में ही इरोकोई तथा अनेक भारतीय जातियों के बीच पास और दूर के उन सम्बन्धियों के बीच जिनका रक्त का सम्बन्ध होता है, विवाह-सम्बन्ध वर्जित घोषित किये जा चुके थे। ये सम्बन्ध सैकड़ों तरह के थे। इसलिए इनके होते हुए नए विवाह-प्रणाली का ह्रास हो गया और उसके स्थान पर जोड़े का परिवार उठा। एक पुरुष एक स्त्री के साथ रहने लगा लेकिन फिर भी वह बहुपत्नी के रूप में तथा परनारी से सम्भोग सम्बन्ध स्थापित करके आनन्द के साथ रहने लगा लेकिन स्त्री के लिए उसने मर्यादा स्थापित करनी चाही कि वह पर-पुरुष के साथ किसी प्रकार का यौन-सम्बन्ध न जोड़े। फिर पुरुष किसी समय भी स्त्री के जिम्मे बच्चों को छोड़कर उसको तलाक भी दे सकता था।[1] इस तरह पुरुष सभी प्रकार से स्त्री की स्वतन्त्रता को छीनने लगा।

पितृसत्ता उठने के साथ यह सब तो हुआ लेकिन प्रश्न यह है कि यह पितृसत्ता उठी कैसे और इतने दिन के अज्ञान के पश्चात् पिता को कैसे सहसा

१—The Origin of Family, Private property and the State F Engels.

ही ज्ञात हो गया कि वह अपनी सन्तान के पैदा करने में उतना ही जिम्मेवार है जितनी वह स्त्री जिसे वह अपनी पत्नी कहता है ?

इस पर विचार करते समय हमें प्राचीन जातियों के जादू टोनो के विश्वासों को देखना पड़ेगा। यहीं से इस समस्या का हल निकलता है। प्राचीन काल में स्त्री-पुरुष अपनी कामवासना की तृप्ति के लिये किसी भी समय पशुओं की तरह सम्भोग कर लिया करते थे। काम-तृप्ति के सिवाय उसका और कोई उद्देश्य नहीं होता था। ठीक उनकी पशुओं की सी स्थिति थी लेकिन विकास के साथ ही सम्भोग का एक दूसरा महत्व स्थापित हो गया।

व्यक्तिगत आनन्द के साथ-साथ इसका सम्बन्ध गण के सामाजिक और धार्मिक जीवन के साथ जुड़ गया। स्त्री और पुरुष के इस मिलन का प्रभाव व्यक्तिगत कामतृप्ति तक ही सीमित न रहकर गण के उन प्रयासों पर भी पड़ने लगा जिनसे वे आदिमवासी अपने जीवन-निर्वाह-साधन इकट्ठे किया करते थे। इस प्रकार सम्भोग साधारण और सहज क्रिया से उठकर जादू और टोने के रूप में अपना धार्मिक रूप लेने लगा।

आदिमवासियों में अन्धविश्वास काफी चलते थे। वे अपने चारों ओर की प्रकृति को कौतूहल से भरकर देखते थे और उसकी उस विचित्रता तथा असाधारणता को साधारण बनाना चाहते थे। प्रत्येक अद्भुत वस्तु का कारण समझना चाहते थे। प्रत्येक वस्तु के साथ अपने जीवन का तारतम्य जोड़ना चाहते थे। यह प्रयास प्रारम्भ से ही रहा और इसी कारण जिस वस्तु का सही कारण वे नहीं समझ पाते थे उसके बारे में अपना कुछ न कुछ विश्वास बना लेते थे। इस तरह उनका कौतूहल शान्त हो जाता था। यही प्रकृति की अद्भुत शक्ति के समझने की उनकी पद्धति थी। जिस तरह प्रजनन का सम्बन्ध मैलेनेशिया-वासियों ने टूमा और संरक्षक आत्मा आदि के साथ जोड़ रखा है। जन्म से लेकर मृत्यु तक जो वस्तुएं उन लोगों के सामने आती थी उन सबके बारे में विश्वास बनाकर वे अपने कौतूहल और भय को मिटाया करते थे। इस प्रकार सम्भोग के सम्बन्ध में भी इनका अद्भुत विश्वास था।

वैदिक काल में जो हम स्त्री पुरुष के समागम के साथ पुत्रोत्पादन के पवित्र धर्म को जुड़ा हुआ पाते हैं यह बहुत बाद की स्थिति है। बहुत बाद में इस प्रकार की धारणा समाज में आ पाई थी। इससे पहले के समाज की चेतना ही दूसरे प्रकार की थी। वे सन्तानोत्पादन से स्त्री-पुरुष के समागम का सम्बन्ध जोड़ते तो थे लेकिन उसको वे प्रतीक रूप में लेते थे। जिस प्रकार धरती को हम

समाकर बोता जाता है और उसमें बीज डालकर अन्नादि पैदा किया जाता है वही कार्य तो पुरुष स्त्री के साथ समागम करते हुए करता है इसलिये स्त्री क्षेत्र हुई और पुरुष क्षेत्रपति हुआ। यह धारणा उस समय की है जब पितृसत्तात्मक समाज अपनी जड़ें पूरी तरह जमा चुका था और स्त्री को क्षेत्र के रूप में पुरुष का आधिपत्य स्वीकार करना पड़ा था। अब तो वह पुरुष की सम्पत्ति बन चुकी थी। कृषि युग में ही आकर इस तरह की व्यवस्था हुई। उस समय तक पशु धन घर की छोटी मोटी वस्तुओं तथा अस्त्र शस्त्रों के रूप में व्यक्तिगत सम्पत्ति आ चुकी थी। स्वाभाविक था कि पुरुष न क्षेत्र के रूप में स्त्री की तुलना करके उसके ऊपर पूर्णाधिकार स्थापित कर लिया लेकिन यह सम्भव उसी समय हो पाया जबकि पुरुष यह जान गया कि वह समागम करते समय स्त्री के क्षेत्र में बीज डालता है और उसी बीज के कारण सन्तान पैदा होती है। इस तरह उसको अपनी महत्ता का पूर्णतया ज्ञान हो गया था। वैदिक काल में यह सब कुछ पता लग गया था और उस समय पुरुष और स्त्री के सम्बन्ध में क्षेत्रपति और क्षेत्र की धारणा सर्वत्र प्रचलित हो चुकी थी।

लेकिन विशेष रूप से देखना तो यह चाहिये कि यह प्रतीक की परम्परा प्रारम्भ कहाँ से होती है जिसका विकास आगे चल कर उक्त रूप में होता है। इस बीच की स्थिति पर ही हम प्रकाश डालना चाहते हैं।

आस्ट्रेलिया के आदिम निवासियों के बीच स्त्री-पुरुष का सम्भोग एक प्रकार से जादू (a magic lubricant) के रूप में लिया जाता था। उन लोगों के बीच जो भी धार्मिक उत्सव होते थे इसका उनसे अभिन्न सम्बन्ध था। ऐसे समय पर सभी तरह के विवाह आदि के बन्धन तोड़ दिये जाते थे। प्रत्येक दिन किन्हीं जातियों में एक या दो स्त्रियों को आज्ञा दी जाती थी कि वे जाकर उत्सव स्थान पर उपस्थित हो जायें। वहाँ पर उन स्त्रियों के पिता भाई और पुत्रों को छोड़कर सभी पुरुष आते थे और उनके साथ सम्भोग करते थे। उसके पीछे उनका विश्वास था कि इस तरह के सम्भोग के फलस्वरूप प्रकृति का सारा कार्य-व्यापार बिना किसी तरह की रुकावट के चलता रहेगा। उनका भोजनादि प्राप्त करने में किसी प्रकार की आपत्ति नहीं आयेगी।

यह विश्वास बाद की क्षेत्र और क्षेत्रपति की[1] धारणा का मूलाधार है। पिता के वीर्य का सन्तानोत्पादन म जो भाग होता है उसका पता लगते ही पुराने विश्वास ने नवीन रूप धारण कर लिया और वहीं स स्त्री की अवस्था

१ —Sex Sin & Sanctity (यौन जीवन पाप और पवित्रता)
John Langdon Davies (जॉन लैंग्डन डेवीस)

बिरती चली गई । यही उसके आगे चलकर होने वाले दासी प्रथा की पृष्ठ-भूमि थी ।

इस सम्भोग को इस तरह धार्मिक और सामाजिक रूप देने के साथ ही आदिमवासियों ने इस सम्बन्ध में एक पूरी नियम तालिका बना दी । उनका विश्वास था कि यदि नियम विरुद्ध अर्थात् वर्जित समय पर स्त्री और पुरुष आपस में समागम करेंगे तो उसका गण के सामाजिक जीवन पर बुरा प्रभाव पड़ेगा ।

एक जाति में विश्वास था कि जब कोई पुरुष घायल हो गया है और उसकी चिकित्सा चल रही हो तो उस दिन किसी भी गणवासी को सम्भोग नहीं करना चाहिये । इस तरह सम्भोग का सम्बन्ध जीवन और मृत्यु के साथ जुड़ गया । आदिमवासियों को सदा प्रकृति की अज्ञात शक्ति का भय बना रहता था । इसी कारण वे इस प्रकार की व्यवस्थाएं किया करते थे जिससे सारा कार्य आसानी के साथ चलता चला जाय और उन्हें किसी प्रकार की आपत्ति का सामना नहीं करना पड़े ।

इसके बाद एक और नियम था कि जब नये गीत-नृत्य सीखे जा रहे हों उस समय भी स्त्री पुरुष सम्भोग न करें ।[1]

संगीत नृत्य आदि का गण के सामाजिक जीवन में बहुत महत्व था । टोटेम सम्बन्धी प्राचीन विश्वासों के सम्बन्ध में बताया ही जा चुका है इन गीत, नृत्य आदि का प्रारम्भ वहीं से होता है । वहीं से इनका सामाजिक महत्व विश्वास के रूप में प्रचलित होता है । गण के लोग किसी एक जंगली पशु पक्षी, जिसका उनके जीवन से निकट का सम्बन्ध होता था बोली बोलते थे उसकी चाल तथा अन्य क्रियाओं का अनुकरण करते थे और तब उनको यह विश्वास हो जाता था कि वे अब उस वस्तु को जिसकी टोटेम के रूप में मान्यता हुई, अच्छी तरह से वश में कर सकते हैं । इस तरह शिकार करने वाले वे जंगली अवस्था के मनुष्य एक दैवी विश्वास के साथ अपने आप में एक हकता पैदा करते थे ।

जिस समय टोटेम देवता के रूप में उसी वस्तु की मान्यता हो गई तो वे ही गीत और नृत्य देवता की उपासना के साथ जुड़ गये । उसमें भी आदिम वासी यही कामना करता था कि उसके जीवन पर किसी तरह का प्रकृति का प्रकोप न हो । प्रकृति से उसे सदा डर लगता था । इसी कारण गीत नृत्यादि के द्वारा वह टोटेम देवता को प्रसन्न किया करता था । इस तरह उन गीत नृत्यादि का एक सामाजिक महत्व था ।

१—वही पुस्तक ।

इसके अलावा एक नियम था कि जब पुरुष अपने भोजन के लिये मछली पकड़ने के लिये जा रहा हो उस समय भी उसको अपनी स्त्री के साथ सहवास नहीं करना चाहिये।[1]

इसी प्रकार अनेक जातियों में यह भी विश्वास प्रचलित था कि जब पुरुष शिकार करने, या किसी दूसरी जाति से युद्ध करने के लिये जाय तो उस समय उन्हें अपनी स्त्रियों के साथ समागम नहीं करना चाहिये। यदि वे ऐसा करेंगे तो उन्हें दुर्भाग्य का सामना करना पड़ेगा।

आस्ट्रेलिया की कुछ आदिम जातियों में धारणा ठीक इसके विपरीत थी। उनके बीच लड़ाई पर जाते समय स्त्री और पुरुष सम्भोग करते थे और तब विजय प्राप्त करने का विश्वास लेकर लड़ने के लिये जाते थे।

इस प्रकार के विश्वास आदिम काल में ही नहीं बल्कि अब तक अफ्रीका की कुछ जातियों के बीच पाये गये हैं। बैकीटारा (Bakitara) लोगों का लोहे की खानों से सम्बन्ध है। खान से वे लोहा निकालते हैं और उसको पिघलाते हैं। उसके सम्बन्ध में विश्वास प्रचलित है कि यदि लोहा पिघलाते समय कोई रजस्वला स्त्री पास आ जाये तो उससे उद्योग में अवश्य हानि होती है। इसलिये रजस्वला स्त्रियों को आने की आज्ञा नहीं है।

इसी तरह जिस आदमी की स्त्री ने शीघ्र ही किसी बच्चे को जन्म दिया है वह भी आकर उद्योग में कुछ समय के लिये भाग नहीं ले सकता। इन नियमों के तोड़ने का अर्थ है कि लोहा किसी भी तरह नहीं पिघलेगा और सभी लोगों को इससे भारी हानि उठानी पड़ेगी।

इसी प्रकार के विश्वास रोडेशिया के उत्तरी भाग बा-इला (Ba-ila) में प्रचलित हैं। वहाँ भी यही उद्योग चलता है।

लोहा पिघलाने वाले पूरे नियम के साथ रहते हैं। इस बीच वे किसी स्त्री के साथ समागम नहीं करते। उनमें से यदि कोई आदमी अपने गाँव जाता है तो उसके ऊपर यह पाबन्दी लगाई जाती है कि वह अपनी स्त्री से किसी तरह के सम्बन्ध उस समय न रखे। उसे न तो अपने घर में घुसना चाहिये और न अपनी स्त्री से अधिक बातचीत करना चाहिये। घर के दरवाजे पर बैठकर ही उसे अपनी स्त्री के द्वारा पकाया भोजन करना चाहिये।

इसी प्रकार की पाबन्दियाँ औरतों पर भी लगाई जाती हैं। लोहा पिघलाने के समय न तो उनको नहाना चाहिये और न अपने शरीर में कुछ सुगन्धित पदार्थ लगाना चाहिये, न उन्हें किसी तरह के आभूषणादि पहनने चाहियें।

1—Sex, Sin and Sanctity J. L. Davies.

पुरुषों को अपनी ओर आकर्षित करने के लिये उन्हें किसी प्रकार का प्रयत्न नहीं करना चाहिये। उन्हें तो अपना भेस इस तरह का बना लेना चाहिये मानो उनके पति उनको सदा के लिये छोड़ गये हैं और वे दुखी विधवा हैं।

पुरुषों में यदि किसी को सोते समय किसी स्त्री का स्वप्न दीखता है और उस कारण उसका वीर्य स्खलित हो जाता है तो उसको उस बात को अपने साथियों से नहीं छिपाना चाहिये। वे उसको किन्हीं उपायों से पवित्र करते हैं। यदि वह रात के स्वप्न की बात छिपाता है तो समाज को बड़ी हानि पहुंचाता है क्योंकि उससे सारे सामूहिक श्रम के व्यर्थ हो जाने का भय रहता है।'[1]

इस प्रकार के विश्वास अनेक आदिम जातियों के बीच मिले हैं। इन विश्वासों से यह पूरी तरह स्पष्ट हो जाता है कि आदिम मनुष्य पशु अवस्था में होते हुए भी पशु से बहुत भिन्न था। उसमें विचार शक्ति थी। वह वस्तु को समझने की चेष्टा करता था। उसके हृदय में प्रकृति के सारे रहस्य को जानने की जिज्ञासा थी और इसके साथ ही प्रकृति के काम व्यापार को अपनी इच्छानुसार चलाने की इच्छा भी थी तभी तो उसने अनेक इस तरह के विश्वास बनाये थे। पशुओं में सम्भोग केवल व्यक्तिगत आनन्द के लिये ही चलता है लेकिन मनुष्य ने तो व्यक्तिगत आनन्द के परे उसका एक सामाजिक महत्व भी स्वीकार किया। हित और अहित के निर्णायक के रूप में उसकी व्यवस्था की।

इसके साथ यह समझना भूल होगी कि आदिमवासियों ने बिना किसी कारण साम्यसाम्य के इन विश्वासों को बना लिया। हमने क्षेत्र के रूप में स्त्री की मान्यता के विषय में बताया है कि जिस प्रकार हल लेकर पृथ्वी को जोता जाता है और उसमें बीज डालकर यह आशा की जाती है कि बीज फूट कर पौधे के रूप में बदलेगा और फिर उससे अन्न पैदा होगा, इसी प्रकार बीज के बारे में ज्ञान होने से पहले भी प्रकृति के अनेक कार्यों का साम्य सम्भोग के साथ आदिम-मनुष्य ने स्थापित कर लिया था। उसने देखा था कि जिस प्रकार स्त्री के साथ सम्भोग करने से उसके पेट में गर्भ रहता है और फिर बच्चा पैदा होता है इसी प्रकार पौधे से पेड़ बन कर उसमें फल और फूल आते हैं, उसी प्रकार पानी में जाल डालने से मछली आती है, उसी प्रकार दूध से दही बन जाता है। इस तरह प्रकृति के इन विभिन्न कार्यों में साम्य है तो अवश्य इनका कारण एक ही होना चाहिये। आदिमनिवासी की यह एक साधारण और स्वाभाविक कल्पना थी। उसने पेड़ वृक्ष मछली आदि को इसी श्रेणी में रखा था जिस श्रेणी में स्त्री को रखा था। तब उसने अनुमान लगाया कि

१—Sex Sin and Sanctity

चूंकि सभी कार्यों का एक ही कारण है तो फिर स्त्री के साथ सम्भोग करने से प्रकृति के सारे कार्य भी ठीक तरह चलेंगे। जिस प्रकार स्त्री के पेट से बच्चा पैदा होगा उसी प्रकार पेड़ में फल आयेंगे पानी में मछली आयेगी भूमि से बड़ी जमेगा। बस इसी विश्वास के साथ स्त्री और पुरुष का सम्भोग एक धार्मिक कृत्य माना गया और उसके सम्बन्ध में नियम बनने लगे। अब तो यहाँ तक धारणा बन गई कि स्त्री और पुरुष के सम्भोग से ही प्रकृति का सारा कार्य व्यापार चलता है।

फ्रेजीस ने अपनी 'पुस्तक यौन-जीवन पाप और पुण्य" में इस तरह की धारणाओं को विस्तृत रूप से एकत्रित किया है। उसके अलावा आदिम जातियों के विश्वासों की खोज करने वाले अन्य विद्वानों ने भी इसी तरह के विश्वासों को आम रूप से प्रचलित पाया है। आदिमवासियों के जादू टोनों का यही मुख्य आधार है।

सामूहिक विवाह पद्धति टूटने के पश्चात जब जोड़े का परिवार उठा तो एक साथ ही पति-पत्नी के यौन-जीवन के विषय में दृढ़ मर्यादायें निश्चित नहीं हुई। उनके पूरी तरह पातिव्रत्य के रूप ले लेने तक स्त्री और पुरुष के यौन सम्बन्धों पर गण विवाह-पद्धति का पूरा प्रभाव रहा। पाप और पुण्य का रूप आज की तुलना में कुछ दूसरे प्रकार का ही रहा। उस बीच की स्थिति के सम्बन्ध में ही कुछ बतलाना आवश्यक है।

अमरीकी प्राचीन जातियों की खोज होने पर यह पाया गया कि वे जातियाँ आज भी अपनी जंगली अवस्था में रह रही हैं। यद्यपि उनके बीच गण विवाह प्रणाली मिट चुकी है और एक पुरुष एक स्त्री के साथ विवाह करके जोड़े के रूप में रहता है लेकिन उनके साथ एक ऐसा नियम है जो पुराने स्वतन्त्र यौन-सम्बन्धों की ओर इंगित करता है।

उत्तरी अमरीकी जातियों के बीच जो आदमी किसी परिवार की लड़की के साथ विवाह करता है तो स्वाभाविक रूप से उस लड़की की सभी छोटी बहिनें जवान होते ही उसकी पत्नी जैसी बन जाती हैं। वह सभी के साथ स्वतन्त्रतापूर्वक सम्भोग कर सकता है।

बन्क्रोफ्ट ने कैलिफोर्निया के पश्चिमी भाग की कुछ जातियों की खोज करके पता लगाया कि वे जातियाँ भी अपनी जंगली अवस्था से आगे नहीं बढ़ी थीं लेकिन उनके बीच गण विवाह प्रणाली समाप्त हो चुकी थी। जोड़े का परिवार प्रचलित हो चला था लेकिन फिर भी उनके बीच कुछ ऐसे उत्सव होते हैं जिनमें कई जातियों के लोग एक स्थान पर एकत्रित होते हैं और वहाँ स्त्री

और पुरुषों के बीच खुला सम्भोग चलता है। वहाँ सभी पुरुषों का सभी स्त्रियों पर समान अधिकार होता है।

निश्चित रूप से यह उत्सव प्रणाली इससे पूर्व की गए विवाह प्रथा का ही रूप है। वैस्टरमार्क ने अनेक जातियों के विषय में लिखते समय इस तरह की उत्सव प्रणाली का वर्णन किया है।

अनेक आदिम जातियों के बीच तो सरदार को या जादू टोने से सम्बन्धित पुजारी (Sorcerer priest) को यह अधिकार होता था कि वह जाति की किसी भी स्त्री के साथ स्वतन्त्रतापूर्वक सम्भोग कर सकता था।

कुछ जातियों के बीच नियम था कि जब कोई पुरुष विवाह करके किसी स्त्री को लाता था उस समय पहले उसके मित्र और सम्बन्धी उस स्त्री के साथ सहवास करते थे और अन्त में वह पुरुष जो उसका पति होता था उसके साथ सहवास करता था। ऐबिसीनिया के बेरियस लोगों (Bareas of Abyssinia) के बीच आज तक यह प्रथा रही है।

कहीं कहीं यह भी प्रथा प्रचलित थी कि जाति का मुखिया उस स्त्री के साथ पहली रात को सहवास करेगा जिसको विवाह करके उस जाति का कोई पुरुष लाया हो। भारतवर्ष में मध्यकाल तक यह प्रथा प्रचलित थी। कहीं-कहीं तो आधुनिक समय तक गाँव के ठाकुर को यह अधिकार होता था कि वह शूद्र वर्ण की उस स्त्री के साथ पहली रात सोयेगा जिसे ब्याह कर गाँव में लाया गया हो। इसके पश्चात उसके पति का उस स्त्री पर अधिकार माना जाता था। इसमें स्त्री के ऊपर किसी तरह का पाप नहीं लगता था। यह तो मर्यादा थी। इसी प्रकार पातिव्रत के आदर्श के अतिरिक्त जितने प्रकार के यौन-सम्बन्ध इस बीच के समय में पाये जाते हैं उन सबको भी मर्यादा और नियम के रूप में स्वीकार किया गया था। उसमें साथ किसी प्रकार की पाप की भावना नहीं थी।

प्राचीन काल में देवालयों के साथ देवदासियाँ रहती थीं। इसी प्रकार यूरोप में भी देवालयों के साथ इसी प्रकार की देवदासियाँ लगी हुई थीं जो खुले रूप से वहाँ पुरुषों के साथ प्रणय-क्रीड़ा करती थी।

बैबिलोनिया में नियम था कि विवाह के पश्चात वर्ष में एक बार प्रत्येक स्त्री माइलिटा के मन्दिर में जाकर पर-पुरुष अर्थात पुजारी के साथ सहवास करे। यह सब बड़ा ही पवित्र कार्य माना जाता था। इसीलिये यौन-सम्बन्धों के अध्ययन के बारे में देश काल के विचार करने की बात हर समय रहनी

है। पाप और पुण्य का निर्णय भी युग परिस्थितियों की सापेक्षता रखता हुआ चलता है।

संक्षेप में बीच की स्थिति के विषय में हमने लिखा है। आखिर क्या कारण था कि स्त्री ने ही थोड़े के रूप में पुरुष का आधिपत्य स्वीकार किया और अपनी परतन्त्रता के बीज उसने स्वयं ही बोये। जैसे ही मातृसत्ता टूटी और स्त्री का अपहरण होने लगा। उसी समय से उसकी स्थिति बदल गई। उसका सारा सामाजिक सम्मान समाप्त हो गया। पुरुष अपने शारीरिक बल के आधार पर उसके अधिकारों को छीनने लगा। उस स्थिति में उसने स्वयं एक पुरुष को अपने रक्षक के रूप में स्वीकार किया और यहीं से पातिव्रत की धारणा का उदय हुआ।

बैकोफन ने यही मत रखा है ज्यों-ज्यों यौन-सम्बन्धों का प्राचीन रूप हटता गया और धन के आर्थिक जीवन में परिवर्तन आया त्योंही स्त्री की स्थिति में परिवर्तन आता गया। आदिम साम्यवादी व्यवस्था टूट गई और उसके स्थान पर व्यक्तिगत सम्पत्ति उठी। पुरुष सम्पत्ति का स्वामी बन बैठा। उसका अधिकार बढ़ गया। मातृसत्ता की मान्यता कम होने लगी। स्त्री को काम तृप्ति का साधन मानकर उसकी छीना झपटी शुरू हो गई। पुरुष का शारीरिक बल और आर्थिक दृष्टि से उसका सामाजिक स्थान उसकी सत्ता को स्त्री की सत्ता से कहीं आगे बढ़ा ले गया। तब स्त्री ने अपने आपको इस छीना झपटी से बचाने के लिये पुरुष का आधिपत्य माना। बस यहीं से पितृसत्ता अपना दृढ़ आधार जमा गई।

परन्तु इसके साथ यह भी एक सत्य है कि स्त्री ने पहले पुरुष से अधिक काम लिया। पुरुष जानता न था इसलिये प्रजनन क्रिया का आतंक उस पर छाया था। स्त्री आराम से रहती थी, पुरुष काम करता था। काम करने के कारण सारे साधन उसी के हाथ में थे। जब उसे ज्ञात हुआ कि वह ही प्रजनन में प्रमुख था उसने शीघ्र ही आधिपत्य जमा लिया। स्त्री पहले से उत्तरदायित्व खो चुकी थी। अतः वह उस पर आश्रित हो गई। तभी से उसने पुरुष को आकर्षित करने को सौंदर्य का आधार लिया। हमने प्रारम्भिक अवस्था से लेकर पितृसत्तात्मक समाज के उदय तक के यौन-सम्बन्धों की चर्चा की है।

पातिव्रत का आदर्श किन कारणों से समाज में मान्य हुआ और उसने स्त्री के जीवन की पुरुष की बर्बरता से किस प्रकार रक्षा की थी यह बताया। यही पातिव्रत का आदर्श बाद में चलकर स्त्री के सिर पर बोझा बन गया। इसी के बल पर पुरुष ने उसके सभी सामाजिक तथा राजनैतिक अधिकारों को छीन लिया और वह घर की दासी की तरह परिवार में रहकर अपना जीवन निर्वाह

करती रही लेकिन वह स्थिति काफी बाद में ही आई थी और इसके आने तक पुरुष न जाने अपने जीवन को सुखी बनाने के लिए कितने प्रयोग कर गया था। इधर तो स्त्री पुरुष के लिए सभी पापों की जड़ बन गई थी और इसीलिये उसने वैराग्य का आश्रय लेकर स्त्री का तिरस्कार किया और दूसरी तरफ स्त्री पुरुष के अत्याचारों से इतनी अधिक पीड़ित हो चुकी थी कि बाद के दार्शनिकों ने उनके अधिकारों की रक्षा करने के लिये नियम बनाये और पुरुष की निरंकुशता पर रोक लगाई। वह समय यौन-सम्बन्धों में घोर विषमता का समय था।

हम अब अपना ध्यान भारत की नारी की ओर आकर्षित करना चाहते हैं, इसके पश्चात् तुलना रूप से अन्य देशों की भी चर्चा करेंगे। तब नरनारी के जीवन की कहानी का अच्छी प्रकार ज्ञान हो जायेगा। आज तक यौन-सम्बन्धों में एक प्रकार की विषमता रही है उसकी वास्तविकता भारतीय नारी की कहानी सुनकर तुम्हारे सामने पूरी तरह स्पष्ट हो जायेगी।

भारतवर्ष का लिपि क्रमबद्ध इतिहास ईसा से करीब चार सौ वर्ष पहले से ही प्रारम्भ होता है। उससे पहले तो अनेक धार्मिक ग्रन्थों के आधार पर बुद्ध से पहले के समाज की कल्पना करनी पड़ती है। उसमें सामाजिक जीवन के विकास का बिलकुल ठीक क्रम प्रस्तुत करना असम्भव ही है लेकिन फिर भी वदिक काल उपनिषदकाल आदि के रूप में हम विकास क्रम को प्रस्तुत करने की चेष्टा करते हैं। मैं वैदिक काल से ही पुरुष और स्त्री के द्वन्द्व को प्रस्तुत करता हूँ।

वैदिक काल में पितृसत्तात्मक समाज व्यवस्था थी। वेदों में अनेक स्थानों पर पितरों की वन्दना की गई है। ऋग्वेद में ऋषि प्रार्थना करता है अवन्तु मा पितरो देवहूतौ। अर्थात् यज्ञ कार्य में पितर मेरी रक्षा करें। पितरों से वह रक्षा धन व अन्न की याचना करता है। पिता को वह त्राता तथा पालन कर्ता के रूप में स्मरण करता है। इन्द्र वैदिक काल का सर्वोच्च देवता है। वरुण के पश्चात् उसी की सर्वत्र पूजा होने लगा थी। उसे भी वेद के ऋषि ने पितृतम कहा है।

ऋग्वेद में ऋज्राश्व की कथा आती है। वह स्पष्ट रूप से पितृसत्तात्मक समाज व्यवस्था और उसके विधान की ओर संकेत करती है। कथा इस प्रकार है

वृषागिरि के पुत्र राजर्षि ऋज्राश्व के समीप अश्विनों का वाहन गधा वृकी बनकर आया। उसने उसके आहार के लिए नागरिकों की सौ भेड़ें काट डाली। नागरिकों की इससे बड़ी हानि हुई। इसी अपराध के कारण पिता ने

ऋज्राश्व की आँखें फोड़ दीं। बाद में देवताओं के वैद्य अश्विनीकुमारों ने उसके नेत्रों को ठीक किया था।

इस तरह पिता को वैदिक युग में अपने पुत्र के ऊपर पूरे अधिकार थे। वह कुमारी बेटे को बध्य दे सकता था और हर तरह से परिवार का स्वामी होता था। यहाँ तक कि ऐतरेय ब्राह्मण में तो पिता को पुत्र को बेचने का अधिकार भी दे दिया गया है। शुनःशेप की कथा इसके उदाहरण स्वरूप में मिलता है।

इक्ष्वाकु राजा हरिश्चन्द्र ने निःसन्तान होने पर वरुण से इस शर्त पर रोहित नामक पुत्र प्राप्त किया कि वह उसे यज्ञ में वरुण को ही समर्पित कर देगा। जब इसके लिए समय आया तो राजा एक महान चिन्ता में पड़ गया और उसने एक बार तो अपने पुत्र को इस तरह समर्पित न करने का विचार किया लेकिन फिर देवता के प्रति दिया हुआ वचन उसके हृदय को डराने लगा। कुछ दिनों पश्चात् वरुण ने उसको बध्य दिया। उसे जलोदर रोग हो गया। तब उसने अपने वचन को पूरा करने का निश्चय किया। इसी बीच रोहित अजीगर्त नामक एक गरीब ब्राह्मण से मिला। उस ब्राह्मण के शुनःपुच्छ, शुनःशेप और शुनोलांगूल नामक तीन पुत्र थे। शुनःपुच्छ को तो अजीगर्त स्वयं बहुत अधिक प्यार करता था और शुनोलांगूल अपनी माता का बहुत प्यारा था। मझले पुत्र शुनःशेप को वे दोनों में से कोई भी अधिक प्यार नहीं करता था रोहित ने अजीगर्त से शुनःशेप को बेचने के लिए कहा। अजीगर्त तैयार हो गया और उसने अपने पुत्र शुनःशेप को सौ गौएं लेकर बेच दिया। फिर दो बार सौ सौ गौएं लेकर उसने उसे बलि के लिये यूप से बाँधा लेकिन शुनःशेप ने अभ्यस्ति देवताओं की प्रार्थना की और उससे वह बन्धनमुक्त हो गया। इसके पश्चात् महर्षि विश्वामित्र ने उसे अपना ज्येष्ठ पुत्र स्वीकार कर कर लिया।'

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि वैदिक युग में पितृसत्ता यहाँ तक अपनी चरम सीमा पहुँची थी कि एक पिता अपनी सन्तान को सम्पत्ति की भाँति बेच भी सकता था। आगे आकर तो यह अधिकार मर्यादित हो गया। शास्त्रकारों ने इसका विधान बदल कर दिया। वासिष्ठ धर्मसूत्र में शास्त्रकार कहता है—'पुरुष माता-पिता के शोणित शुक्र से उत्पन्न होता है, माता पिता उसके जन्म के कारण हैं अतः उनको पुत्र के दान विक्रय और त्याग का अधिकार है। किन्तु इकलौते बेटे का दान और प्रतिग्रह नहीं करना चाहिये।

आगे चलकर मनु ने भार्या पुत्र और दास को एक ही कोटि में रखकर उनको समान दर्जा दिया है, क्योंकि वे लोग जो कुछ भी कमाते हैं, उनके स्वामी का धन उस पर अधिकार होता है।

मनु के स्वर के साथ भारत का भी स्वर बुद्धि की ही स्वतंत्रता मानने में उठता है।

पिता का यह प्रभुत्व सम्भवतया वैदिककाल से पूर्व ही आ चुका होगा। इसका उदय उसी समय से समझना चाहिये जब से कृषि-युग प्रारम्भ हुआ और पुरुष ने हल लेकर पृथ्वी को जोता और उसम से अन्न उत्पन्न किया। वहीं से पुरुष की आर्थिक सत्ता स्त्री से ऊपर उठ जाती है। यह भी सत्य है कि कृषि का प्रारम्भ तो स्त्री ने किया किन्तु पुरुष पर बोझ छोड़ दिया। जब पुरुष को सन्तानोत्पादन में अपना महत्व ज्ञात हुआ वह स्वामी बन बैठा और स्त्री शिशु पालन के कारण आधीन हो गई। वैदिक आर्य खेती करना जानते थे। बार बार ऋषि वेद की ऋचाओं द्वारा इन्द्र से प्रार्थना करते हैं कि हे इन्द्र ! हमें अन्न दो। हे वरुण ! हमें जल दो आदि।

इसके अलावा एक और महत्त्वपूर्ण बात है। कुछ का मत है कि जिस समय आर्य भारत में आये थे उस समय उन्हें यहाँ आकर अनेक जातियों से टक्कर लेनी पड़ी थी। स्थान स्थान पर युद्ध होता था तब कहीं जाकर वे लोग यहाँ बस पाये थे। द्राविड़ जाति के लोग दक्षिण को चले गये थे। देखा जाय तो आर्यों के आगमन का समय पूरे युद्ध का समय कहना चाहिये उस युद्ध में पुरुष की ही प्रभुता अधिक थी। वही जाकर रणभूमि में शत्रुओं से टक्कर लेता था। आर्यों में पुरुष शक्ति ही प्रमुख थी। उसी के बल पर उन्होंने दस्युओं को हराया था, स्वाभाविक था कि इससे पुरुष का स्थान स्त्री से कहीं ऊपर उठ गया और वह गणपति के रूप में स्त्री और गण दोनों का स्वामी हो गया।

पिता की प्रमुखता का एक कारण और भी था कि मातृसत्तात्मक समाज के टूटने के पश्चात् उत्तराधिकार पुत्र को पिता से ही प्राप्त होता था। इसलिये पुत्र पिता को देवता के समान समझने लगा और इसी कारण पिता की इतनी निरंकुशता बन पाई, नहीं तो मैलिनेशिया में जहाँ अभी तक मातृसत्तात्मक समाज है और जहाँ माता के भाई तथा भाई के पुत्र पुत्री ही सम्पत्ति के उत्तराधिकारी होते हैं, पिता की मान्यता बहुत कम है। वहाँ पिता का पुत्र के ऊपर किसी प्रकार का अधिकार नहीं रहता। यदि जाति के लोग चाहें तो पुत्र को गण से निकालकर उसके माता के गण में भेज सकते हैं। वह किसी भी तरह अपने पुत्र को नहीं रोक सकता। वैदिक युग में यह मातृसत्ता पूरी तरह टूट चुकी थी और व्यक्तिगत सम्पत्ति भी पशुधन, अश्वधन तथा धान्य के रूप में आ चुकी थी, इसलिये पिता को और भी महत्ता मिल गई क्योंकि पुत्र उसके ऊपर आश्रित रहने लगा। वह परिवार का स्वामी हो गया।

फिर इन सबके ऊपर जो गुरुतम था वह अन्धविश्वास वैदिक युग में इन

च्यवन की आँखें फोड़ दीं। बाद में देवताओं के वैद्य अश्विनीकुमारों ने उसके नेत्रों को ठीक किया था।

इस तरह पिता को वैदिक युग में अपने पुत्र के ऊपर पूरे अधिकार थे। वह कुमारी बेटे को दण्ड दे सकता था और हर तरह से परिवार का स्वामी होता था। यहाँ तक कि ऐतरेय ब्राह्मण में तो पिता को पुत्र को बेचने का अधिकार भी दे दिया गया है। शुनःशेप की कथा इसके उदाहरण स्वरूप में मिलता है।

इक्ष्वाकु राजा हरिश्चन्द्र ने निःसन्तान होने पर वरुण से इस शर्त पर रोहित नामक पुत्र प्राप्त किया कि वह उसे यज्ञ में वरुण को ही समर्पित कर देगा। अब इसके लिए समय आया तो राजा एक महान चिन्ता में पड़ गया और उसने एक बार तो अपने पुत्र को इस तरह समर्पित न करने का विचार किया लेकिन फिर देवता के प्रति दिया हुआ वचन उसके हृदय को जलाने लगा। कुछ दिनों पश्चात वरुण ने उसको दण्ड दिया। उसे जलोदर रोग हो गया। तब उसने अपने वचन को पूरा करने का निश्चय किया। इसी बीच रोहित अजीगर्त नामक एक गरीब ब्राह्मण से मिला। उस ब्राह्मण के शुनःपुच्छ, शुनःशेप और शुनोलांगूल नामक तीन पुत्र थे। शुनःपुच्छ को तो अजीगर्त स्वयं बहुत अधिक प्यार करता था और शुनोलांगूल अपनी माता का बहुत प्यारा था। मझले पुत्र शुनःशेप को वे दोनों में से कोई भी अधिक प्यार नहीं करता था रोहित ने अजीगर्त से शुनःशेप को बेचने के लिए कहा। अजीगर्त तैयार हो गया और उसने अपने पुत्र शुनःशेप को सौ गौएं लेकर बेच दिया। फिर दो बार सौ सौ गौएं लेकर उसने उसे बलि के लिये यूप से बाँधा लेकिन शुनःशेप ने वरुणादि देवताओं की प्रार्थना की और उससे वह बन्धनमुक्त हो गया। इसके पश्चात महर्षि विश्वामित्र ने उसे अपना ज्येष्ठ पुत्र स्वीकार कर लिया।'

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि वैदिक युग में पितृसत्ता यहाँ तक अपनी जड़ जमा चुकी थी कि एक पिता अपनी सन्तान को सम्पत्ति की भाँति बेच भी सकता था। आगे चलकर तो यह अधिकार मर्यादित हो गया। शास्त्रकारों ने इसका विधान खड़ा कर दिया। वासिष्ठ धर्मसूत्र में धारणकार कहता है—'पुरुष माता पिता के शोणित शुक्र से उत्पन्न होता है, माता पिता उसके जन्म के कारण हैं, अतः उनको पुत्र के दान, विक्रय और त्याग का अधिकार है। किन्तु इकलौते बेटे का दान और प्रतिग्रह नहीं करना चाहिये।

आगे चलकर मनु ने भार्या, पुत्र और दास को एक ही कोटि में रखकर इनको अधम कहकर गिनाया है, क्योंकि ये लोग जो कुछ भी कमाते हैं, उनके स्वामी का उन सब पर अधिकार होता है।

मनु के स्वर के साथ नारद का भी स्वर यही की ही स्वतन्त्रता मानने में उठता है।

पिता का यह प्रमुत्व सम्भवतया वैदिककाल से पूर्व ही आ चुका होगा। इसका उदय उसी समय से समझना चाहिये जब से कृषि-युग आरम्भ हुआ और पुरुष ने हल लेकर पृथ्वी को जोता और उसमें से अन्न उत्पन्न किया। यहीं से पुरुष की आर्थिक सत्ता स्त्री से ऊपर उठ जाती है। यह भी सत्य है कि कृषि का प्रारम्भ तो स्त्री ने किया किन्तु पुरुष पर बोझ छोड़ दिया। जब पुरुष को सन्तानोत्पादन में अपना महत्व ज्ञात हुआ वह स्वामी बन बैठा और स्त्री शिशु पालन के कारण आधीन हो गई। वैदिक आर्य खेती करना जानते थे। बार बार ऋषि वेद की ऋचाओं द्वारा इन्द्र से प्रार्थना करते हैं कि हे इन्द्र! हम प्रसन्न हों। हे वरुण! हमें जल दो आदि।

इसके अलावा एक और महत्वपूर्ण बात है। कुछ का मत है कि जिस समय आर्य भारत में आये थे, उस समय उन्हें यहाँ आकर अनेक जातियों से टकरा लेनी पड़ी थी। स्थान स्थान पर युद्ध होता था तब कहीं जाकर वे लोग यहाँ बस पाये थे। द्राविड़ जाति के लोग दक्षिण को चले गये थे। देखा जाय तो आर्यों के आगमन का समय पूरे युद्ध का समय कहना चाहिये उस युद्ध में पुरुष की ही महत्ता अधिक थी। वही जाकर रणभूमि में शत्रुओं से टकरा लेता था। आर्यों में पुरुष शक्ति ही प्रमुख थी। उसी के बल पर उन्होंने दस्युओं को हराया था, स्वाभाविक था कि इससे पुरुष का स्थान स्त्री से कहीं ऊपर उठ गया और वह गणपति के रूप में स्त्री और गण दोनों का स्वामी हो गया।

पिता की प्रमुखता का एक कारण और भी था कि मातृसत्तात्मक समाज के टूटने के पश्चात उत्तराधिकार पुत्र को पिता से ही प्राप्त होता था। इसलिये पुत्र पिता को देवता के समान समझने लगा और इसी कारण पिता की इतनी निरंकुशता बन पाई नहीं तो मैलिनेशिया में जहाँ अभी तक मातृसत्तात्मक समाज है और जहाँ माता के भाई तथा भाई के पुत्र पुत्री ही सम्पत्ति के उत्तराधिकारी होते हैं, पिता की मान्यता बहुत कम है। वहाँ पिता का पुत्र के ऊपर किसी प्रकार का अधिकार नहीं रहता। यदि जाति के लोग चाहें तो पुत्र को गण से निकालकर उसके माता के गण में भेज सकते हैं। वह किसी भी तरह अपने पुत्र को नहीं रोक सकता। वैदिक युग में यह मातृसत्ता पूरी तरह टूट चुकी थी और व्यक्तिगत सम्पत्ति भी पशुधन, अस्त्रशस्त्र तथा धान्य के रूप में आ चुकी थी इसलिये पिता को और भी महत्ता मिल गई क्योंकि पुत्र उसके ऊपर आश्रित रहने लगा। वह परिवार का स्वामी हो गया।

फिर इन सबके ऊपर भी पुरुष का यह अन्धविश्वास वैदिक युग में दृढ़

चुका था कि पुत्रोत्पत्ति के लिये पिता किसी भी तरह उत्तरदायी नहीं होता। कोई दैवी शक्ति आकर माता के गर्भ में पुत्र को रखती है और तब माता उसको पैदा करती है और वही उसको पालती पोसती है और इसीलिए पिता का पुत्र से कोई सम्बन्ध नहीं होता इसके ऊपर वैदिक काल में यह पुरुष जान चुका था कि उसके वीर्य से ही पुत्र पैदा होता है तभी तो वाशिष्ठ धर्मसूत्र में लिखा है शोणित शुक्र सम्भवा पुरुषो भवति माता पितृ निमित्तकः।

इस पितृसत्तात्मक समाज में पिता सदा वीर पुत्रों की कामना किया करता था। वेद में जहाँ भी इन्द्र, सोम, अग्नि आदि से प्रार्थना की गई है, वहीं आर्यों ने वीर पुत्रों को माँगा है। ऋग्वेद का मन्त्र है जिसे आज भी पुरोहित वैवाहिक आशीर्वाद देते समय नव दम्पति से कहता है पुत्रैर्नप्तृभिर्मोदमानौ स्वेगृहे।

अथर्ववेद में भी वीरप्रसूति के लिये प्रार्थना है और स्त्री के लिये यही आदेश है कि वह पहले पुरुष सन्तान पैदा करे और बाद में भी उसी प्रकार वीर पुत्र पैदा करे।

आर्य तो गर्भाधान को तभी सार्थक समझते थे जबकि स्त्री के गर्भ से वीर पुत्र पैदा हो। तैत्तिरीय ब्राह्मण में स्पष्ट लिखा हुआ है : पुंसे पुत्राय वेत्तवै।

अथर्ववेद का निम्न मन्त्र विवाह के बाद चौथे दिन होने वाले चतुर्थी कर्म अथवा गर्भाधान संस्कार के समय पढ़ा जाता था आ ते योनि गर्भ एतु पुमा न्बाण इवेषुधिम्। आ वीरो अत्र जायतां पुत्रस्ते दशमास्य।

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि वैदिक युग तथा उसके बाद तक के युग काल में पिता वीर पुत्र की कामना अधिक करता था और पुत्र प्राप्ति के लिये ही पुंसवन संस्कार किया जाता था। पुत्री के लिए कोई याचना नहीं करता था। यहीं आकर स्त्री का दर्जा घट जाता था। सामाजिक क्षेत्र में उसका कोई महत्त्व नहीं रहा था। आर्य युद्ध करके अपनी सत्ता स्थापित करने में लगे हुए थे उसमें स्त्री पूरी तरह असहाय थी। वह तो घर की देखभाल कर सकती थी। युद्ध करना उसका काम नहीं था इसलिये पिता पुत्रियों की अपेक्षा पुत्रों की कामना अधिक करता था। पुत्र ही शत्रु को मारने जाता है और वही सच्चा वीर है, तभी तो यजुर्वेद में कहा गया है कि पुत्र ही वीर है।

विवाह संस्कार के समय पति को आदेश दिया जाता था कि वह दस वीर पुत्र पैदा करे क्योंकि वे ही दस्युओं का वध कर सकते थे।

वैदिक युग में कन्या उपेक्षा का पात्र रही तभी तो ऐतरेय ब्राह्मण में कन्या को दुःख का कारण बताया गया है। बाद में जाकर तो कन्या के साथ कितने ही पाप जुड़ जाते हैं। पुत्र की तुलना में पुत्री का तिरस्कार स्पष्ट रूप से बताता है कि वैदिक काल की धार्मिक परिस्थितियों के बीच स्त्री अपनी स्वतन्त्र सत्ता

जो बैठी थी। पुरुष उसका स्वामी बन चुका था। उसने स्वयं ने भी अपने को निर्बल और निस्सहाय जानकर पुरुष का आधिपत्य स्वीकार कर लिया था।

अधिकतर यह माना जाता है कि वैदिककाल में स्त्री पुरुष के साथ बैठकर यज्ञादि करती थी और कैकयी आदि रानियों का उदाहरण देकर यह सिद्ध किया जाता है कि उस समय स्त्रियाँ पुरुषों के साथ युद्ध भूमि में भी जाया करती थी। इसलिये उनका स्थान किसी प्रकार पुरुषों की तुलना में गिरा नहीं था। केवल कैकयी का उदाहरण देकर ही यह बात सिद्ध नहीं की जा सकती। यदि स्त्री युद्ध में जाकर पुरुष के साथ युद्ध करती तो कन्या को दुःख का कारण नहीं समझा जाता। फिर वीर पुत्रों के साथ वीर पुत्रियों के लिये भी वैदिक आर्य प्रार्थना करते।

यज्ञ का अधिकार स्त्रियों को था और यही कुछ दिनों तक उनके सम्मान की रक्षा कर सका। बाद में चल कर तो यह अधिकार भी छिन गया। बाद में ब्राह्मण पुरोहित ही सारा कार्य करने लगा। उस समय स्त्री को मूर्खा और अपवित्र समझा गया। शूद्र वर्ण में उसे रखा गया।

स्त्री के साथ सदैव यह दोष लगाया गया कि वह पुरुष को व्यभिचार की ओर प्रेरित करती है। वह स्वभाव से ही अधिक कामुक होती है। छिपकर वह अनेक घृणित कार्य करती है। काम से पीड़ित होकर वह कैसा भी घृणित और दूषित कार्य कर सकती है। इस प्रकार की बातें आगे चलकर पुराणों में काफी मिलती है। महाभारत जैसे ग्रन्थ में जहाँ एक ओर स्त्री के गौरव को काफी ऊँचा उठाया गया है दूसरी ओर उसे सदा कामवासना में लिप्त रहने वाली कहा है। इसके साथ पुरुष को सावधान किया गया है कि वह स्त्री से सदैव सावधान रहे। स्त्री सदा पुरुषों पर काम-जाल फेंक कर उन्हें फँसाया करती है और इस तरह सर्वनाश का कारण बनती है।

वैदिक काल में स्त्री के ऊपर इस प्रकार के दोष नहीं लगाये गये थे। इसका मूल कारण यही था कि उस समय के यौन-सम्बन्ध पौराणिक युग के यौन-सम्बन्धों से कुछ भिन्न प्रकार के थे।

प्राचीन जातियों के यौनसम्बन्धों की चर्चा करते हुए हमने लिखा है कि उनके बीच स्त्री को अपने पति के अलावा अन्य व्यक्ति के साथ भी सम्भोग करने की स्वतन्त्रता प्राप्त थी और इस कारण उसको किसी प्रकार पतित नहीं समझा जाता था। यही परम्परा वैदिक युग में कुछ अंशों तक चली। यह मानना भ्रमपूर्ण है कि पातिव्रत का आदर्श पूरी तरह वैदिक काल में मान्य हो चुका था। यद्यपि एक पुरुष के लिए एक स्त्री का विधान तो करता है और—

उसके लिए पति-भक्ति का आदेश भी दिया जाता है लेकिन पौराणिक काल की तरह यदि कोई स्त्री परपुरुष से यौन-सम्बन्ध स्थापित कर लेती थी तो उसे दूषित नहीं समझा जाता था।

मैं कुछ ऐसी प्राचीन कथाएं रखता हूँ जो उन स्त्री और पुरुषों के सम्बन्ध जिन्होंने पातिव्रत की मर्यादा को तोड़ा था, फिर भी उनका समाज में वही में है सब सम्मान बना रहा।

सबसे पहले तो देवताओं के गुरु बृहस्पति के सम्बन्ध में एक कथा है। बृहस्पति के बड़े भाई उतथ्य कहीं बाहर गये हुए थे। उनकी गर्भवती पत्नी घर पर ही थी। उसके रूप को देखकर बृहस्पति कामातुर हो उठे और उन्होंने उसके साथ सहवास करने की इच्छा प्रकट की। उतथ्य की पत्नी ममता ने कहा—हे देवर! मेरे गर्भ में तुम्हारे भाई की सन्तान है, इसलिए तुम्हारा सहवास का विचार ठीक नहीं है। इस अवस्था में मैं तुम्हारे अमोघ वीर्य को सह नहीं सकूंगी।

बृहस्पति कामातुर हो रहे थे। उन्होंने ममता की बात न मानकर उसके साथ सम्भोग किया लेकिन गर्भ में स्थित उतथ्य के पुत्र दीर्घतमा ने अपनी माता के गर्भ-मार्ग को दोनों पैरों से बन्द कर लिया इस तरह बृहस्पति का वीर्य अन्दर नहीं जा सका।

यदि उस प्राचीन काल में देवर भाभी के बीच यौन-सम्बन्धों को पाप समझा जाता तो बृहस्पति कभी इस तरह का साहस नहीं करते और यदि कामातुर होकर उन्होंने इच्छा प्रकट भी की तो ममता अवश्य इस प्रस्ताव को दूषित और पापपूर्ण कहकर बृहस्पति को बुरा कहती लेकिन इस तरह की कोई बात कथा में नहीं मिलती इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि बृहस्पति और ममता के सम्बन्धों को प्रकट करने वाला समाज और उसकी व्यवस्था राम और सीता के समाज और उसकी मर्यादा से भिन्न तरह की थी।

राम का युग ऋग्वेद के बाद का युग है। उस समय तक सम्भवतया पातिव्रत का आदर्श पूरी तरह कठोर मर्यादा बनकर समाज में मान्य हो चुका था। लेकिन राम की कथा का जो रूप हमें आज मिलता है वह, गुप्तकाल के आस पास के समाज के रूप को भी उसकी मर्यादाओं के साथ रखता है। कथाकार ने ग्रन्थ का समारम्भ करते समय एक आदर्श प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है और वह आदर्श उस समाज के सामने प्रस्तुत किया गया है जिसमें काल के प्रभाव से काफी भ्रष्टाचार फैल चुका था। भाई भाई राज्य के लिए लड़ते थे। स्त्रियां व्यभिचारिणी होकर अपने स्वार्थों के लिए पुरुषों के बीच कलह और ईर्ष्या पैदा करती थीं। किसी प्रकार की मर्यादा की चिन्ता न करके स्त्री और

पुरुष अनेक तरह के पापाचार में रत थे तब उनके सामने मर्यादा पुरुषोत्तम राम का आदर्श रूप प्रस्तुत किया गया। उनके साथ ही सीता लक्ष्मण भरत आदि के भी आदर्श रूप आते हैं। सीता और लक्ष्मण के सम्बन्धों को तो हम जानते ही हैं। सदा ही लक्ष्मण ने अपने ज्येष्ठ भ्राता की पत्नी सीता को अपनी माता की तरह समझा। तुलसीदास जी ने तो यहाँ तक मर्यादा की रक्षा की है कि है जब कि किष्किन्धापर्वत पर राम और लक्ष्मण सीता को खोजते हुए पहुँचे तो सुग्रीव ने वे आभूषण राम के सामने रखे जिन्हें सीता विलाप करती हुए फेंक गई थी। राम ने लक्ष्मण से कहा-हे तात ! देखो क्या ये आभूषण सीता के ही हैं?

इस पर लक्ष्मण ने कहा —हे भ्राता ! मैं तो इन्हें नहीं पहचान सकता क्योंकि मैंने तो भाभज को सदा अपनी माता के समान समझा है और इसीलिए उनके पैरों से ऊपर दृष्टि उठाकर कभी देखने का साहस मैंने नहीं किया है। मैं नहीं कह सकता कि ये आभूषण सीताजी के हैं या और किसी के।

बृहस्पति और लक्ष्मण की कथा की तुलना करके देखना है। क्या बृहस्पति उसी मर्यादा को पालन करते हैं जिसे लक्ष्मण ने किया है? दोनों के आचरण पूरी तरह विपरीत मालूम होते हैं। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि वैदिककाल में पति-पत्नी देवर भाभज आदि के सम्बन्धों को इतनी कठोरता के साथ मर्यादित नहीं किया गया था जितना आगे चलकर! देखा जाये तो पातिव्रत का आदर्श पूरी तरह तो समाज म उसी समय प्रचलित हुआ और उसी समय इसके साथ नारी और पुरुष की भावनाओं का पूरी तरह के साथ समावेश हुआ जब दास-प्रथा के साथ सामन्त व्यवस्था उठ खड़ी हुई थी। आर्यों ने आते ही यहां साम्राज्य स्थापित नहीं कर लिया। कुछ के मत में वे लोग तो अपनी बर्बर अवस्था में यहां आये थे। उनके साथ अपनी बर्बर संस्कृति थी। किसी दृष्टि से तो यहां पर रहने वाली द्राविड़ जाति आर्यों से अधिक सभ्य और सुसंस्कृत थी। जो हो, आर्यों की संस्कृति पर यहां की अनेक जातियों का प्रभाव पड़ा है। उन आर्यों के बारे मे यह कल्पना कर लेना किसी तरह उचित नहीं है कि उनके बीच यौन-सम्बन्ध पातिव्रत के आदर्श तक पूरी तरह मर्यादित हो चुके थे। इसी लिए बृहस्पति आदि की कथाएं मिलती हैं। यदि इन्हीं बृहस्पति की मर्यादा पुरुषोत्तम राम के समाज की मर्यादा की कसौटी पर कस कर देखा जाये तो बृहस्पति पतित माने जायेंगे लेकिन आज भी बृहस्पति को देवताओं का गुरु माना जाता है और वेद पढ़ने वाला पण्डित आज भी पूर्ण सम्मान के साथ उनका नाम लेता है। इस नाम से उनके नाम को प्रतिष्ठा है। इसलिए यह नितांत आवश्यक है कि किसी समय के यौन-सम्बन्धों को उस समय का

सामाजिक परिस्थितियों के बीच रख कर देखना चाहिए। तभी उसके बारे में पाप और पुण्य का निर्णय किया जा सकता है।

इसी प्रकार उतथ्य के पुत्र दीर्घतमा की कहानी है। दीर्घतमा अन्धा था। वह काफी गरीब था। अपनी पत्नी का अच्छी तरह पालन-पोषण नहीं कर पाता था। उसकी पत्नी ही मेहनत करके उसका पेट भरती थी। दूसरे दीर्घतमा का अन्धापन भी उसके मार्ग में एक बहुत बड़ा रोड़ा था। इसीलिए न तो वह कहीं जा पाता था और न उसे कोई काम मिलता था। फिर भी कामुक वह इतना था कि सुरभि की सन्तान से गोधर्म (कामाचार) सीखकर उसने दिन में ही अपनी पत्नी से पशुओं की तरह सम्भोग किया। इससे सभी ऋषियों ने उसको धिक्कारा और आश्रम से बाहर निकाल दिया। उसकी पत्नी प्रद्वेषी भी अब उससे काफी परेशान हो चुकी थी। उसने एक दिन झल्लाकर दीर्घतमा से कहा—मैं तुम्हारा अन्धापन के कारण तुम्हारा और तुम्हारी सन्तान का पोषण करते-करते थक गई हूँ। अब मैं तुम्हें छोड़कर जाती हूँ।

इस पर दीर्घतमा ने पूछा प्रद्वेषी! कहाँ जायेगी तू?

प्रद्वेषी ने कहा—मैं किसी ऐसे पुरुष को अपना पति बनाऊंगी जो मेरा भरण पोषण कर सके। तुम्हारे पास यह दुखपूर्ण जीवन बिताना मेरे लिए किसी तरह सम्भव नहीं है।

दीर्घतमा ने प्रद्वेषी से रुक जाने के लिये काफी कहा लेकिन वह आवेश में आकर जाने लगी तब उसने भी आवेश में आकर कहा—मैं आज से ऐसी लोक-मर्यादा स्थापित करता हूँ कि यावज्जीवन नारी एक ही पुरुष को अपना पति बनायेगी। पति के जीवित रहने या मर जाने पर भी कोई स्त्री दूसरे पति की शरण नहीं ले सकेगी। यदि कोई नारी दूसरे व्यक्ति के पास जायेगी तो वह निस्सन्देह पतित होगी। पतिहीना अर्थात अविवाहिता विधवा और त्यक्तपतिका आदि स्त्रियों के लिए भी वह आज से पाप है।

यह कथा महाभारत में आती है और निश्चित रूप से ऐसे समाज की ओर संकेत करती है जब पातिव्रत का आदर्श स्त्री और पुरुष के सामने नहीं आया था। यह कथा भी तो आर्यों की है। दीर्घतमा ने पहले-पहल पातिव्रत की मर्यादा को स्थापित किया था।

इसी प्रकार श्वेतकेतु की कथा से सब परिचित हैं। उससे भी इस बर्बर समाज का चित्र उपस्थित हो जाता है जिसमें स्वतन्त्र सम्भोग चलता था लेकिन श्वेतकेतु की कथा उस समय की है जब मातृसत्ता समाप्त होने के बरवान स्त्री की महत्ता काफी कम हो चुकी थी और पुरुष अपनी शक्ति से उसे छीनकर ले जाता था और अपनी कामवासना तृप्त किया करता था। स्त्री पुरुष की बर्बरता

से पीड़ित हो रही थी तभी तो उसने अपनी रक्षा के लिये पातिव्रत के आदर्श को स्वीकार कर लिया और श्वेतकेतु ने उसके लिए आदर्श बना दिया। लेकिन फिर भी यह मानना असंगत होगा कि श्वेतकेतु के कहने पर एक ही दिन में पूरे भारतवर्ष में पातिव्रत का आदर्श मान्य हो गया। श्वेतकेतु की कहानी वैदिक-काल से पहले की है। इसी प्रकार दीर्घतमा और बृहस्पति की कहानियाँ भी पूर्ववैदिक काल की सभ्यता की ओर संकेत करती हैं। यदि हम ऐसा करेंगे कि पूर्व वैदिक काल के यौन-सम्बन्धों में और वैदिक काल के यौन-सम्बन्धों में काफी अन्तर रहा होगा यह ठीक है। विकास तो होता ही है लेकिन इसके साथ यह मानना असंगत होगा कि वैदिक काल में ही स्त्री पातिव्रत की मर्यादा में पूरी तरह बँध चुकी थी। हाँ आर्य सभ्यता इस दिशा की ओर बढ़ रही थी। यदि वैदिककाल में पातिव्रत की मर्यादा के बाहर के सभी सम्बन्धों को पाप समझ कर धिक्कारा जाता तो वैदिक ऋषि अवश्य बृहस्पति के इस कृत्य को भाई की पत्नी पर बलात्कार मानता और इसी कारण देव गुरु के इस कार्य को घृणित समझ कर उनकी निन्दा करता लेकिन इस प्रकार की कोई बात नहीं मिलती है इसलिये यह मानना तर्कसंगत नहीं होगा कि वैदिक काल में एक साथ ही पातिव्रत का आदर्श मान्य हो गया था।

मेरा यह लिखने का उद्देश्य केवल इतना ही है कि हम विकास-क्रम को अच्छी तरह देखकर यह धारणा मन से हटा दें कि केवल पातिव्रत ही धर्म है और वही शाश्वत है। पातिव्रत की धारणा आने की भी अपनी परिस्थितियाँ थी उनके अन्तर्गत इसको आदर्श माना गया लेकिन यही आदर्श जहाँ एक ओर स्त्री के जीवन में अधिक सुख और सुरक्षा लाया था बाद में रूढ़ि बनकर स्त्री को सामाजिक और राजनैतिक क्षेत्र से पूरी तरह हटाकर घर की चाहरदीवारी से बाँध गया। पति के चरणों तक ही पत्नी अपनी चेतना का विकास करे। पति ही उसके लिये पुण्य है और वही उसके जीवन का साध्य है। पति ही तीर्थ है। पति की सेवा ही वेद और शास्त्र पढ़ने के समान है। पति की सेवा से ही इहलोक और परलोक सार्थक होते हैं इस प्रकार के उपदेश स्त्री के लिए अधिक लाभकारी सिद्ध नहीं हुए बल्कि उसको अधिक से अधिक एक व्यक्ति की दासता की ओर ढकेलते गये और फिर तो पति का इतना अधिकार पत्नी पर हो गया कि वह उसको अपनी इच्छा से बेच सकता था। उसका दान कर सकता था और क्रोध आने पर उसको पीट भी सकता था। फिर पत्नी का इस व्यवस्था के प्रति उठा हुआ स्वर एक स्वेच्छाचारिणी का स्वर समझा जाता था जो धर्म की मर्यादा को ही तोड़ना चाहता था। पति की इस निरंकुशता ने धर्म

का रूप धारण कर लिया था और इसी कारण एक स्वर होकर पुरुष समाज ने स्त्री के अधिकारों को छीना ।

वैदिक युग बर्बर (दास-प्रथा वाली) सभ्यता का युग है । उस समय से लेकर महाभारत युग तक हम स्त्री पुरुष के बीच अनेक तरह के यौन-सम्बन्ध पाते हैं। एक पुरुष को अनेक पत्नियाँ रखते हुए भी देखते हैं और उसके साथ ही एक पत्नी को एक से अधिक पति रखते हुए भी देखते हैं । इस तरह बहुपति तथा बहुपत्नी प्रथा के उदाहरण हम मिल जाते हैं लेकिन फिर भी बहुपत्नी प्रथा काफी आगे तक चलती है और इसी का प्रचलन समाज में अधिक रहा । इसका मूल कारण यही है कि पुरुष ने स्त्री को क्षेत्र के रूप में लिया था और वह क्षेत्र पति के रूप में उसका स्वामी बन गया था । स्त्री सन्तानोत्पत्ति के लिए एक साधन मात्र हो गई थी । तभी अनेक स्थानों पर ऋतुकाल की सार्थकता का प्रश्न उठता है ।

राजा ययाति और शर्मिष्ठा की कहानी वैदिक काल से पहले के युग की कहानी है । यह देवासुर संग्राम के युग की ओर संकेत करती है । शर्मिष्ठा असुरराज वृषपर्वा की पुत्री थी । वृषपर्वा के गुरु शुक्राचार्य की पुत्री का नाम देवयानी था । एक बार शर्मिष्ठा ने देवयानी का अपमान किया था । उसने उसे भिखारी ब्राह्मण की पुत्री कहा था, इसी का बदला लेने के लिये देवयानी ने अपने पिता से वृषपर्वा का राज्य छोड़ देने के लिए कहा । शुक्राचार्य ने राज्य छोड़ने का पूरा निश्चय कर लिया । वृषपर्वा ने शुक्राचार्य को किसी तरह सन्तुष्ट करना चाहा । इसके लिए उनकी पुत्री देवयानी को प्रसन्न करना आवश्यक था । देवयानी ने शर्मिष्ठा को अपनी दासी बनाने की माँग असुरराज के सामने रखी । असुरराज ने उसे स्वीकार कर लिया और शर्मिष्ठा देवयानी की दासी बन गई ।

इसी काल में एक बार शर्मिष्ठा ऋतुमती हुई । ऋतुस्नान करने के पश्चात् उसने राजा ययाति से प्रार्थना की । हे देव ! आप मेरे स्वामी हैं, किसी प्रकार मेरे ऋतुकाल को सफल बनाइये ।

शर्मिष्ठा की प्रार्थना मानकर ययाति ने उसके साथ सहवास किया और उसके ऋतुकाल को सार्थक किया । शर्मिष्ठा गर्भवती हो गई और उसके तीन पुत्र हुए ।

इसी प्रकार की और कहानियाँ भी हैं । ये कहानियाँ स्पष्ट रूप से व्यक्त करती हैं कि पुरुष पत्नी की धारणा के ऊपर भी स्त्री के विषय में क्षेत्र की धारणा रखता था और यही धारणा स्त्री रखती थी तभी तो शर्मिष्ठा ने ययाति की पत्नी न होते हुए भी उससे सहवास की इच्छा प्रकट की थी । फिर राजा ययाति

ने भी निस्संकोच होकर उसके साथ सन्तानोत्पत्ति के उद्देश्य से सहवास किया। उस समय इसे 'धर्म' कहा गया है।

यहीं से स्त्री साधन के रूप में मान्य होती है और धीरे-धीरे पुरुष उसकी साधना का साध्य हो जाता है। जो स्त्री निस्संतान होती थी उसका प्रत्येक स्थान पर निरादर होता था। उसके जीवन को व्यर्थ समझा जाता था। वह स्त्री भी अपने आपको अभिशप्त समझती थी। स्त्री की चेतनामें भी यह धारणा इतनी अधिक जमकर बैठ गई थी कि सन्तानोत्पत्ति के अभाव में वह अपने जीवन की सार्थकता कुछ समझती ही नहीं थी। विवाह के पश्चात सन्तानोत्पत्ति के लिए साधनमात्र बनकर ही वह पति के घर आती थी और यदि उस अभीष्ट कार्य को पूरा नही कर पाती थी तो उसके लिए विवाह का कोई मूल्य नहीं रहता था। इसीलिए पुरुष ने वन्ध्या पत्नी के होने पर अपने लिए दूसरे विवाह की व्यवस्था करली है।

मनु का मत है पत्नी के वन्ध्या होने पर पति को विवाह के आठवें वर्ष में दूसरा विवाह कर लेना चाहिये। यदि उसकी सब सन्तानें पैदा होकर मर जाती हैं तो दसवें वर्ष में अधिवेदन करना चाहिये। यदि कन्याएं ही पैदा हों तो ग्यारहवें वर्ष और यदि पत्नी अप्रियवादिनी हो पति को फौरन दूसरा विवाह कर लेना चाहिये।

इसी प्रकार कौटिल्य, वैवल आदि शास्त्रकारों ने भी व्यवस्था की है।

जब पुरुष स्वयं सन्तानोत्पत्ति के लिये असमर्थ होता है तो वह अपनी पत्नियों को दूसरे पुरुषों के साथ समागम करने की इसलिए आज्ञा देता है कि उनके गर्भ से सन्तान पैदा हो। पाण्डु ने अपने आपको रोग के कारण सन्तानोत्पत्ति के लिए असमर्थ पाकर कुन्ती को अन्य पुरुषों के साथ सहवास करने की आज्ञा दे दी थी। तभी धर्मराज ने युधिष्ठिर को इन्द्र ने अर्जुन को पवन ने भीम को और अश्विनीकुमारों ने नकुल और सहदेव को पैदा किया।

राजा विचित्रवीर्य की पत्नी अम्बालिका और अम्बिका के विधवा होने पर कृष्णद्वैपायन ने उनके साथ सहवास किया था और उनके गर्भ से पाण्डु और धृतराष्ट्र को पैदा किया था।

इस तरह अनेक कथायें हैं और इसी सन्तानोत्पत्ति के उद्देश्य को ही लेकर विधवा के लिए नियोग का अधिकार दिया गया है।

इन सबसे यह स्पष्ट हो जाता है कि स्त्री का सबसे प्रमुख कार्य सन्तानोत्पादन था। उसके लिये वह साधन थी। जिस प्रकार पुरुष सामाजिक तथा राजनैतिक क्षेत्र में अनेक कार्य करता था, उसी प्रकार स्त्री का दायरा सन्तानोत्पत्ति तक ही सीमित रह गया। आदिमवासियों के बीच स्त्री अनेक महत्व

पूर्ण कार्य करती थी और सामाजिक क्षेत्र में उसकी मान्यता का प्रमुख कारण यही था कि वह सन्तानोत्पत्ति के अलावा भी अनेक ऐसे कार्य करती थी जो दल के सामूहिक जीवन के लिए आवश्यक होते थे। वह खाना तयार करके लाती थी और फिर सब मिल बांटकर उस खाने को खाते थे लेकिन बाद में चलकर तो स्त्री भार्या बन गई। उसके भरणपोषण का कर्त्तव्य पुरुष का हो गया।

अथर्ववेद में पाणिग्रहण के समय बोला गया एक मन्त्र है जिसे पतिपत्नी का वरण करते समय कहता है ममेयमस्तु पोष्या। अर्थात मेरे द्वारा ही यह स्त्री पोषणीय है।

महाभारत में एक स्थान पर आता है भार्याया भरणाद् भर्ता पालनाच पति स्मृत। अर्थात् भरण करने योग्य स्त्री के भरण करने से भर्ता तथा पालन करने से पति कहलाता है।

मनु का मत है कि साध्वी भार्या का सदा भरण करना चाहिए।

फिर आगे चलकर तो याज्ञवल्क्य बृहस्पति आदि सभी शास्त्रकार पत्नी का भरण करना पति का कर्त्तव्य ठहराते हैं। इसके विपरीत उस पुरुष की घोर निन्दा की गई है जो भार्या की कमाई पर आश्रित रहता है। महाभारत कार ने उस पुरुष को चोरों के समान समझा है। अन्य स्थान पर ऐसे पुरुष की परलोक में भी दुर्गति बताई गई है। अनुशासन पर्व में तो यहाँ तक कहा गया है कि पत्नीजीवी पुरुष ब्राह्मणघाती चोरसी तथा व्यभिचारी पुरुष की भाँति ही पापी धर्मभ्रष्ट और अधम होता है। उसके पाप की किसी प्रकार निष्कृति नहीं है। मवाद और रुधिर का भक्षण करने वाले ऐसे व्यक्ति नरक में मछलियों की तरह भूने जाते हैं।

भरण के साथ-साथ पति के रक्षण का भी प्रश्न आता है। मैंने पहले लिखा है कि जिस समय मातृसत्ता का ह्रास हुआ था और अव्यवस्था फैलने के कारण स्त्री की अवस्था दयनीय हो गई थी तो उसने सबसे पहले पुरुष से रक्षा की कामना की थी और उसके बदले में ही उसने पातिव्रत की सारी मर्यादा को स्वीकार कर लिया था। तभी से पुरुष उसका रक्षक बन गया। वह सभी दृष्टि से स्त्री से अधिक शक्तिशाली था। राजनैतिक और सामाजिक क्षेत्र में भी उसका स्थान ऊंचा था, इसके साथ धार्मिक और दार्शनिक क्षेत्र में भी उसके ही स्वर की मान्यता थी तभी तो उसने अनेक मर्यादाएं बनाकर स्त्री और पुरुष के सम्बन्धों को समय-समय पर इस तरह बदला कि स्त्री के अधिकार हर एक बार कम होते गये और उसके ऊपर किसी तरह के अधिक बन्धन नहीं लगाए गये। हाँ तो रक्षण का अधिकार भी पुरुष को मिला। स्त्री उसकी एक प्रकार से सम्पत्ति थी। उसकी रक्षा करना उसका कर्त्तव्य था।

महाभारत में एक स्थान पर आता है आपत्ति के लिए धन को बचाये और धन से स्त्रियों की रक्षा करे। विदुर ने यह बात कही है।

दूसरे स्थान पर उञ्छवृत्ति ब्राह्मण के मुंह से महाभारतकार कहलाता है जो पुरुष भार्या के रक्षण में असमर्थ है वह महान अपयश पाता है और नरक में जाता है।

वनपर्व में स्वयं द्रौपदी ही अपने पतियों को नपुंसक कहकर उनकी निन्दा करती है और कहती है युद्ध में श्रेष्ठ महाबलवान पाण्डवों की मैं निन्दा करती हूं। वे अपनी यशस्विनी धर्मपत्नी को कष्ट-पीड़ित देखते रहे। भीमसेन के बल को धिक्कार है। अर्जुन के गाण्डीव को धिक्कार है।

मनु ने तो यहां तक कहा है कि यदि पुरुष अपनी पत्नी की रक्षा नहीं करेगा तो उसके गर्भ से दूषित वर्णसंकर सन्तान उत्पन्न होगी। फिर मनु कहता है, मनुष्य अपनी पत्नी की रक्षा से अपने पुत्र, चरित्र कुल आत्मा और धर्म की रक्षा करता है।

इसी प्रकार बृहस्पति हारीत याज्ञवल्क्य तथा अन्य शास्त्रकार स्त्री की रक्षा पुरुष का प्रमुख कर्तव्य बताते हैं। मनु के साथ इन शास्त्रकारों ने तो स्त्री पर कठोर निगरानी की आवश्यकता समझी है क्योंकि ये स्त्री को स्वभाव से ही कामुक तथा नये पुरुषों की ओर सदा आकर्षित होने वाली मानते हैं।

पुरुष को स्त्री के भरण और रक्षण के अधिकार मिलने का स्पष्ट अर्थ यह है कि स्त्री किसी प्रकार भी अपना भरण और रक्षण करने की सामर्थ्य खो चुकी थी। उसका कार्य तो पति की सेवा करना, और उसके घर की देखभाल करना ही था। सन्तानोत्पत्ति से ही उसके जीवन की सार्थकता थी। इस तरह पुरुष और स्त्री के बीच एक प्रकार से श्रम का विभाजन हो गया। पुरुष हर प्रकार से जीविका अर्जित करके अपनी पत्नी का भरण पोषण करने के लिए बाध्य हो गया। जो पुरुष इस कर्तव्य से पीछे हटता था उसकी धर्मसूत्रों और स्मृतियों में घोर निन्दा की गई है और दूसरी तरफ स्त्रियों का काम कदम पर की देख भाल करना और सन्तानोत्पादन करना हुआ। इस विभाजन के फलस्वरूप स्त्री सामाजिक जीवन में पुरुष के साथ अपनी समानता का अधिकार खो बैठी और फिर स्त्रियों के हृदय में इस कारण किसी प्रकार का असन्तोष पैदा न हो इस कारण इस विभाजन को पूरी दृढ़ता के साथ मर्यादित कर दिया गया। पौराणिक काल में आकर तो स्त्री के सामने कौशिक ब्राह्मण की पत्नी तक का उदाहरण रखा गया और उसको आदेश दिया गया कि वह अपने व्यभिचारी पति को भी बिना किसी तरह की शंका किये सेवा करे।

याज्ञवल्क्य ने पहले ही इसकी मर्यादा स्थापित करदी है पति से द्वेष करने वाली स्त्री के लिए एक साल प्रतीक्षा करे। एक साल के बाद भी वह पति से द्वेष करे तो उसके दाय भाग को छीनकर उसका त्याग कर दे। जो स्त्री अपने प्रमत्त, मत्त या रुग्ण पति की सेवा न करके अभ्यत्र जाती है उसके आभूषण तथा अन्य सामान छीनकर तीन महीने तक उसका त्याग करना चाहिये। पत्नी के शराबी, कुलटा प्रतिकूल, रोगिणी, हिंस या अपव्ययी होने पर पति को दूसरा विवाह कर लेना चाहिए।

याज्ञवल्क्य पति को तो दूसरा विवाह करने की आज्ञा देता है और पत्नी को व्यभिचारी और रोगी पति के साथ पूरी पतिभक्ति की मर्यादा स्थापित करके बाँध देता है। इसका एकमेव कारण यही है कि पति स्वामी है इसको पत्नि की अपेक्षा अधिकार अधिक है। फिर जब पुरुष ने स्त्री को और भी अधिक घर के भीतर बन्द करके उसके लिए पर पुरुष की ओर देखने तक को दोषपूर्ण कह दिया तो वह और भी अधिक परतन्त्र हो गई। सामाजिक जीवन पास-पड़ौस तक ही सीमित रह गया।

इसके अलावा प्राचीन ग्रन्थों में प्राप्त उदाहरणों से यह भी ज्ञात होता है कि पति अपनी पत्नी को भेंट स्वरूप भी दूसरों को देने का अधिकार रखता था। राजा मित्रसह ने अपनी पत्नी मदयन्ती को महर्षि वशिष्ठ को दान रूप में दिया था।

स्त्री को सम्पत्ति के रूप में पुरुष ने लिया था, इसका सबसे बड़ा उदाहरण महाभारत में द्रोपदी का मिलता है। युधिष्ठिर ने द्रौपदी से बिना पूछे ही उसको दाँव पर लगा दिया था। उस समय युधिष्ठिर ने द्रौपदी के गुण और रूप का वर्णन किया था। इसके बाद अपनी सारी सम्पत्ति हार जाने पर अपनी प्रिय पत्नी को भी दाँव पर लगा दिया था। उस समय सभा में सबों ने युधिष्ठिर को धिक्कारा था। इसके पश्चात दुर्योधन ने अपने अपमान का बदला द्रौपदी से लेना चाहा। उसने दुःशासन को आज्ञा दी कि वह द्रौपदी को भरी सभा में नंगी कर दे। दुर्योधन ने उसे अपनी जंघा पर भी बिठाने की चेष्टा की थी। अपना घोर अपमान होते देख द्रौपदी ने सभा से प्रश्न किया था कि अपने आपको जुए में हारे हुए दास को अपनी पत्नी को दाँव पर लगाने का क्या अधिकार था? दास का अपनी पत्नी और सम्पत्ति पर अधिकार नहीं होता फिर युधिष्ठिर दास होकर उसे दाँव पर कैसे लगा सकते थे।

बस यहीं गुत्थी पड़ गई। यदि उस समय यह स्वीकार कर लिया जाता कि दास को अपनी सम्पत्ति और पत्नी पर अधिकार है तो सारी दास-व्यवस्था एक

साथ टूट जाती। इसीलिये इस समय बैठे हुए सभी धर्मज्ञों ने कहा, स्त्री पर पति का सभी दशाओं में पूर्ण अधिकार होता है।

स्त्री इस तरह पति की सम्पत्ति गिनी जाने लगी। इसके साथ कन्या पर पिता का इसी तरह अधिकार माना गया वह भी अपनी कन्या को सम्पत्ति की तरह किसी को दे सकता था। माधवी की कहानी इस पक्ष को पूरी तरह स्पष्ट कर देती है। माधवी राजा ययाति की पुत्री थी। यह वैदिक काल से पहले की ही कथा है। महर्षि विश्वामित्र के आश्रम में गालव नाम के एक विद्यार्थी विद्याध्ययन करते थे। गालव को विश्वामित्र का पुत्र भी माना जाता है। जब गालव की शिक्षा पूर्ण हो गई तो गुरु ने इन्हें जाने की आज्ञा दे दी। गालव ने गुरु दक्षिणा देने की इच्छा प्रकट की। विश्वामित्र ने इसके लिए मना किया लेकिन गालव नहीं माना तब महर्षि ने आठ सौ श्याम वर्ण घोड़े माँगे। गालव घोड़ों के लिए सबसे पहले राजा ययाति के पास पहुँचा और वहाँ जाकर उसने अपनी प्रार्थना रखी। राजा ने कहा—हे तपस्वी। मेरे पास श्याम वर्ण घोड़े *तो नहीं हैं। एक सुन्दरी कन्या है। तुम इसे ले जाओ और इससे अपनी गुरु* दक्षिणा इकट्ठी कर लो।

गालव माधवी को लेकर चल दिया। वह उसे तीन राजाओं के पास ले गया जिन्होंने उसके गर्भ से एक एक पुत्र प्राप्त करके उसे ६०० घोड़ों के साथ गालव को ही वापिस कर दिया। अन्त में गालव ने माधवी को महर्षि विश्वामित्र को समर्पित कर दिया। महर्षि ने भी उसके गर्भ से एक पुत्र पैदा किया और २०० घोड़े गालव से लेकर अपनी गुरुदक्षिणा को पूर्ण मान लिया।

इस तरह माधवी चार अलग अलग व्यक्तियों के साथ रही और चारों ने ही उसके साथ सहवास किया और पुत्र पैदा किये।

इस कथा से कुछ ऐसे निष्कर्ष निकलते हैं जिनसे विषय काफी साफ हो जाता है।

(१) स्त्री प्रमुख रूप से सन्तानोत्पादन का साधनमात्र थी। यही उसका कार्य था और यही उसके जीवन की सार्थकता थी। इसी के साथ उसके जीवन की पवित्रता है। विचारणीय विषय है कि महाभारतकार इतना होते हुए भी माधवी को पवित्र मानता है। उसके विषय में एक चमत्कारपूर्ण धारणा है कि माधवी को वरदान था कि वह बार-बार सम्भोग-सम्बन्ध स्थापित करके भी कँवारी बनी रहती थी। यह कोरा चमत्कार है। बाद में पौराणिक-शास्त्रकार ने माधवी के इस कृत्य को उचित ठहराने के लिए यह चमत्कार जोड़ दिया है जिससे नई परिस्थितियों के बीच उसी मर्यादा की कसौटी पर माधवी की कथा

करती भी थाय तो भी उसमें माधवी के चरित्र पर किसी प्रकार का धब्बा न लगे लेकिन वास्तविकता तो यह है कि स्त्री किसी पुरुष से पुत्रोत्पत्ति के लिये सम्बन्ध स्थापित करती थी उसे पापिनी नहीं समझा जाता था। केवल व्यक्तिक सुख के लिए जो स्त्री दूसरे पुरुष की ओर आकर्षित होती थी उसी की निन्दा की गई है। सन्तानोत्पत्ति तो बड़ा ही पवित्र कार्य माना गया था और इसके लिए स्त्री को काफी छूट दे दी गई थी। तभी तो शर्मिष्ठा की शास्त्रकार ने किसी प्रकार निन्दा नहीं की।

(२) दूसरी बात विचारणीय यह है कि जिस प्रकार आज कुंवारी कन्या को परपुरुष से सम्बन्ध करने के लिए दोषी माना जाता है और उसका सम्मान सदा के लिए समाज से लुप्त हो जाता है, इस प्रकार प्राचीन काल में नहीं होता था। उस समय कुंवारी कन्याओं के गर्भ से भी पुत्र पैदा होने की कथाएं हैं। सबसे पहली कथा तो माधवी की है। माधवी कुंवारी थी। विधिपूर्वक उसका पाणिग्रहण किसी के साथ नहीं हुआ था, फिर भी उसके गर्भ से संतान पैदा होने पर उस कन्या को किसी तरह भी पापिनी नहीं कहा गया। कैसे पुराणकार ने उसके इस कार्य का औचित्य एक चमत्कार के द्वारा स्थापित करने का प्रयास किया है कि वह चार व्यक्तियों के साथ सम्भोग करके भी कुंवारी रह गई।

दूसरा उदाहरण कुन्ती का है। कुन्ती के कुंवारेपन में ही कर्ण नामक पुत्र पैदा हुआ था। लोकलाज के कारण कुन्ती ने काफी दिनों तक उसे छिपाया लेकिन महाभारत के अन्त में जब उसने सारी बात खोलकर युधिष्ठिर के सामने रख दी तो युधिष्ठिर ने एक बार अवश्य आवेश में आकर कहा कि आज मैं कहता हूं कि स्त्रियों के पेट में अधिक देर तक कोई बात नहीं पचेगी लेकिन फिर भी उसने सबसे पहले अपने ज्येष्ठ भ्राता कर्ण को ही पिण्डदान दिया। इसके पश्चात् भी कुन्ती के सम्मान में किसी प्रकार का अन्तर नहीं आया था। महाभारतकार ने सदा उसकी प्रशंसा की और उसको पूरे गौरव के साथ ही चित्रित किया है।

इसके अलावा मत्स्यगन्धा की कथा तो और भी स्पष्ट रूप से सिद्ध कर देती है कि कुंवारी के साथ सम्भोग किसी प्रकार दोष का कारण नहीं समझा जाता था। पाराशर जैसे तपस्वी महर्षि ने आकर मत्स्यगन्धा से सहवास करने की इच्छा प्रकट की थी। इस पर मत्स्यगन्धा ने कहा—हे महर्षि! मैं कुंवारी हूं। आपके साथ सहवास कैसे कर सकती हूं। यह किसी प्रकार भी उचित नहीं है।

इस पर महर्षि ने उसे वरदान दिया कि सहवास के पश्चात् भी उसका कौमार्यपन नष्ट नहीं होगा।

इस वरदान को पाकर मत्स्यगन्धा ने महर्षि के प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया। महर्षि ने अपने तपोबल से चारों ओर कोहरा छा दिया जिससे दूर तट के लोगों को कुछ भी देख पाना असम्भव हो गया। उस समय महर्षि ने मत्स्यगन्धा के साथ नाव पर ही सम्भोग किया और उसके फलस्वरूप कृष्णद्वैपायन (महर्षि वेदव्यास) जैसे महापुरुष का जन्म हुआ। इस कथा में भी ब्राह्मण शास्त्रकार ने यही चमत्कार लगा दिया है कि मत्स्यगन्धा का कौमार्य महर्षि के साथ सहवास करने के पश्चात भी खण्डित नहीं हुआ लेकिन वास्तविकता को चमत्कारों के नीचे के ठीकने का प्रयत्न आज की परिस्थितियों के बीच किसी प्रकार भी नहीं छिप सकता।

कथाकार ने तो महर्षि पराशर के तपोबल की उस समय भी प्रशंसा की है जबकि महर्षि सामाजिक मर्यादा को तोड़ने के लिए उद्यत हो रहे थे, फिर क्या कारण है कि उनकी समाज में निन्दा नहीं हुई और उनके पुत्र वेद व्यास को पूज्य ठहराया गया। सभी जगह उनका सत्कार किया गया। इनसे यह मालूम होता है कि जिस प्रकार की मर्यादा परवर्ती काल में स्त्री के सामने रखी गई थी, उस प्रकार की मर्यादा वैदिक काल के आसपास नहीं थी। ठीक वैदिक काल के पहले से लेकर महाभारत काल तक इसी तरह की अनेक कथाएँ मिलती हैं जिनसे उस समय की बर्बर सभ्यता के अन्तर्गत यौन-सम्बन्धों का एक दूसरा ही चित्र आँखों के सामने आता है। महाभारत में अनेकों कथायें हैं, जो भिन्न प्रकार के यौनसम्बन्धों को सामने रखती हैं। महाभारत के अनुसार तो पुरुष के लिये एक पत्नीव्रत के आदर्श का कोई मूल्य नहीं था। अर्जुन, भीम आदि अपनी पत्नी द्रौपदी के रहते हुए अन्य स्त्रियों से भी अपना सम्बन्ध जोड़ते हैं और उन्हें अपनी पत्नी बना लेते हैं। बहुपत्नी प्रथा के सदा हरण तो भारतवर्ष में अनेकों मिलते हैं। फिर इसके लिए शास्त्रकारों ने न्याय भी रखा किया है। राजा के लिये कई पत्नी रखने की आज्ञा प्रदान की गई है।

इसके साथ ही कई स्थानों पर इस प्रकार की भी कथायें मिलती हैं कि सुन्दरी काम से पीड़ित होकर पुरुष के पास आती है और उससे प्रार्थना करती है कि वह उसके साथ सहवास करके उसकी काम-वासना तृप्त करे। उस समय कामातुर स्त्री की इच्छा पूर्ण नहीं करने वाले पुरुष को दोषी ठह राया गया है।

इस तरह मूल रूप में देखा जाय तो पुरुष और स्त्री का सम्बन्ध दो आधारों पर टिका हुआ था। एक तो रति और दूसरे धर्म के आधार पर।

पुरुष का कर्तव्य है कि वह काम से पीड़ित स्त्री की इच्छा पूर्ण करे। स्त्री की रति की इच्छा पूर्ण न करने वाले पुरुष के लिए परलोक में यातना सहनी पड़ती थी। यह प्राचीन काल की समाज व्यवस्था के बारे में एक साफ चित्र सामने रखता है, फिर बाद में इसी कामवासना के कारण स्त्री के ऊपर अनेकों दोष लगाये गये। दोष लगाने का सिलसिला तो वैदिककाल से ही शुरू हो गया था लेकिन उस समय स्त्री को केवल इसी आधार पर दूषित नहीं समझा जाता था कि वह परपुरुष के प्रति आसक्त हो जाती थी। हाँ कहीं कहीं स्त्री के चरित्र के इस पक्ष की ओर संकेत अवश्य किया गया है। इसके अलावा भी और बातें उसके साथ दोष रूप में लगी हुई हैं।

ऋग्वेद में इन्द्र स्त्रियों को नीचे देखने का आदेश इसीलिए देता है कि स्त्रियाँ अपने मन को वश में नहीं रख पाती।

उर्वशी और पुरुरवा की कथा भी ऋग्वेद में आती है। उर्वशी अपने विरह में व्याकुल पुरुरवा को समझाती है कि स्त्रियों की मित्रतायें देर तक टिकने वाली नहीं होती हैं। वे भेड़ियों के हृदय हैं अर्थात विश्वास दिलाकर अपने वश में आये प्राणियों का वध करने वाली हैं।

तैत्तिरीय ब्राह्मण में भी स्त्री की निन्दा इन शब्दों के साथ की गई है स्त्री को निरिन्द्रिय होने के कारण यज्ञ मे सोम का भाग लेने का अधिकार नहीं है और वह पापी पुरुषों से भी गयी बीती बात कहने वाली होती है।

यहाँ तक स्त्री की निन्दा का एक पक्ष है। इन तीनों बातों से यही मालूम होता है कि स्त्री व्यावहारिक पक्ष में बड़ी ही कुटिल और विश्वासघातिनी होती है। इस पक्ष पर आगे चलकर तो शास्त्रकारों ने स्त्री की घोर निंदा की है।

पंचतन्त्र में स्त्रियों के गुणों का बखान इस प्रकार किया गया है झूठ बिना विचार किये कोई कार्य करना, छल का व्यवहार, मूर्खता, अति लोभ अपवित्रता और निर्दयता स्त्रियों के स्वाभाविक गुण हैं।

इसी प्रकार शिवपुराण में भी स्त्रियों की निंदा की गई है। वे कामुक होती हैं। सदा दूसरे पुरुषों को अपने जाल में फँसाया करती हैं। वे कभी एक पुरुष से तृप्त नहीं होतीं। सदा नये-नये पुरुषों का सेवन करने की उनकी इच्छा रहती है।

महाभारत में भी इसी प्रकार स्त्रियों की निंदा है।

विभिन्न में कहा गया है वे स्त्रियाँ एक पुरुष के साथ बात करती हैं दूसरे को कटाक्षों से देखती हैं और तीसरे का अपने चित्त में स्मरण करती हैं।

परपुरुष के लिये लालायित रहने के कारण वे कुलनाश, लोकनिंदा और प्राणों के संकट की भी परवाह नहीं करती।

मैत्रायिणी संहिता में स्त्री के विषय में निम्न विचार प्रकट किये गये हैं पति के द्वारा धन देकर खरीदी जाने पर भी दूसरे पुरुषों के साथ विचरण का कार्य कर लेने से स्त्री झूठ तथा विनाश या आपत्ति या मृत्यु के देवता से सम्बद्ध है।

इस प्रकार अनेकों दोष स्त्रियों के साथ लगाये गये हैं लेकिन क्या कभी इसने विचार किया कि ये दोष केवल स्त्री के चरित्र के साथ क्यों लगाये गये, पुरुष की उसी स्थान पर निन्दा क्यों नहीं की गई क्या पुरुष पूर्णतः पवित्र होता है? फिर स्त्री के इतने अधिक कुटिल होने का भी क्या कारण है? ये प्रश्न विचारणीय हैं।

स्त्री के साथ सारे दोष लगाने का एक कारण तो पुरुष का स्त्री के प्रति अपना विशेष दृष्टिकोण है जिसमें स्त्री उसकी सम्पत्ति होने के नाते उसकी है। इसलिए किसी दूसरे का उस पर अधिकार नहीं है। तभी तो मैत्रायिणी संहिता में कहा गया है कि पति के धन द्वारा खरीदी जाने पर भी दूसरों के साथ विचरण करने से स्त्री झूठ तथा विनाश या आपत्ति या मृत्यु के देवता से सम्बद्ध है।

व्यक्तिगत सम्पत्ति के उठने के साथ ही कृषियुग में पुरुष ने स्त्री को क्षेम समझकर अपनी सम्पत्ति मान लिया था इसी कारण जहाँ स्त्री उसके आधिपत्य को हटा कर दूसरे को अपना स्वामी बनाने की बात सोचती है वहीं पुरुष उसे अमुकता का दोषी ठहराता है। अपने आपको उसने अनेक तरह से बचा लिया है। एक तो बहु पत्नी रखने के उसके अधिकार ने उसको इस तरह के दोषों से ऊपर उठा दिया है। फिर वह बिना अपनी पत्नी की आज्ञा के भी परस्त्री से सम्बन्ध स्थापित कर सकता था और फिर भी उसकी पत्नी बुरा नहीं मानती थी। इस तरह के अनेक उदाहरण महाभारत तथा अन्य ग्रन्थों में मिलते हैं। फिर इसके अलावा भी पुरुष ने ही तो स्त्री के जीवन के बारे में अपने दृष्टिकोण से सोचा और अनेक स्थानों पर उसके चरित्र के दोषों की विवेचना की। स्त्रियों का शिक्षा का अधिकार छिन चुका था इसलिये पूरे भारतीय चिन्तन में कहीं भी ऐसा स्थल नहीं मिलता जहाँ स्त्री ने दार्शनिक होकर पुरुष के सम्बन्ध में विचार किया हो। गार्गी अवश्य स्त्री दार्शनिक थी लेकिन वह अविवाहिता थी इसलिये स्त्री और पुरुष के बीच स्थित विषमता को नहीं समझ पाई और उसने इस पक्ष पर अधिक चिन्तन नहीं किया। स्त्रियों का चिन्तन के क्षेत्र में अधिक स्थान न होना यह स्पष्ट रूप से बताता है कि स्त्री का स्थान समाज में

काफी गिर चुका था वैदिक काल की तुलना में इसके जीवन में विषमता अधिक आ गई थी। वैदिक काल में तो स्त्री भी विदुषी होती थी और पुरुष की तरह उसको भी यज्ञोपवीत आदि का अधिकार था लेकिन बाद में चलकर तो शिक्षा को स्त्री के लिये किसी प्रकार आवश्यक नहीं समझा गया। –

पातिव्रत के इस आदर्श ने कि पति ही देवता है, उसकी सेवा ही को स्त्री के जीवन का साध्य माना है। वेदपाठ पढ़ने तथा तीर्थ स्नान आदि करने से जो पुण्य पुरुष कमाता है, वह स्त्री केवल पति की सेवा करके ही कमा लेती है, स्त्री को मानसिक रूप से बिल्कुल दास बना दिया था। सामाजिक क्षेत्र में इसकी किसी प्रकार भी आवश्यकता नहीं समझी गई इसीलिये इसको गृहस्थी कहकर घर की देखभाल करने तक ही सीमित कर दिया गया। यह सारा परिवर्तन सामन्तकाल में हुआ और यहीं स्त्री पुरुष की पूरी तरह दासी बन गई। जिस प्रकार दासयुग में दासों को किसी प्रकार की स्वतन्त्रता नहीं थी इसी प्रकार स्त्रियों की भी सारी स्वतन्त्रता पुरुष ने छीन ली। उसकी ओर सदा अविश्वास की दृष्टि से देखा गया। तभी तो 'मिताक्षरा' में स्पष्ट शब्दों में कह दिया गया है कि स्त्रियों का कभी विश्वास नहीं करना चाहिये। यहाँ तक शास्त्रकार कह गया है अंके स्थितापि युवति परिरक्षणीय अर्थात् अंक में बैठी युवती की भी चौकसी करनी चाहिये।

धर्मसूत्रों और स्मृतियों में तो खुले रूप से स्त्री की परतन्त्रता के लिये एक विधान खड़ा कर दिया गया है। वसिष्ठ ने कहा है कि स्त्री को कभी भी स्वतन्त्रता नहीं देनी चाहिये। बचपन में तो पिता को यौवन में पति को वृद्धावस्था में पुत्र को उसकी रखवाली करनी चाहिये।

गौतम धर्मसूत्र में कहा गया है' अस्वतन्त्रता धर्मे स्त्री।

वसिष्ठ भी यही कहता है अस्वतन्त्रता स्त्री पुरुष प्रधाना।

याज्ञवल्क्य ने और भी स्पष्ट शब्दों में कह दिया है: न स्वातन्त्र्य क्वचित्स्त्रिय अर्थात स्त्री को कहीं भी स्वतन्त्रता नहीं है।

स्त्रियों की इस परतन्त्रता का कारण बताता हुआ नारद कहता है— स्वातन्त्र्याद्धि प्रणश्यन्ति कुले जाता अपि स्त्रियः अस्वातन्त्र्यमतस्तासां प्रजापतिर कल्पयत। अर्थात् स्वतन्त्रता से कुलीन स्त्रियाँ भी बिगड़ जाती हैं अतः प्रजापति ने उनकी पराधीनता की व्यवस्था की है।

इसके पश्चात पत्नी के कर्तव्यों के बारे में भी शास्त्रकारों ने अपने मत दिये हैं।

मनु ने पत्नी के चार कर्तव्य बताये हैं वह सदैव हँसमुख रहे, गृहकार्यों में दक्ष हो घर की सारी वस्तुएं साफ सुथरी रखे और अपव्ययी न हो।

याज्ञवल्क्य ने पति की सेवा करना और सास श्वसुर की चरणवन्दना करना श्रेष्ठ पत्नी के कर्त्तव्य निश्चित किये हैं।

शंख ने पत्नी के लिये ये बातें कर्त्तव्य स्वरूप निश्चित की हैं—पति या बड़ों की आज्ञा के बिना घर से बाहर न निकलना, ऊपर का वस्त्र ओढ़े बिना न निकलना, धीमता से न चलना, व्यापारी, सन्यासी, वृद्ध और वैद्य के अतिरिक्त किसी दूसरे पुरुष से वार्तालाप न करना, नाभि को न दिखाना, गुल्फ तक वस्त्र पहनना, स्तन विवृत न करना, अपना मुँह हाथ-वस्त्र से ढके बिना जोर से न हँसना, अपने पति तथा अन्य सम्बन्धियों से घृणा न करना, नर्तकी, धूर्ता, प्रेमियों को मिलाने वाली साधुनियों, प्रकाशकामों, माया और वशीकरण के प्रयोग करने वाली तथा दुःशील स्त्रियों से न मिलना।

बृहस्पति ने भी पत्नी के धर्म की विवेचना की है। वह कहता है पत्नि को पति आदि बड़े व्यक्तियों से पहले उठना चाहिये भोजन आदि उनके बाद लेना तथा उनसे नीचे आसन पर बैठना चाहिये।

आगे चलकर स्कंदपुराण में तो पति की निरंकुशता को भी हँसकर सह लेने का विधान किया गया है। पतिव्रता पत्नी के कर्त्तव्यों का वर्णन इस प्रकार है पतिव्रता स्त्री को अपने पति का नाम कभी नहीं लेना चाहिये क्योंकि ऐसा करने से उसकी आयु में वृद्धि होती है, पति द्वारा भार्त्सित होने पर और से नहीं बोलना चाहिये और पीटे जाने पर भी हँसमुख रहना चाहिए।

पद्मपुराण में तो उपमा देकर पत्नी के कर्तव्यों का उल्लेख किया गया है वही पत्नी पतिव्रता है जो कार्य में दासी, काममुख में वेश्या, खिलाने में माता और विपत्ति में उत्तम परामर्शदाता होती है।

पतिसेवा को शास्त्रकारों ने पत्नी का प्रमुख कर्त्तव्य माना है। ब्रह्मवैवर्त-पुराण में स्त्रियों का सबसे बड़ा व्रत, तप, धर्म और देवपूजन पतिसेवा ही है।

महाभारतकार भी पति की सेवा को ही स्त्री का प्रधान कर्त्तव्य बताता है।

मनु ने भी इहलोक और परलोक में स्त्री की गति तभी बताई है जब वह अपने प्रधान कर्त्तव्य पतिसेवा का भली-भाँति पालन करे। वह कहता है साध्वी पत्नी दुःशील, स्वच्छन्दगामी और गुणशून्य पति को भी देवता की तरह सेवा करे, इसी से स्त्रियों की स्वर्ग में भी पूजा होती है क्योंकि स्त्रियों के लिये प्रथक रूप से कोई यज्ञ व्रत या उपवास नहीं है।

इसके बाद मनु पतिव्रता स्त्री के द्वारा मर्यादा तोड़ने के फलस्वरूप उसके लिये सियार योनि की व्यवस्था करता है। मन, वचन और देह से भी परपुरुष

के साथ व्यभिचार न करने वाली स्त्री को पति के साथ स्वर्ग में निवास क वाली साध्वी स्त्री बताया गया है और परपुरुष के साथ व्यभिचार से स्त्री निन्दा, पाप रोगों से पीड़ित होने तथा सियार की योनि पाने का विधा मनु द्वारा खड़ा किया गया है।

पातिव्रत की महिमा सभी धर्मसूत्रों में गाई गई है और उनमें पति क देवता की कोटि पर चढ़ाकर स्त्री को उसके चरणों की दासी के रूप में सिर गया है।

जिस स्वर्ग लोक को केवल ब्रह्मा पवित्र ऋषि और पवित्रात्मा ब्राह्म ही पाते हैं उसको स्त्री अपने पातिव्रत्य का पालन करती हुई सहज में ही प्रा कर लेती है।

महाभारत में इसी मत का प्रतिपादन किया गया है। आगे चलकर मह भारत कार कहता है पृथ्वी के सब तीर्थ पतिव्रों के चरणों में हैं। सब देव ताओं और मुनियों का तेज सतियों में है। उनके चरणों की धूल से पृथ्वी शीघ्र ही पवित्र हो जाती है।

अन्त में मैं बृहस्पति का मत लिखता हूँ। बृहस्पति ने तो पति के स्वर्गवासी होने पर पत्नी को जीवित रहने तक का अधिकार नहीं दिया है।

वह कहता है —वही स्त्री पतिव्रता है जो पति के दुःखी होने पर आर्त्त उसके प्रसन्न होने पर हृष्ट विदेश जाने पर मलिन और दुर्बल तथा पति मरने पर स्वयं भी मर जाती है।

बृहस्पति के द्वारा यह आदर्श खड़े करने के साथ ही श्रेष्ठ पत्नी पति की मृत्यु के पश्चात् अपने जीवन को व्यर्थ समझने लगी। वैधव्य की दारुणयातन की अपेक्षा उसने पति के साथ चिता में जलकर मर जाना ही अच्छा समझ और इसी कारण भारतवर्ष में काफी दिनों तक सती-प्रथा चली। अंग्रेजों के राज्यकाल तक हजारों स्त्रियाँ इसी अन्धविश्वास के कारण कि पति के साथ प्राण समर्पण कर देने से उन्हें पति के साथ ही स्वर्गलोक मिलेगा, अपने शरीर को चिता की अग्नि के बीच स्वाहा कर डालती थीं। सोचो तो इस पातिव्रत्य के आदर्श ने भारतीय नारी की चेतना में कितना गहरा प्रभाव जमा लिया था कि वह यह सोचने लग गई थी कि उसका धर्म तो पति के साथ जन्मजन्मांतर तक रह कर उसकी सेवा करने में है। इस जीवन में जब तक विधाता इसके लिये अवसर दे तब तक पति के चरणों में बैठकर अपना कर्तव्य पालन करे और फिर परलोक तक में इसी कर्तव्य का स्मरण करके यथोचित रूप से इसका पालन करे। यही विचारधारा भारतीय सती के अन्तरस्थल में उमर चुकी थी। फिर वैधव्य का अभिशाप भी स्त्रियों को दुःख दरा देता था, इसीलिये स्वाग

स्थान पर बिठाए जलती थीं और जीवित स्त्रियाँ धर्म के नाम पर उनमें भस्म कर मर जाती थीं। उन्नीसवीं शताब्दी में राजा राममोहनराय आदि प्रगतिशील विचार रखने वाले व्यक्तियों ने उस प्रथा का घोर विरोध किया था तब कहीं यह बन्द हुई थी लेकिन फिर भी आज तक कहीं-कहीं इस तरह के एक दो उदाहरण मिल ही जाते हैं।

उसके साथ ही एक दूसरे पक्ष पर मैं और प्रकाश डाल दूं। या तो पतिव्रता स्त्री अपने पति के शव के साथ जलकर मर जाती थी और यदि जीवित रहकर वैधव्य भोगना चाहती थी तो शास्त्रकारों ने उसके लिये पुनर्विवाह को निषेध बताया है, जबकि पुरुष के लिये पत्नी के स्वर्गवासी होने पर पुनर्विवाह की आज्ञा दे दी है। स्त्री के जीवित रहने पर भी शास्त्रकारों ने किन्हीं परिस्थितियों के अन्तर्गत पति के लिये पुनर्विवाह को उचित माना है।

मनु, याज्ञवल्क्य, नारद आदि सूत्रकारों ने यही तो कहा है कि यदि पत्नी अप्रियवादिनी हो तो पति उसे छोड़कर पुनर्विवाह कर सकता है लेकिन स्त्री को पति के दोषों के बारे में न सोचते हुए विशुद्ध मन होकर पति की सेवा करनी चाहिये।

पहले तो विधवा के लिये नियोग प्रथा का प्रचलन था लेकिन बाद में चल कर तो विधवा के लिये कठोर विधान बना दिया गया कि वह मृत्युपर्यन्त किसी पुरुष से किसी प्रकार का यौन-सम्बन्ध स्थापित न करे, फिर अनेक अन्ध विश्वासों के कारण विधवा को अशुभ गिना जाने लगा। आज भी कुछ स्थानों पर विधवाओं को भिखारियों की तरह फेंककर रोटियाँ दी जाती हैं। वैधव्य की पीड़ा हिन्दू परिवार में स्त्री के लिये असहनीय पीड़ा मानी जाती है। इसके मूल कारण यही हैं कि एक तो स्त्री की स्वतन्त्र आर्थिक सत्ता न होने के कारण उसे अपने और अपनी सन्तानों के जीवन निर्वाह के लिये दूसरों पर आश्रित रहना पड़ता है और इसके लिये अनेक कटु बातें भी सहनी पड़ती हैं। एक दासी से भी गया बीता उसके साथ व्यवहार किया जाता है, फिर पुरुष समाज सदा उसका न्यायाधीश बनकर इसकी देखभाल किया करता है कि इसने किसी पराये पुरुष से बातें तो नहीं कर लीं या बातें करते-करते इसने आँखें ऊपर उठाकर देख तो नहीं लिया। इसी आधार पर विधवा के ऊपर अनेक लांछन लगा दिये जाते हैं, इससे उसका जीवन नरक की यातना सहने से भी अधिक यातनामय हो जाता है, यही कारण है कि मध्यकाल में स्त्रियाँ अपने पतियों की चिताओं के साथ ही जलकर मर जाती थीं।

आदर्श के समर्थन के लिये भारतीय ग्रन्थों में सावित्री सीता गान्धारी आदि देवियों की कथायें आती हैं। इसके साथ ही महाभारत में तो उन स्त्रियों

के कर्तव्य की भी विवेचना है जिनके पति कुछ काम के लिये बाहर चले गये हों। महाभारतकार उन स्त्रियों को आज्ञा देता है कि वे अपने पति की अनुप स्थिति में किसी प्रकार के प्रासुपण्यादि से अपने शरीर को सुसज्जित न करें।

आगे चल कर व्यास ने लिखा है ऐसी स्त्री जिसका पति परदेश चला गया है, कभी स्वस्थ दिखाई नहीं देनी चाहिये। उसका चेहरा पीला दीखना चाहिये। उसे चाहिये कि वह शरीर का शृंगार न करके निराहार रहती हुई अपने शरीर को कृश करे।

उस समय वह सदा पति का ही स्मरण करती रहे, इस प्रकार की व्यवस्था अनेक शास्त्रकारों ने स्त्री के लिये की है।

स्त्री पर पति के इस पूर्णाधिकार के ही कारण पति स्त्रियों को पीट भी सकता था। स्त्री मूर्खा और अमुक मानी जाती है और उसके बारे में पुरुष बार बार यह शंका करने लग जाता है कि वह धर्म की मर्यादा तोड़ने के लिये तत्पर रहती है, इसीलिये पति उसको पीट भी सकता था। तुलसीदास जैसे धर्मात्मा भी स्त्री को ताड़न का अधिकारी बताते हैं। भारतवर्ष में यह ताड़न इतना बढ़ गया था कि बाद में चलकर धर्मशास्त्रों को इसके सम्बन्ध में नियम बनाने पड़े।

मनु ने इसके लिये मर्यादा निश्चित की है। वह कहता है यदि पत्नी, पुत्र दास नौकर और सगा भाई अपराध करें तो इन्हें रस्सी या बांस से पीठ पर ही पीटना चाहिये। सिर पर कभी ताड़न नहीं करना चाहिये। सिर पर मारने वाले को चोरी का दण्ड मिलना चाहिये।

दंडी ने स्त्री के ताड़न को अच्छा समझा है। वह लिखता है शासन और ताड़न से ही स्त्री घर की शोभा बनाती है।

आज तक हिन्दू समाज में स्त्री का ताड़न चलता है। गांवों में तो प्रायः प्रत्येक परिवार में स्त्री एक या दो बार पति के हाथों पिट ही जाती है। पिटने पर भी स्त्री पति के प्रति घृणा नहीं करती। वह इसमें अपने सम्मान की क्षति नहीं समझती बल्कि इसे तो अपना गौरव समझ कर वह फिर उसी पति के चरणों की सेवा करने लगती है। पातिव्रत की यही मर्यादा भारतीय नारी के लिये मोक्ष बताई गई है।

इन सारी बातों के आधार पर कुछ ऐसी बातें आती हैं जिन्हें प्रश्न के रूप में उठाना आज की परिस्थिति के बीच आवश्यक है।

(१) भारतीय नारी का व्यक्तित्व क्या है ?

(२) क्या भारतीय नारी के लिये पातिव्रत्य का उक्त आदर्श एक शाश्वत सत्य है ?

(३) क्या स्त्री में वे सभी दोष होते हैं जिन्हें भारतीय ग्रन्थों में अनेक स्थानों पर गिनाया गया है ? और यदि होते हैं तो इनका कारण क्या है ?

(४) भारतीय नारी का अपना दृष्टिकोण पुरुष के प्रति क्या है ?

पहली बात पर विचार करते हुए मुझे आश्चर्य होता है कि भारतीय नारी का व्यक्तित्व केवल खाना बनाने कपड़े धोने और पति की सेवा करने तक ही सीमित रहता है। इसके अलावा उसका कोई दायरा ही नहीं है। सामाजिक जीवन में उनका कोई भी भाग नहीं होता। अधिकतर घरेलू ग्रामवासियों में अभी रहने वाली स्त्रियाँ यह तक नहीं जानतीं कि आजकल राज्य किसका है। कुछ दिनों पहले की ही बात है लोक-सभा और विधान सभा के लिये चुनाव हो रहे थे, उसमें स्त्रियों को भी वोट देने का अधिकार होता है। गांव की स्त्रियाँ इतना भी नहीं जानती थी कि चुनाव क्या होता है और इसका तात्पर्य क्या है। इसका मूल कारण तो अशिक्षा है लेकिन इसके साथ यह क्यों नहीं विचार करते कि यह अशिक्षा फैली क्यों ? इसका यही कारण है कि स्त्री ने अपने व्यक्तित्व को परिवार तक ही सीमित समझा। पति की सेवा में ही उसने व्यक्तित्व की अन्तिम परिणति देखी तभी उसके हृदय में शिक्षा के लिये कोई उत्सुकता नहीं बढ़ी। किसी वस्तु को जानने की जिज्ञासा सदा के लिये लुप्त हो गई और यहीं आकर उनकी जड़ता प्रारम्भ हो गई। शताब्दियों से इसी कारण भारतीय स्त्री सामाजिक जीवन से इतनी दूर चली गई है कि आज समाज की समस्याएं कौतूहल रूप में ही उनके सामने आती हैं जिन पर विचार करने की आवश्यकता वे नहीं समझतीं। पुरुष ने ही इस सब की जिम्मेवारी लेली है और इसी कारण उसने भी स्त्री के व्यक्तित्व के विकास पर रोक लगाकर उसे अशिक्षा की ओर प्रेरित किया है। आज भी अनेक परिवारों में यही धारणा प्रचलित है कि स्त्रियों को पढ़ना नहीं चाहिये। इसकी आवश्यकता ही क्या है। इनको नौकरी तो कहीं करनी ही नहीं है। पति उनका भरण-पोषण करेगा। उनका काम तो पति की सेवा करना है। इसीलिये मैं कहता हूँ कि इस पातिव्रत के आदर्श के कारण स्त्री के व्यक्तित्व का विकास एक साथ रुक गया। उसकी चेतना केवल एक दासी की चेतना हो गई जो कभी अपने जीवन की स्वतन्त्र सत्ता की कल्पना तक नहीं कर सकती।

दूसरी बात पर मेरा तो यही मत है कि पातिव्रत का आदर्श यद्यपि समाज में आज मान्य है और हमारी चेतना के भीतर यह इतना गहरा उतर गया है कि हम अपनी पत्नी से इसी मर्यादा के पालन करने की आशा करते हैं लेकिन फिर भी विवाहबन्धन में यह आदर्श शीघ्र ही समाप्त हो जायगा। नई परिस्थितियों के बीच अवश्य ही यौन-सम्बन्ध दूसरे प्रकार के होंगे। इसीलिये यह विवाह

करना असंगत होगा कि यह आदर्श शाश्वत रह कर सदा स्त्री के व्यक्तित्व को मर्यादित करता रहेगा। मैं यह नहीं कहता कि उसके स्थान पर स्वेच्छाचार की अवस्था आ जायेगी और मैं उस अवस्था को कोई प्रगति की अवस्था भी नहीं मानता हूँ लेकिन मेरा इतना विश्वास अवश्य है कि पातिव्रत का सामन्तकालीन रूप अवश्य बदल जायेगा और इसके स्थान पर पुरुष और स्त्री के बीच स्वस्थ सम्बन्ध उठेंगे जिनके बीच स्त्री के व्यक्तित्व को भी पुरुष के व्यक्तित्व के समान ही महत्व दिया जायेगा और फिर यौन-सम्बन्धों के साथ मध्यकालीन पाप और पुण्य की धारणायें भी सम्भवतया काम हो जायेंगी। विकासक्रम को देखकर ही मैं इस प्रकार सोचता हूँ।

तीसरी बात की ओर मैं पहले भी संकेत कर चुका हूँ। स्त्री में दोष होते अवश्य हैं और शास्त्रकारों ने जितने प्रकार के भी दोष गिनाये हैं वे सभी उनके चरित्र में मिल जाते हैं लेकिन प्रश्न तो यह है कि न्यायाधीश के रूप में बैठा पुरुष क्या इतना पवित्र है कि वह केवल स्त्री के दोष ही निकाले और अपने दोषों पर विचार भी न करे और फिर अधिकतर दोष तो इस तरह के गिनाये गये हैं, जो स्त्री के कार्यों के रूप में लिये गये हैं जिनमें इसने पुरुष की तनिक भी अवहेलना करने की चेष्टा की है। क्या पुरुष को भी इसी दृष्टिकोण से परखा गया है? मेरे अनुमान से तो नहीं। यह दोषों के बारे में निर्णय करने का दृष्टिकोण ही एकांगी है इसलिए इसके लिये केवल स्त्रियों को ही दोषी समझना स्त्रियों के प्रति अन्याय होगा। इसके अलावा यह भी है कि स्त्रियाँ इन दोषों की ओर क्यों बढ़ती हैं। इसके दो कारण हैं—

(१) एक तो उनका परतन्त्र जीवन। स्वाभाविक ही है कि परतन्त्र व्यक्ति मर्यादा तोड़ने के लिये सदा उत्सुक रहता है।

(२) स्त्री का सामाजिक जीवन में कोई भाग नहीं होता। स्त्री के जीवन में घर का काम-धन्धा करने तथा सन्तानोत्पादन करने के सिवाय और कोई कार्य ही नहीं होता इसी कारण उनका मन सदा असम्मान रहता है। स्त्री दयनीय अवस्था में रहती अवश्य है, लेकिन पुरुष का सा कठोर जीवन वह व्यतीत नहीं करती। पुरुष उसकी अपेक्षा अधिक व्यस्त रहता है और परिवार की चिन्तायें भी उसे अधिक रहती हैं, उसकी तुलना में स्त्री के पास अवकाश अधिक होता है। यही कारण है कि उसका चित्त विषय-विकारों की ओर असामान हो जाता है। यह मनोवैज्ञानिक सत्य है कि जितनी अधिक मर्यादाएं किसी पर लगाई जाती हैं उतना ही अधिक वह व्यक्ति उनको तोड़ने के लिये उत्सुक होता है। मलिन ने भी इसका समर्थन करते हुए कहा है कि व्यक्ति तो अनिच्छा से ही मर्यादाओं के बीच बँधकर सामाजिक जीवन व्यतीत करना चाहता है, नहीं

तो स्वभाव से वह स्वेच्छाचारी होता है। यही कारण है कि स्त्रियों का चित्त अधिक चलायमान होता रहा है और उनके सम्बन्ध में विस्तार से दोषों की विवेचना की गई है। इन दोषों के लिये स्त्रियाँ अधिक उत्तरदायिनी हैं या उनके जीवन के विषय में बाँधी गई मर्यादायें ?

चौथी बात पर मैं इतना ही कहूँगा कि मध्यकाल में तो धर्म के रूप में स्त्री ने पुरुष द्वारा निश्चित सभी मर्यादाओं को स्वीकार कर लिया था और वे उनकी चेतना में इतनी गहरी उतर गई हैं कि आज भी स्त्रियाँ पति पाने के पश्चात् अपने जीवन के भविष्य के बारे में कुछ सोचती ही नहीं। मुझे यह देखकर बड़ा आश्चर्य होता है कि स्त्री तो विवाह के पश्चात् अपनी सारी चिन्ता छोड़ देती है और पुरुष की चिन्ता उस समय से प्रारम्भ होती है। लेकिन अब युग परिस्थितियों के परिवर्तन से स्त्री जागरूक अवश्य होने लगी है।

६

समाज, विवाह और प्रेम

विवाह के भी अनेक रूप रहे हैं। जैसे-जैसे परिस्थितियाँ बदलती रही हैं, उसी के अनुसार विवाह पद्धतियों में अन्तर आता चला गया है। भारतवर्ष में भी सभी प्रकार की विवाह पद्धतियाँ रही होंगी। कुछ विद्वान उदाहरण लेकर यह सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं कि भारतवर्ष में तो कभी भी कामाचार की अवस्था नहीं रही। यहाँ तो सदा से ही एक पुरुष के साथ एक स्त्री रही और उसी प्रकार जोड़े के रूप में विवाह पद्धति चली इस प्रकार की विचारधारा वाले लोग केवल अपने को ही समस्त ज्ञान का पुञ्ज मानकर अपने दम्भ को सन्तुष्ट कर लिया करते हैं। और, उनके तर्क का उत्तर भी क्या दिया जा सकता है। वे लोग तो वेद में एटम बॉम्ब तक को खोज लेते हैं।

पाण्डुरंग वामन काणे ने धर्मशास्त्र के इतिहास में विवाह के विषय में लिखते हुए अपना मत इस प्रकार प्रतिपादित किया है वेदों में ऐसे समाज के बारे में कोई प्रमाण नहीं मिलते जहाँ स्त्री और पुरुष के स्वतन्त्र सम्बन्ध सम्भोग पर आधारित हों। इस तरह के अमर्यादित समाज की ओर वेद कहीं भी संकेत नहीं करता। महाभारत में पाण्डु अपनी पत्नी कुन्ती से अवश्य कहता है कि पूर्वकाल में स्त्रियाँ स्वेच्छाचारिणी होती थीं और वे एक पुरुष को छोड़कर स्वतन्त्रतापूर्वक दूसरे पुरुष के साथ विचरण कर सकती थीं। उत्तर कुरु में यह

अवस्था अभी तक रही है। उद्दालक के पुत्र श्वेतकेतु ने इस स्वेच्छाचार को रोकने के लिए मर्यादा स्थापित की थी।

सभापर्व में भी वर्णन आता है कि माहिष्मती में स्त्रियां अग्नि की कृपा से भी में जाता था उसी प्रकार विचरण करती थीं और उन्हें किसी प्रकार भी नहीं रोका जा सकता था। कामाचार की अवस्था को सिद्ध करने के लिए इन उदाहरणों को प्रामाण्य नहीं माना जा सकता। पहली बात तो यह है कि उत्तर कुरु स्वयं पौराणिक देश है और फिर इन उदाहरणों से तो यही अधिक मालूम होता है कि कथाकार ने प्राचीनकाल के यौनसम्बन्धों के बारे में इस तरह की कल्पना की थी। इससे यह सिद्ध नहीं होता कि वास्तव में भारतवर्ष में इस प्रकार की स्थिति रही है और फिर समाजशास्त्रियों का यह मत कि प्रारम्भिक अवस्था में समाज में स्वेच्छाचार था, अधिक आदरणीय मत नहीं रहा है।

हरिदत्त वेदालङ्कार ने भी श्री काणे के मत को स्वीकार किया है। फिर तो इनके मतानुसार भारतवर्ष में विवाह तथा स्त्री पुरुष के यौन-सम्बन्धों का विकास उस प्रकार नहीं हुआ जैसा अन्य स्थानों पर हुआ। आस्ट्रेलिया, हवाई द्वीप मलेनेशिया, समोआ आदि स्थानों पर रहने वाली जातियों के बीच यौन सम्बन्धों का अध्ययन करके मोरगन तथा अन्य विद्वानों ने उनके बीच प्रारम्भिक कामाचार से लेकर स्त्री-पुरुष के जोड़े के रूप में विवाह तक के विकास को स्पष्ट रूप में पाया है फिर भारतवर्ष में रहने वाली प्राचीन जातियों को इन जातियों की कोटि में न रखने का तो अर्थ यही है कि भारत के लोग सदा से ही विश्व की अन्य जातियों की अपेक्षा अधिक सभ्य और सुसंस्कृत रहे हैं। यह मानना उनके लिए अति स्वाभाविक भी है जो वेद को कुछ लाख वर्ष पूर्व की रचना बताते हैं तभी तो वे वेद में उस प्रारम्भिक अवस्था के सम्बन्ध में प्रमाण ढूंढते हैं और उनके न मिलने पर यह घोषणा कर देते हैं कि भारत में कभी भी कामाचार की अवस्था नहीं रही।

इस विषय में कुछ बातों की ओर ध्यान आकर्षित करना आवश्यक है।

(१) सबसे पहली बात तो यह है कि वेद लाखों वर्ष पुरानी रचना नहीं है और न ही इसकी रचना के साथ ही सृष्टि का आरम्भ हुआ था। इतिहासकारों ने इसको ईसा से करीब तीन-चार हजार वर्ष पूर्व की रचना माना है। स्वयं श्री काणे वैदिक संहिता ब्राह्मण तथा उपनिषदों का समय ईसा से ४० ० वर्ष पूर्व से लेकर १००० वर्ष तक मानते हैं। फिर वेद को भारतवर्ष में मनुष्य के सम्पूर्ण विकास की जानकारी के लिए प्रामाणिक ग्रन्थ मान लेना कहां तक उचित होगा और फिर वेद के प्रमाण पर विश्वास किया जा सकता है तो महाभारत की कथाओं को कवि की कोरी कल्पना कहकर क्यों टाला

जाता है। यदि श्वेतकेतु और दीर्घतमा आदि की कोई कथा प्रचलित नहीं होता तो महाभारत में उसको सम्मिलित ही क्यों किया जाता। फिर इरिदत्त वेदाल कार तर्क प्रस्तुत करते हैं कि महाभारतकार तो प्रत्येक परिस्थिति का औचित्यीकरण करना चाहता है इसीलिये पाण्डु के मुंह से उसने इस प्रकार कथा कहलवा कर कुन्ती के परपुरुष से सम्बन्ध जोड़ने को उचित ठहराया है। विचार करने की बात है कि यदि औचित्यीकरण का ही प्रश्न था तो पाण्डु स्वयं ही इसके विषय में नीति निर्धारित कर सकते थे और यदि उन्होंने इस भय से नहीं की कि शायद कुन्ती उनकी बात को न माने तो वे इसके स्थान पर अन्य कोई ऐसी कथा रख सकते थे जिसमें विशेष परिस्थितियों में केवल पुत्र की कामना से ही एक पतिव्रता स्त्री पर-पुरुष के साथ सहवास करती है। इससे मर्यादा की रक्षा भी हो जाती और अभीष्ट कार्य सिद्ध हो जाता लेकिन पाण्डु ने तो उस समाज के विषय में कुन्ती को बताया था जहाँ यौन-सम्बन्धों के साथ किसी प्रकार के पाप-पुण्य का विचार ही नहीं था। बाद में श्वेतकेतु ने मर्यादा स्थापित की। कवि की इस कल्पित कहानी से तो समाज में बड़ा अनर्थ हो सकता था। इसके आधार पर तो सृष्टि के आदिपुरुष मनु और उनकी पतिव्रता पत्नी शतरूपा की धार्मिक कथा को चुनौती दी जा सकती थी। फिर कवि इस तरह धर्म की मर्यादा का उल्लंघन इस तरह की कथा की रचना करके क्यों करता। प्रश्न तो यह है कि यदि भारतवर्ष में पातिव्रत का आदर्श प्रारम्भ से ही रहा है तो कुन्ती के उस कार्य को औचित्य देने की आवश्यकता ही क्या थी। रामायणकार ने तो अप्सरा रम्भा के साथ रावण के बलात्कार का भी औचित्य नहीं ढूंढा जबकि अनेक स्थानों पर मिलता है कि अप्सरायें स्वेच्छाचारिणी होती थीं।

धार्मिक ग्रन्थों में प्राप्त कथाओं को यदि कोरी कल्पना ही समझकर उनकी भारत के इतिहास की जानकारी में कोई आवश्यकता न समझी जाय तो सम्भव था बुद्ध से पहले भारतवर्ष के इतिहास का कुछ पता ही न चले। फिर वेद के प्रमाण की सच्चाई का ही क्या विश्वास किया जाये?

(२) उस समय मनुष्य अपनी आदिम अवस्था की तुलना में कितना अधिक सभ्य हो चुका था, इसका प्रमाण खुदाई की रिपोर्ट पढ़कर हो जायेगा, फिर उस समय से भी हजारों वर्ष पहले यहाँ मनुष्य की जंगली अवस्था रही है। तब समाज में कामाचार था यदि वेद बनने से हजारों वर्ष पहले के समाज का चित्र वेद में नहीं आया तो क्या यह मान लेना चाहिये कि वह समाज भारतवर्ष में कभी रहा ही नहीं? यदि यह माना जाये कि वह यहाँ नहीं रहा और न इसके बीच उस तरह के यौन-सम्बन्ध यहाँ रहे जैसे अन्य स्थानों पर इसी

प्रकार के समाज में रखें तो फिर यही मानना चाहिए कि भारत में विकास विश्व के अन्य स्थानों से अलग तरह का हुआ लेकिन भेद इतना है कि इस तरह के विकास करने वाले विद्वानों ने वेद से पहले के समाज के अध्ययन की ओर अपनी कलम नहीं उठाई है। यदि वे ऐसा करें तो सम्भवतया डार्विन के समकक्ष कोई दूसरा विकास का सिद्धान्त जो केवल भारत पर लागू हो प्रकाश में आ जाये।

सबसे पहले तो विचार करना चाहिए कि विवाह का तात्पर्य क्या है। इसके सम्बन्ध में मैं आर्य ग्रन्थों के आधार पर आर्यों का दृष्टिकोण सामने रखूंगा और प्राचीन अन्य जातियों का भी विवाह के प्रति जो दृष्टिकोण रहा है उसे भी तुलनात्मक रूप से रखूंगा।

ऋग्वेद के अनुसार विवाह का तात्पर्य पुरुष को गृहपति बना देना था जिससे वह देवताओं को उनका उचित भाग दे और पुत्र उत्पन्न करे। इसी आधार पर ऋषि ने बताया है कि पुरुष विवाह द्वारा स्त्री को गार्हपत्य के लिये ग्रहण करता है। आपस्तम्ब धर्मसूत्र में वैदिक दृष्टिकोण को इस प्रकार रखा गया है धर्मप्रजासम्पन्न दारे नान्यां कुर्वीत—अर्थात् धर्म और प्रजा के लिये ही स्त्री को ग्रहण करना चाहिए। स्त्री इन्हीं कार्यों को सिद्ध करती है। इसके अलावा रति को भी ऋषि ने विवाह सम्बन्ध में स्वीकार कर लिया है। इस तरह विवाह के तीन उद्देश्य हैं प्रजा को सम्पन्न करना अर्थात् पुत्र पैदा करना परिवार बनाकर देवताओं की उपासना आदि से धर्म का पालन करना और स्त्री के साथ रमण करके रति की इच्छा को पूर्ण करना।

आर्य पुत्रों के लिये बहुत लालायित रहते थे। उनके लिए ही वे सदा देवताओं से प्रार्थना किया करते थे। जिस स्त्री के गर्भ से पुत्र पैदा नहीं होता था उसके विवाह सम्बन्ध को सार्थक नहीं माना जाता था। पुत्र के द्वारा ही तो पिता अमरता प्राप्त करता था। पुत्र ही उसकी मृत्यु के पश्चात वंश पर म्परा को आगे बढ़ाता था और अपने पितरों को पिण्डदान देकर उनकी आत्माओं को संतुष्ट करता था, तभी तैत्तिरीय ब्राह्मण में कहा गया है—प्रजामनु प्रजायसे तदु त मर्त्यामृतम अर्थात प्रजा अर्थात सन्तान की उत्पत्ति ही अमरता है फिर वैदिक आर्य अग्नि से प्रार्थना करता है प्रजाभिरग्ने अमृतत्वमश्याम् अर्थात हे अग्नि मैं सन्तान द्वारा अमृतत्व प्राप्त करूं।

आगे चलकर महाभारत में स्पष्ट शब्दों में कहा गया है कि जो पुरुष सन्तान उत्पन्न नहीं करता वह मर्यादित होता है (अप्रजायमरन्याश्च भवत्यधार्मिको नर)। सन्तान को शास्त्रों वेद तथा देवताओं से तुलना की गई है। स्वर्गलोक

प्राप्त करने तथा वहाँ पर निवास करने और नरक की यातनाओं से बचने के लिये पुत्रोत्पत्ति को आवश्यक माना गया है।

इससे पहले ही गोपथ ब्राह्मण में लिखा है कि पुत् नामक नरक से पुत्र ही पिता की रक्षा करता है तभी वह पुत्र कहलाता है।

वशिष्ठ ने भी पुत्रहीन पुरुष के लिये किसी अच्छे लोक की व्यवस्था नहीं की है। धर्मसूत्र का वाक्य है अनन्ताः पुत्रिणःलोकाः नापुत्रस्य लोकोऽस्तीति श्रूयते अर्थात पुत्र वालों के अनन्त लोक हैं लेकिन पुत्रहीना के लिए कोई लोक नहीं है।

आगे वशिष्ठ किसी से यह कहना कि तेरी सन्तानें पुत्रहीन हों, इसे अभिशाप के रूप में ही मानते हैं (प्रजाः अनपत्यास्य इत्यभिशाप)।

महाभारत अपुत्रा के प्रति अपना निम्न दृष्टिकोण रखता है अपुत्र का जीवन निरर्थक है। वह जिस पदार्थ को देख लेती है देवता उस पदार्थ की हवि नहीं स्वीकार करते क्योंकि वह उसकी दृष्टि से दूषित हो जाता है। ऐसी हवि वाले पुरुष के पितर तेरह वर्ष तक असंतुष्ट रहते हैं।

महाभारत में वन्ध्या स्त्री के अन्न को भी इतना बुरा माना गया है कि उसके खाने से आयु क्षीण हो जाती है।

इस तरह प्रायः सभी प्राचीन ग्रन्थों के अनुसार विवाह की सार्थकता तभी है जबकि विवाह सम्बन्ध के पश्चात् पुत्र उत्पन्न होने से परिवार समृद्ध हो। मनु ने तो सीधे शब्दों में कह ही दिया है कि स्त्री की रचना विधाता ने पुत्रोत्पादन के लिए ही की है।

इसके पश्चात् धर्म का प्रश्न उठता है। वैदिक आर्य यज्ञादि कार्यों में पत्नी की आवश्यकता महसूस करते थे। उस समय विशेष रूप से धार्मिक कृत्य यज्ञ ही था जिसके द्वारा आर्य देवताओं को उनका भाग समर्पित किया करते थे। ऋग्वेद में पति-पत्नी के साथ बैठकर यज्ञ करने का उल्लेख है। यजुर्वेद तथा अथर्ववेद में भी पति के साथ पत्नी के यज्ञ करने की बात कई स्थानों पर मिलती है।

शतपथ ब्राह्मण में तो उस पुरुष को यज्ञ का अधिकारी ही नहीं माना है जिसके पत्नी नहीं होती (अयज्ञीयो वा एषोऽपत्नीकः)

पूर्व मीमांसा के अनुसार पति पत्नी दोनों ही सम्पत्ति के स्वामी हैं अतः उन्हें संयुक्तरूप से यज्ञ करने चाहिए।

यज्ञ में कई कार्य ऐसे होते थे जिन्हें पत्नी करती थी। अनेक उदाहरण प्राचीन ग्रन्थों में ऐसे मिलते हैं जहाँ पत्नी के बिना यज्ञ अधूरा माना जाता था। सबसे बड़ा उदाहरण तो रामायण का ही मिलता है। राजा राम ने

प्रजाजनों का असन्तोष देखकर अपनी धर्मपत्नी सीता को त्याग दिया था। लक्ष्मण जाकर उसे वन में छोड़ आये थे लेकिन जब अश्वमेध यज्ञ का समय आया तो पत्नी की आवश्यकता पड़ी। पुरोहित ने कहा देव ! पत्नी के बिना अश्वमेध यज्ञ पूरा नहीं हो सकता। उस समय सीता के न होने पर उसकी सुवर्ण प्रतिमा बनाकर राम की बगल में रखी गई और तब अश्वमेध यज्ञ सम्पन्न हुआ।

यह उदाहरण स्पष्ट रूप से बताता है कि प्राचीनकाल में स्त्री धर्म-पालन में पति की सहकारिणी रही तभी विवाह का उद्देश्य धर्म-पालन भी रखा गया और उसमें स्त्री को इतनी प्रमुखता दी गई। बाद में चलकर तो स्त्री का इन्द्र, वरुण, अग्नि आदि देवताओं से कोई सम्बन्ध नहीं रह गया। पति ही उसके लिए देवता बन गया और उसकी सेवा ही देवपूजा के तुल्य हो गई। इस तरह विवाह के उद्देश्य का यह धर्मपालन का प्रारम्भिक रूप लुप्त हो गया और स्त्री और पुरुष के धर्म के अलग-अलग क्षेत्र बन गये। अलग-अलग मर्यादाएँ स्थापित हो गईं। दम्पति के रूप में धर्मपालन की भावना के साथ स्त्री पुरुष की समानता का आधार प्रायः मिट गया। बाद में तो स्त्री का धर्म हुआ पति की अनन्यभाव से सेवा करना और पति का कर्तव्य उसका भरण और रक्षण करना हुआ। इस तरह परिवार पालन तक ही धर्म सीमित हो गया। उसके सामाजिक रूप के स्थान पर संकुचित मर्यादा आ गई और उसने सदा के लिए स्त्री को सामाजिक क्षेत्र से हटा कर पति और परिवार के साथ बाँध दिया।

विवाह का तीसरा उद्देश्य रतिफल है। कामवासना की तृप्ति करना भी स्त्री और पुरुष के इस सम्बन्ध का उद्देश्य है। लेकिन शास्त्रकार ने केवल कामवासना की तृप्ति के लिए ही विवाह को सार्थक नहीं माना है। सन्तानोत्पादन के साथ इसको गौणरूप में सम्मिलित कर लिया गया है। आपस्तम्ब धर्मसूत्र तो केवल धर्म और प्रजा को ही पत्नी ग्रहण करने के प्रयोजन मानता है। महाभारत में रति और पुत्र ही विवाह के प्रयोजन माने गये हैं। लेकिन जिन शास्त्रकारों ने प्रजा और धर्म के साथ रति की अवहेलना नहीं की है वे ही वास्तव में विषय के प्रति न्याय प्रस्तुत कर सके हैं। सच देखा जाये तो पहले-पहल स्त्री पुरुष के सम्बन्ध केवल काम वासना की तृप्ति के लिये ही प्रारम्भ हुए थे। पशु अवस्था में स्त्री पुरुष में इतनी जागरूकता नहीं थी कि वे प्रजा और धर्म को भी रति के साथ सम्मिलित कर लेते। अतः यह सत्य है कि विवाह सम्बन्ध में रति की कामना की उपेक्षा नहीं की जा सकती। रति की इच्छा को मन का विकार समझने की प्रवृत्ति किसी प्रकार का मनोवैज्ञानिक सत्य नहीं रखती। शास्त्रीय ग्रन्थों में अनेक इस तरह की कथाएं मिलती हैं जिनमें स्पष्ट रूप से

रति की भावना से प्रेरित होकर स्त्री पुरुषों ने विवाह सम्बन्धों को स्थापित किया है। शकुन्तला और दुष्यन्त की कहानी क्या इस पक्ष को सिद्ध नहीं करती ! इसलिए यह धारणा भ्रमपूर्ण है कि विवाह का तो एकमात्र उद्देश्य पुत्रोत्पादन है और वही स्त्री-पुरुष के पारिवारिक जीवन का पवित्र धर्म है रति की कामना मन का विकार है, रति की इच्छा से स्त्री के साथ कभी सम्भोग नहीं करना चाहिये। यदि यही विचारधारा सत्य है तो भारतीय प्रेम गाथा क्या दुश्चरित्रता की गाथायें हैं ? मेरे विचार से तो नहीं तो फिर रति को भी विवाह के उद्देश्य में सम्मिलित करने में क्या दोष है। रति के साथ अपवित्रता की कल्पना ही क्यों की गई है ! क्या मनुष्य अपनी कामासक्त अवस्था में अपवित्र होता है ?

भारत में इस विषय पर वात्स्यायन आदि ने इसीलिये इतना लिखा है कि इसे आवश्यक माना गया था। 'कामसूत्र' भी इसीलिये कहा गया है। भारत में काम को एक विशेष प्रतिष्ठा दी गई है।

तो उक्त उद्देश्यों की पूर्ति के लिये पुरुष और स्त्री को विवाह करना आवश्यक बताया गया है। स्त्री के बिना पुरुष के जीवन को अधूरा ही समझा गया है। शतपथ ब्राह्मण में स्त्री को अर्द्धांगिनी कह कर स्पष्ट शब्दों में यह मर्यादा स्थापित की गई है कि जब तक पुरुष विवाह करके स्त्री को अपने घर नहीं ले आता और उसके गर्भ से सन्तान पैदा नहीं कर लेता तब तक उसका जीवन अधूरा है।

स्वयं ऋग्वेद में स्त्री को ही गृह माना गया है। स्त्री के बिना गृह पूर्ण नहीं माना जाता है। इसीलिये प्राचीन ग्रन्थों में प्रत्येक स्थान पर विवाह के ऊपर विशेष महत्व दिया गया। अनेकों इस प्रकार की कथायें आती हैं कि जिन व्यक्तियों ने विवाह करके गार्हस्थ धर्म का पालन नहीं किया है उनको श्रेष्ठ लोकों में कोई स्थान नहीं मिला है इसीलिए शास्त्रकारों ने इस लोक और परलोक की सिद्धि के लिये विवाह को आवश्यक माना है।

इस सम्बन्ध में मैं शकुन्तला और दुष्यन्त के बीच हुए संवाद को लिखता हूँ। महर्षि कण्व की विदुषी पुत्री शकुन्तला जिसको उन्होंने बचपन से ही पाला था विवाह के महत्व को दुष्यन्त के सामने खोलकर रखती है और उसमें स्त्री के जीवन की महत्ता का भी वेद और शास्त्र का प्रमाण देकर प्रतिपादन करती है।

दुष्यन्त के द्वारा उसका और उसके पुत्र भरत का तिरस्कार देख कर वह आवेश में आकर कहती है हे राजन् ! मैं आपकी अधिकारिणी भार्या आपके पास स्वयं आई हूँ फिर आप क्यों नहीं आदर के साथ मुझे ग्रहण करते ? मैं

बार-बार आपसे प्रार्थना करता हूँ लेकिन आप इस पर ध्यान नहीं देते। मैं आपकी पतिव्रता पत्नी आपके पास आई हूँ यदि आप मेरा निरादर करेंगे तो याद रखिये आपके सिर के सौ टुकड़े हो जायेंगे।

वेदज्ञ शास्त्रकारों ने स्पष्ट रूप से कहा है कि स्वामी भार्या के उदर में प्रवेश करके पुत्र रूप से उत्पन्न होता है। इसी कारण स्त्री को 'जाया' कहते हैं। धर्म पत्नी से जो पुत्र उत्पन्न होता है वह वंश चलाकर पूर्व पुरुषों का उद्धार करता है। पुत्र-पुत्र नाम के नरक से पितरों की रक्षा करता है, इसी कारण उसको पुत्र कहते हैं। जो स्त्री गृहस्थ के कार्यों में चतुर पुत्रवाली, पति से अनन्य प्रेम रखने वाली पतिव्रता होती है वही वास्तव में भार्या है। भार्या पुरुष का आधा अंग है। भार्या सबसे उत्तम मित्र है। भार्या से ही धर्म अर्थ और काम की सिद्धि होती है। भार्या से ही गृहस्थाश्रम पूरा होता है। भार्या से ही मनुष्य सौभाग्यशाली होता है और भार्या से ही सुख मिलता है। मधुर वचन बोलने वाली स्त्री एकान्त में मित्र की तरह सुख देती है। धर्म कार्य में पिता की तरह लगाती रहती है और रोग आदि की पीड़ा के समय माता की तरह सेवा करती है। स्त्री के साथ में रहने से मनुष्य घने सूने वन में भी सुख से रह सकता है। जिसके स्त्री नहीं है उस पर कोई विश्वास नहीं करता। इसलिये स्त्री ही पुरुष की श्रेष्ठ गति है। विपत्ति के समय और मरने पर पतिव्रता स्त्री ही पुरुष का साथ देती है। इसी कारण विवाह की रीति चली है। जो स्त्री एक बार किसी पुरुष को अपना पति बना लेती है वह अपने पति को परलोक में भी पाती है।

पण्डितों का कथन है कि पुरुष पुत्र रूप में आप ही स्त्री में उत्पन्न होता है इस कारण पुत्रवती स्त्री का माता के समान आदर होना चाहिए। जैसे स्वर्ग को पाकर पुण्यात्मा पुरुष को प्रसन्नता होती है वैसे पिता अपने पुत्र को शीशे में अपने चेहरे की तरह देखकर आनन्दित होता है। जैसे धूप में जला हुआ मनुष्य ठण्डे पानी में नहाकर प्रसन्न होता है वैसे ही शरीर की पीड़ा आर और मन के सन्ताप से व्याकुल पुरुष स्त्री के साथ शान्ति पाता है। रति, प्रीति और धर्म भार्या के ही आधीन है। इसलिये स्त्री से कभी अप्रिय वचन नहीं कहने चाहिए। स्त्रियों से पुरुष पैदा होते हैं। वे ही पुरुषों की उत्पत्ति का पवित्र और नित्य स्थान हैं। स्त्रियों के बिना बड़े-बड़े ऋषि भी प्रजा उत्पन्न नहीं कर सकते।

इसके पश्चात शकुन्तला पिता के लिए पुत्र की महत्ता बताती हुई कहती है जब पुत्र आकर पिता के गले से लिपटता है तो उसके हृदय को अनन्त सुख मिलता है। वत्स, स्त्री का स्पर्श और जल भी बड़ा शीतल और सुख

वाचक नहीं होता। जैसे मनुष्यों में ब्राह्मण, चौपायों में गाय और पूजनीय पुरुषों में गुरु श्रेष्ठ है वैसे ही सुख-स्पर्श वस्तुओं में पुत्र श्रेष्ठ है। पुत्र-स्पर्श से बढ़कर सुख इस संसार में नहीं है। मनुष्यों में देखा जाता है कि थोड़ी दूर पर दूसरे गाँव की यात्रा से लौटकर जब घर आते हैं तब स्नेह के मारे बालकों को गोद में लेकर प्रीति से उनका माथा सूँघते हैं। जातकर्म संस्कार के समय जो वैदिक मन्त्र पढ़े जाते हैं उनका अर्थ क्या है? उन मन्त्रों का आशय है हे पुत्र! तुम्हारे अंग मेरे अंग से और तुम्हारा हृदय मेरे हृदय से उत्पन्न हुआ है।

हे पुत्र! तुम केवल नाम-मात्र को मुझसे अलग हो। तुम मेरी आत्मा हो। तुम्हारी पूरे सौ वर्ष की आयु हो।

हे पुत्र! मेरा जीवन और वंश तुम्हारे आधीन है। तुम सुख से पूरे सौ वर्ष तक जीवित रहो।

इस तरह मन्त्र बोलकर पिता पुत्र का माथा सूँघता है। पितरों का कहना है कि पुत्र कुल और वंश को बचाता है, इस कारण पुत्र उत्पन्न करना सब धर्मों में श्रेष्ठ है। पुत्र पिता की कीर्ति और कुल के धर्म को बढ़ाता है और माता पिता को अपूर्व आनन्द देता है।

सौ कुए खुदवाने की अपेक्षा एक सरोवर बनवाना श्रेष्ठ है। सौ सरोवर बनवाने की अपेक्षा एक यज्ञ करना श्रेष्ठ है। सौ यज्ञ करने की अपेक्षा एक पुत्र उत्पन्न करना श्रेष्ठ है।

शकुन्तला के इस तरह विनय करने के फलस्वरूप आकाशवाणी हुई कि हे राजा दुष्यन्त! माता रूपी धर्मकोष से उत्पन्न होने वाला पुत्र सब तरह पिता का ही रूप है। कारण पिता है, कार्य पुत्र है माता तो सहायक आधार मात्र है। आप अपने पुत्र का भरण-पोषण करिये। शकुन्तला का अपमान करना आपके लिए उचित नहीं है। पिता पुत्र रूप से आप ही अपने को नरक से उबारता है। यह पुत्र आपका है। जाया अपने स्वामी के आधे अंग को लेकर पुत्र उत्पन्न करती है। जीवित रहकर भी अपने पुत्र को छोड़ कर उससे अलग रहना अत्यंत दुर्भाग्य की बात है।

आकाशवाणी सुनकर राजा दुष्यन्त ने अपनी पत्नी शकुन्तला और पुत्र भरत को स्वीकार किया।

शकुन्तला ने पत्नी का बड़ा ही उत्कर्ष प्रस्तुत किया है। उसके ये वाक्य कि भार्या से ही धर्म अर्थ और काम की सिद्धि होती है, मधुर वचन बोलने वाली स्त्री एकान्त में मित्र की तरह सुख देती है, धर्म-कार्य में पिता की तरह

जगाती है और रोग आदि की पीड़ा के समय माता की तरह सेवा करती है, सारी समस्या को हल कर देती है।

शकुन्तला ने धर्म, अर्थ और काम की सिद्धि में ही विवाह की सार्थकता मानी है।

फिर आगे शकुन्तला कहती है पुरुष पुत्र रूप में आप ही स्त्री में उत्पन्न होता है, इस कारण पुत्रवती स्त्री का माता के समान आदर होना चाहिए।

पुत्रवती स्त्री को श्रेष्ठ पत्नी के साथ ही माता का सम्मान भी मिला है तभी सम्भवतया किन्हीं शास्त्रकारों ने रति को विवाह के उद्देश्यों में सम्मिलित नहीं किया। भारतवर्ष में माता का स्थान सदा से ही ऊंचा समझा जाता रहा है। स्त्री विवाह के समय तो पत्नी बनकर अपने पति के घर आती है लेकिन उसके गर्भ से पुत्र पैदा होते ही वह माता बन जाती है। पुत्र को जन्म देना बड़ा ही पवित्र कार्य माना गया है तभी प्रजनन-क्रिया के साथ किसी प्रकार पुरुष की कामवासना को जोड़ना शास्त्रकार ने मातृत्व का अपमान समझा है। फिर भी अधिकतर शास्त्रकारों ने काम और रति की अवहेलना नहीं की है लेकिन केवल रति की इच्छा से ही स्त्री के साथ सहवास करने की प्रवृत्ति को सभी ने दूषित माना है। तभी विवाह के मूलोद्देश्यों में पहले पुत्रोत्पत्ति को लिया है। फिर इसका एक और कारण भी था। जिस समय शास्त्रकारों ने अपने नियम रचे हैं उस समय समाज में वेश्या प्रथा भी प्रचलित थी। पुरुष अपनी धर्म पत्नी के अलावा कई एक रखैल भी रख लेते थे। उसके साथ सहवास करने का उद्देश्य केवल कामवासना की तृप्ति ही होता था। उनकी तुलना में धर्मपत्नी को अधिक सम्मान और गौरव देने के लिए ही सम्भवतया कुछ शास्त्रकारों ने रतिसुख को विवाह के उद्देश्यों में सम्मिलित नहीं किया। कुछ भी हो यह तो मानना उचित ही होगा कि पत्नी केवल पुरुष की कामवासना ही तृप्त करने के लिए नहीं होती और नहीं उसे पुत्रोत्पादन के लिए साधनमात्र मानना ही उसके व्यक्तित्व के प्रति उचित सम्मान दिखाना है। स्त्री का प्रमुख कार्य प्रजनन अवश्य है लेकिन उसमें जिस तरह वह साधनमात्र है उसी तरह पुरुष भी तो है, तभी तो शकुन्तला ने कहा है—पुत्रवती स्त्री का माता के समान आदर होना चाहिए। यह तभी सम्भव हो सकता है जबकि पुरुष स्त्री को केवल भोग्य मात्र मानकर स्वयं दोषपति के रूप में उसके विषय में सम्पत्ति की धारणा हटा दे। विवाह में स्त्री पुरुष का स्थान बराबर होता है। कोई किसी एक दूसरे के कार्य का साधनमात्र नहीं है। दोनों का एक अभीष्ट धर्म है और दोनों का ही जीवन समान दृष्टि से उस धर्म पालन के लिए एक दूसरे पर आश्रित है।

इसी आधार पर सारी विषमता दूर हो सकती है। तभी विवाह का पवित्रता स्वस्थ रूप से स्थापित हो सकता है।

पुत्रोत्पादन, धर्म पालन तथा रतिफल तीनों को सामूहिक रूप से विवाह का उद्देश्य माना जाना चाहिए लेकिन इसके साथ पति और पत्नी की समानता का आदर्श पहले स्थापित होना चाहिए तभी स्त्री पत्नी और माता के रूप में अपना उचित गौरव रख सकती है।

शकुन्तला ने पुरुष समाज को चेतावनी दी है कि स्वामी भार्या के उदर में प्रवेश करके पुत्र रूप से उत्पन्न होता है। धर्मसूत्रों में तो माता के गौरव को काफी ऊँचा करके चित्रित किया गया है।

वशिष्ठ धर्मसूत्र में कहा गया है कि आचार्य का गौरव दस उपाध्यायों से अधिक है, पिता सौ आचार्यों से अधिक महत्व-सम्पन्न है और माता का गौरव एक हजार पितरों से भी अधिक है।

महाभारतकार ने माता को श्रेष्ठ गुरु माना है।

वेदों में भी माता के गौरव का उल्लेख किया गया है। अथर्ववेद में पुत्र को आज्ञा दी गई है कि वह माता के अनुकूल मन वाला होकर रहे।

मनु और याज्ञवल्क्य माता को गुरु और पिता से भी ऊँचा स्थान देते हैं।

अत्रि ने कहा है कि माता से बढ़कर कोई गुरु नहीं है (नास्ति मातुः परो गुरुः)

माता के प्रति इसी *सम्मानपूर्ण दृष्टिकोण* ने विवाह को उच्च गौरव प्रदान किया है और इसी कारण स्त्री को पुत्रोत्पादन का साधनमात्र शास्त्रकारों ने माना लेकिन फिर भी उसके साथ शास्त्रकार की स्त्री जीवन के प्रति पवित्र भावना ही रही। पत्नी रूप स्त्री के लिए अनेक मर्यादाएं निश्चित करते समय शास्त्रकार ने स्त्री को वह उच्च गौरव प्रदान नहीं किया।

विवाह के उद्देश्य बताने के पश्चात् हम उन विवाह पद्धतियों से परिचित कराना चाहते हैं जो प्राचीन काल में प्रचलित थी और जिनका प्राचीन ग्रन्थों में वर्णन भी आता है।

महाभारत के अनुशासनपर्व में युधिष्ठिर भीष्म से प्रश्न करता है पितामह ! योग्य वर के साथ कन्या का विवाह करने से ही देवताओं की पूजा पितरों का तर्पण, अतिथि का सत्कार और अपने कुटुम्ब का पालन आदि काम होते हैं। अतएव आप मुझे बतलाइये कि किस प्रकार के पात्र को कन्या देनी चाहिए ?

भीष्म कहते हैं : हे वत्स ! वर का स्वभाव, उसकी विद्या, कुल-मर्यादा

और उसके कार्यों की परीक्षा करके तब उसे कन्या दान करे। ऐसे विवाह को ब्राह्म विवाह कहते हैं। ब्राह्म-विवाह ब्राह्मणों के लिए श्रेष्ठ है।

वर को धन आदि द्वारा अपने अनुकूल करके जो कन्यादान किया जाता है, वह विवाह प्राजापत्य कहलाता है। प्राजापत्य विवाह ब्राह्मण और क्षत्रिय दोनों वर्णों के लिए श्रेष्ठ है। वर और कन्या की पसन्द से जो विवाह होता है, उसे गान्धर्व विवाह कहते हैं।

वर बहुत सा धन देकर कन्या मोल लेता है और कन्या-पक्ष के पालन करने का लोभ देकर जो विवाह करता है वह असुर विवाह कहलाता है।

कन्या-पक्ष के लोगों को बलपूर्वक मारपीट कर रोती हुई कन्या को बल-पूर्वक छीनकर जो विवाह किया जाता है वह राक्षस विवाह कहलाता है।

कन्यापक्ष की असावधानी में कन्या को हरण करने से जो विवाह होता है वह पैशाच विवाह कहलाता है।

इन पाँच प्रकार के विवाहों में ब्राह्म, प्राजापत्य और गान्धर्व, ये तीन धर्म संमत हैं तथा राक्षस और पैशाच दोनों ही निन्दनीय हैं। ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य की कन्या के साथ ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य की कन्या के साथ क्षत्रिय और वैश्य की कन्या के साथ वैश्य विवाह कर सकता है। द्विजों में अपनी जाति की स्त्री ही प्रधान है। किसी किसी की सम्मति है कि ब्राह्मण आदि तीनों वर्ण केवल भोग करने के लिए शूद्र की कन्या भी ले सकते हैं। लेकिन फिर भी इसका निषेध किया गया है। सारांश यह है कि ब्राह्मण आदि तीनों वर्णों का शूद्रा के गर्भ से सन्तान उत्पन्न करना सभी के मत से निन्दनीय है।

ब्राह्मण यदि शूद्रा के गर्भ से सन्तान उत्पन्न करे तो उसे प्रायश्चित करना चाहिए। तीस वर्ष की आयु के पुरुष के साथ दस वर्ष की और इक्कीस वर्ष के युवक से सात वर्ष की कन्या का विवाह करना चाहिए। जिस कन्या का पिता और भाई दोनों न हों उसके साथ विवाह न करे क्योंकि उस पर यह सन्देह रहता है कि इसके पिता ने इसे पुत्र के स्थान पर तो नहीं मान लिया है।

रजस्वला हो जाने पर कन्या तीन वर्ष तक अपने कुटुम्बियों के द्वारा विवाह होने की प्रतीक्षा करे, उसके बाद वह स्वयं अपनी पसन्द का पति चुन ले। जो कन्या ऐसा करती है उसका पति पर अटल प्रेम होता है और सन्तान की वृद्धि होती है। जो कन्या इसके विरुद्ध आचरण करती है वह निन्दनीय है। मनु के मत से माता के सपिण्ड में और पिता के गोत्र में कन्या का विवाह नहीं होना चाहिए।

भीष्म के इस कथन से विवाह के सम्बन्ध में अनेक प्रश्न उठते हैं। नारी

बारी से हम प्रत्येक को लेंगे और उसके विषय में शास्त्रकारों के मत प्रस्तुत करेंगे और हम भी अपनी बात सामने रखेंगे।

सब से पहले तो भीष्म ने केवल छः प्रकार के विवाहों को गिनाया है। महाभारत के आदि पर्व में ही शकुन्तला दुष्यन्त के संवाद में दुष्यन्त आठ प्रकार के विवाहों की विवेचना करता है। वे इस प्रकार है।

(१) ब्राह्म विवाह
(२) देव विवाह
(३) आर्ष विवाह
(४) प्राजापत्य विवाह
(५) आसुर विवाह
(६) गान्धर्व विवाह
(७) राक्षस विवाह
(८) पैशाच विवाह

विवाहों के नाम गिनाने के साथ ही दुष्यन्त ने यह भी बताया कि कौन से विवाह किस वर्णों के लिये उचित हैं।

इससे पूर्व कि हम उसके विवेचन का अध्ययन करें यह सोचना आवश्यक है कि एक ही समाज में आठ प्रकार के विवाह किस लिये मान्यता प्राप्त कर गये थे। स्पष्ट ही इसका कोई विशेष कारण होना आवश्यक है।

यहां हमें कुछ प्रथायें जातियो (races) के नाम पर मिलती हैं जैसे आसुर अर्थात् असुरो की विवाह प्रथा। गंधर्वों यानी गांधर्वों की विवाह प्रथा। राक्षस अर्थात राक्षस विवाह प्रथा और पैशाच अर्थात् पिशाचों की विवाह प्रथा। यदि हम यह मानें कि(यद्यपि इन चारों जातियो के उद्गम(source of origin)अलग अलग मिलने पर भी) यह जातियां (races) नहीं थी बल्कि यह सब एक ही जाति (Race) के अन्तर्गत सांस्कृतिक भेद थे, तब भी समस्या नहीं सुलझती क्योंकि एक ही जाति मे इतनी संस्कृतियां संभव नहीं है। यदि थी भी तो वो एक विराट अन्तर्भुक्ति हुई थी। देव विवाह देव जाति की विवाह प्रथा है। देव आर्यों को ही कहते थे। मनु से मानव हुए। उससे पहले देव होते थे।

आर्ष ब्राह्म और प्राजापत्य विवाह विभिन्न युगों की विवाह-प्रथाएं हैं, जिनके बारे मे व्याख्या करने को अब स्पष्ट आधार प्राप्त नहीं होते।

जो हो, इतना निश्चित है कि यह आठ प्रथायें आठ संस्कृतियों की द्योतक हैं,जो किसी प्रकार एक ही समाज म अन्ततोगत्वा मान्य हो गई थी। इसका अर्थ यह है कि संस्कृतियों में पारस्परिक घात प्रतिघात काफी अधिक थी और उसके

फलस्वरूप एक दूसरे के सम्पर्क से अन्त में यह सब प्रथाएं भारतीयों में मान्य हो गई थीं।

हिंदू समाज अनेक जातियों और संस्कृतियों के मिलन से ही बना है। आज आवश्यकता इस बात की है कि हम इन पुरानी संस्कृतियों के विषय में गहरा अध्ययन करें और वास्तविकता का पता लगाने की चेष्टा करें।

दुष्यन्त ने कहा-मनु भगवान ने कहा है कि इन आठ प्रकार के विवाहों में से पहले से चौथे तक ब्राह्मण के लिये और पहले से छठे तक क्षत्रिय के लिये विहित हैं। राजा लोग सातवाँ राक्षस विवाह भी कर सकते हैं। वैश्य और शूद्र आसुर विवाह भी कर सकते हैं। पहले से पाँचवें प्रकार के विवाह तक पहले के तीन—ब्राह्म, दैव और प्राजापत्य धर्म-विहित अर्थात् उत्तम हैं और चौथे व पाँचवें प्रकार के विवाह जिनमें आर्ष और आसुर सम्मिलित हैं, धर्म विहित नहीं हैं। पैशाच और आसुर विवाह द्विजों को कभी नहीं करने चाहियें। वे उनके लिये प्रशंसनीय नहीं हैं। विवाह की यही धर्मानुमोदित विधि है। एक की इच्छा से या दोनों की इच्छा से होने वाले गान्धर्व और राक्षस विवाह ही क्षत्रियों के लिये श्रेष्ठ हैं।

वाशिष्ठ धर्मसूत्र केवल छः प्रकार के विवाहों का उल्लेख करता है। उनके नाम ये हैं: ब्राह्म दैव आर्ष गान्धर्व क्षात्र और मानुष।

अन्त की दोनों विवाह पद्धतियाँ राक्षस और आसुर पद्धतियों के ही समतुल्य हैं।

अनुशासन पर्व में भीष्म पितामह ने छः प्रकार की विवाह पद्धतियों की परिभाषा दे दी है। लेकिन दैव और आर्ष विवाह पद्धतियों की परिभाषा किसी ने नहीं दी है। उसके लिये मनु की परिभाषाएं रखता हूँ। मनु कहता है जब पिता अपनी पुत्री को वस्त्राभूषणादि से सुसज्जित करके उसे किसी ऐसे पुरोहित को समर्पित करता है जो पूजा-कार्य सम्पन्न कराता है, तो उसे दैव विवाह कहा जायगा।

जब केवल एक गाय और एक बैल उपहारस्वरूप लेकर किसी को कन्या समर्पित की जाती है तो उसे आर्ष विवाह कहते हैं। इसमें उपहार कन्या के मूल्य-स्वरूप नहीं लिये जाते।

इन सभी विवाह पद्धतियों में पैशाच विवाह को अत्यन्त घृणित समझा गया है जब कि कोई पुरुष चोरी से जाकर उस समय कन्या के साथ समागम करता है जब या तो वह सोई हुई होती है या नशे के कारण बेहोश सी होती है।

पहले चार प्रकार के विवाहों में तो विधिपूर्वक कन्यादान किया जाता है

बाकी चार प्रकार के विवाहों में कन्या के पिता तथा उसके संरक्षक की इच्छा या अनिच्छा का कोई अधिक मूल्य नहीं होता।

इस सम्बन्ध में विचारणीय प्रश्न है कि शास्त्रकार ने प्रत्येक वर्ण के कार्य के अनुसार ही उनके लिए मर्यादा निश्चित की है। वैश्य और शूद्र प्राचीनकाल में निम्न कोटि में गिने जाते थे, इसीलिए इनके लिए आसुर और पैशाच विवाह को उचित बताया है। क्षत्रिय वीर योद्धा होता है, अपने बल के आधार पर ही वह सारा कार्य करता है इसलिए राक्षस विवाह उसके लिये उचित ठहराया गया है। महाभारत मे राक्षस विवाह के कई उदाहरण मिलते हैं। भीष्म पितामह स्वयं बलपूर्वक काशिराज की पुत्री अम्बा अम्बिका और अम्बालिका को विचित्रवीर्य की पत्नी बनाने के लिए हरकर लाए थे। इसी प्रकार अर्जुन ने कृष्ण की बहिन सुभद्रा का हरण किया था। दोनों ही योद्धाओं को कन्यापक्ष के लोगों का सामना करना पड़ा था। भीष्म के सामने तो परशुराम जैसे महावीर भी आये थे लेकिन महावीर देवव्रत ने सभी को परास्त कर दिया था।

इसी प्रकार गान्धर्व विवाह का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण शकुन्तला और दुष्यन्त का विवाह है। महर्षि कण्व की अनुपस्थिति में ही शकुन्तला ने दुष्यन्त के प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया था और उसी क्षण से वह दुष्यन्त की पत्नी हो गई थी। फिर उसके गर्भ से दुष्यन्त का एक पुत्र भी उत्पन्न हुआ था।

आसुर विवाह के उदाहरण भी यत्र-तत्र मिल जाते हैं। गालव ने जाकर माधवी को चार स्थानों पर चार विभिन्न व्यक्तियों को बेचा था। उन व्यक्तियों ने उसके गर्भ से पुत्र पैदा किये थे। यह एक प्रकार से आसुर विवाह ही कहा जायेगा। वैसे महाभारतकार तो माधवी को अन्त तक कंवारी ही कहता है और किसी व्यक्ति के साथ उसके विवाह को स्वीकार नहीं करता लेकिन धन देकर स्त्री लेना और उसके गर्भ से पुत्र पैदा करना आसुर विवाह-पद्धति के अन्तर्गत ही आयेगा।

पैशाच विवाह पद्धति के उदाहरण काफी मिलते हैं। बलात्कार इसी पैशाच पद्धति के अन्तर्गत आता है।

इनके अलावा पहले चार प्रकार के विवाहों का तो साधारणतया समाज में हर जगह प्रचलन था।

पहली चार को छोड़कर बाकी अनार्य विवाह पद्धतियां हैं। गान्धर्व विवाह प्रणाली गन्धर्व और यक्ष जाति के बीच चलती थी। बाद में आर्यों में भी इसका प्रचलन हो गया इसी प्रकार राक्षस विवाह तथा पैशाच विवाह भी। राक्षस और पिशाच जाति के बीच चलते थे। आसुर विवाह असुरों के बीच चलता था।

गान्धर्व विवाह पद्धति के विषय मे तुम्हें एक बात याद रखनी चाहिये कि

जब कन्या किसी पुरुष को अपना पति बनाने का संकल्प कर चुकी है और उसके पिता या संरक्षक उसका विवाह किसी अन्य पुरुष के साथ करना चाहते है, उस परिस्थिति में यदि कन्या का प्रेमी जिसके साथ वह विवाह करना चाहती है आकर बलपूर्वक उसका हरण कर ले जाता है तो उसमें राक्षस और गान्धर्व दोनों पद्धतियों का समावेश हो जाता है।

स्वयंवर की प्रथा भी गान्धर्व विवाह के अन्तर्गत आती है। स्वयंवर का अर्थ है ऐसा अवसर जब कन्या स्वयं अपना वर चुनती है। स्वयंवर कई प्रकार के होते हैं। सबसे पहला प्रकार तो यह है कि जब कन्या पूरी तरह युवती होकर विवाह के पूर्णतया योग्य हो जाती है फिर भी यदि उसका पिता या संरक्षक उसका विवाह नहीं करता है तो तीन मासिक धर्म हो जाने के पश्चात् उसको अधिकार है कि वह स्वयं अपने लिये वर तलाश करे। वसिष्ठ धर्मसूत्र बौधायन धर्मसूत्र मनुस्मृति आदि में यही विधान है।

याज्ञवल्क्य धर्मसूत्र तो उस कन्या के लिये भी स्वयं अपना वर खोजने की आज्ञा देता है जिसके न तो कोई माता पिता जीवित होते हैं और न कोई संरक्षक होता है।

महाभारत में सावित्री की कथा आती है जिसमें सावित्री स्वयं उस समय अपना वर ढूंढने जाती है जबकि उसके माता-पिता उसके लिये वर ढूंढने में असमर्थ हो जाते हैं।

दूसरे प्रकार का स्वयंवर वह होता है जबकि कन्या के पिता की ओर से कोई शर्त सभी के सामने रखी जाती है। जो भी योद्धा स्वयंवर की शर्त पूरा कर देता है वही कन्या को अपनी पत्नी बनाने का अधिकारी होता है। सीता और द्रौपदी के स्वयंवर इसी प्रकार के थे। इस पद्धति के अन्तर्गत कन्या की इच्छा का प्रश्न नहीं उठता। उसे तो शर्त पूरा करने वाले योद्धा केसाथ विवाह करना पड़ता है चाहे वह उसको पसन्द करे या नहीं।

इसके साथ कुछ ऐसे स्वयंवरों का उदाहरण मिलता है जिनमें कन्या को अपना वर चुनने की पूरी स्वतन्त्रता होती है। नल और दमयन्ती की कथा से यही पता लगता है कि दमयन्ती ने बिना किसी शर्त के अनेक योद्धाओं के बीच नल को पसन्द किया और उसे ही अपना पति बनाया। सही रूप से देखा जाय तो वास्तव में स्वयंवर तो यही होता है। शर्त रखकर समर्थ योद्धा को वर के रूप में चुनना एक प्रकार से राक्षस पद्धति का परिचायक है। कभी-कभी तो वास्तव में उस अवसर पर युद्ध छिड़ भी जाता है।

इसके पश्चात् प्राचीनकाल में यह भी धारणा थी कि स्त्री-पुरुष के चरित्र

और व्यवहार पर उस विवाह पद्धति का पूरा प्रभाव पड़ता है जिसके अन्तर्गत उनका विवाह हुआ है। उनकी सन्तान तक पर उसका प्रभाव पड़ता है।

मनु कहता है कि ब्राह्म प्राजापत्य दैव और आर्ष विवाह पद्धतियों के अन्तर्गत जिनका विवाह हुआ है उनके पुत्र पवित्र विचार वाले सुन्दर और गुणशील होते हैं। वे धन-धान्य से सम्पन्न होकर समृद्ध जीवन व्यतीत करते हैं। उनकी आयु भी लम्बी होती है। इनके अलावा बाकी चार प्रकार की विवाह पद्धतियों के अन्तर्गत हुए विवाह के फलस्वरूप दुष्ट निर्दयी, झूठे पुत्र पैदा होते हैं जो वेद और धर्म की अवहेलना करते हैं।

आश्वलायन गृह्यसूत्र बताता है कि पहले चार प्रकार के विवाहों में से किसी प्रकार के विवाह से जो पुत्र पैदा होता है वह अपनी माता और पिता के पीछे और आगे की बारह पीढ़ियों का उद्धार करता है। इसी प्रकार का मत कई शास्त्रकारों का है।

यदि आज के समाज में देखें तो हमको कई विवाह-पद्धतियां थोड़ी बहुत प्रचलित मिलेंगी।

ब्राह्म विवाह पद्धति तो साधारणतया प्रत्येक स्थान पर प्रचलित है। दैव विवाह पद्धति आजकल कहीं नहीं मिलती। प्राचीनकाल में तो इसके अनेकों उदाहरण मिलते हैं। प्राजापत्य विवाह पद्धति भी अब नहीं मिलती। वैसे देखा जाये तो कन्या का पिता श्रेष्ठ वर को अपनी कन्या को उपहार के रूप में ही समर्पित करता है। आर्ष विवाह का प्रचलन भी अब नहीं है। राक्षस विवाह आजकल नहीं चलते लेकिन फिर भी विवाह की प्रचलित रीति में हमें राक्षस विवाह पद्धति की ओर संकेत मिलता है। पहले-पहल वर कन्या के द्वार पर तोरन मारने के लिये आता है। उस समय वह तलवार उठाकर अपनी वधू के घर के द्वार पर लगे लकड़ी के मोड़ों पर मारता है। इसका अर्थ है कि वह बलपूर्वक कन्या को उसके पिता के घर से छीनकर ले जा रहा है। पहले ही दिन वह अपनी सामर्थ्य का परिचय देने के लिये कन्या के द्वार पर आता है। यह निश्चित रूप से राक्षस विवाह पद्धति का चिन्ह है जो ब्राह्म विवाह पद्धति के साथ जुड़कर केवल परम्परा के रूप में रह गया है। यही कारण है कि वर वधू के घर कोई न कोई शस्त्र बांधकर आता है। मामूली तौर से उसके हाथ में एक कटार दे दी जाती है।

वैसे अपने वास्तविक रूप में राक्षस विवाह पद्धति अब कहीं प्रचलित नहीं है। यह सामन्तकाल तक ही चली। पृथ्वीराज चौहान के द्वारा संयुक्ता हरण का अन्तिम उदाहरण हमें मिलता है जिसमें राक्षस विवाह पद्धति को अपनाया गया है। इसके पश्चात उदाहरण नहीं मिलते।

आसुर विवाह पद्धति अवश्य आज भी समाज में प्रचलित है। बहुत से पिता अपनी कन्याओं का विक्रय करते हैं और उसके द्वारा धनोपार्जित करते हैं। निम्न जातियों में यह प्रथा अधिकतर चलती है। उनमें पिता जितना अपने व्यवसाय से नहीं कमा पाता है उतना वह कन्या बेचकर कमा लेता है। कन्या को एक तरह से सौदे की चीज समझ लिया जाता है। फिर अधेड़ उम्र वाले या वृद्ध विधुर भी धन देकर कन्या के पिता को सन्तुष्ट करते हैं तब उसका विवाह कन्या के साथ होता है। इस तरह के अनेक उदाहरण समाज में मिल जाते हैं। फिर भी इस प्रकार के विवाह को बुरा समझा जाता है और उस पिता को जो इस तरह कन्या विक्रय के द्वारा अपनी जीविका चलाता है या धन संचय करता है और पापी माना गया है। इस पद्धति के अन्तर्गत धन के लोभ से कई एक निष्ठुर पिता अपनी सुकुमार कन्याओं को साठ साल के बूढ़ों के साथ बांध देते हैं और इस तरह कन्याओं का जीवन अभिशाप बन जाता है।

पैशाच विवाह तो उस समय तक चलता ही रहेगा जब तक मनुष्य की कुप्रवृत्ति नहीं बदलेगी। आज भी अनेक कन्याओं के साथ समाज में बलात्कार होता है। यही पिशाचों का सा कार्य है। पिशाच मूल रूप से कच्चा मांस खाने वाली जाति थी। आर्य इनसे घृणा करते थे। इसी प्रकार पिशाच वृत्ति से आज भी सज्जन घृणा करते हैं। केवल दुष्ट और पापी ही इस पद्धति को ग्रहण करते हैं।

गान्धर्व विवाह आजकल काफी चलने लगा है। आजकल काफी विवाह उन लड़की लड़कों के होते हैं जिनका विवाह से पहले प्रेम सम्बन्ध हुए चुका होता है। अगर दोनों पक्ष के माता पिता विवाह को स्वीकार कर लेते हैं तो विधि-पूर्वक ब्राह्म विवाह पद्धति के अन्तर्गत दोनों का विवाह सम्पन्न हो जाता है और यदि किसी प्रकार का विरोध होता है तो लड़के और लड़की दोनों जाकर अदालत में अपना रजिस्ट्रेशन करा लेते हैं और इस तरह 'कोर्ट मैरिज' करके अपनी इच्छा पूर्ण कर लेते हैं। इस तरह उनके माता-पिता की भी विवाह के समय आवश्यकता नहीं होती। लेकिन कभी-कभी इस प्रकार के विवाह बाद में सफल नहीं होते। कुछ लोगों के मुंह से सुना जाता है कि प्रेम विवाह होते तो बड़े जोश के साथ हैं लेकिन बाद में चलकर वे इस बुरी तरह से असफल होते हैं कि रात-दिन स्त्री पुरुष के बीच कलह और लड़ाई चलती रहती है।

इसका कारण यही है कि अधिकतर इस तरह के विवाह युवक और युवतियों के बीच रोमांस के उस जोशीले जीवन में तय होते हैं जब भविष्य एक सुन्दर कल्पना बनकर उनकी चेतना पर छाया रहता है लेकिन जब वास्तविक

जीवन की कठोरता उस सपने को तोड़ देती है तो प्रणय की सारी मधुरता नष्ट हो जाती है और उसके स्थान पर जीवन के प्रति एक खीझ सी पैदा होने लगती है। सारी प्रणय क्रीड़ा एक उपहास के रूप में अन्तर को कुरेदने लगती है। बस यहीं से दम्पति के जीवन में विषमता का प्रारम्भ हो जाता है।

इसके बाद दूसरा कारण यह भी है कि इस तरह की प्रेम-क्रीड़ा में प्रेम की गम्भीरता कम होती है बल्कि अधिकतर काम-लिप्सा होती है और इसी के आधार पर पारिवारिक जीवन का सारा प्रासाद खड़ा होता है। कुछ समय पश्चात ही यह बोझ उतर जाता है। विवाह के पहले और उसके कुछ दिनों बाद तक की मधुरता फिर एक बोझ में बदल जाती है।

इन्हीं कारणों से कभी कभी प्रेम-विवाह असफल हो जाया करते हैं लेकिन जिन प्रणय-सम्बन्धों में प्रेम की गम्भीरता होती है और पारिवारिक जीवन से समझौता करने की क्षमता होती है, वे सम्भवतया कभी असफल नहीं जाते। कई एक परिवार हैं जिनमें प्रेम विवाह हुए हैं और पति पत्नी के जीवन में किसी प्रकार की विषमता नहीं पाई है बल्कि उनका जीवन इस तरह के विवाह सम्बन्धों से और अधिक सुखी हो गया है। तो प्रेम विवाह का सफल होना व्यक्ति की चेतना पर अधिक निर्भर रहता है। जब व्यक्ति अपनी आकांक्षाओं को समेट कर किसी परिस्थिति के साथ समझौता करने की क्षमता रखता है तभी उसके जीवन में सुख और सन्तोष का उदय नहीं होता है तो तृष्णा का हाहाकार सदैव अन्तर में मचा रहता है। स्त्री कितनी स्थितियों में रह कर अपनी जीवन-यात्रा पूरी करती है। विवाह से पहले वह कन्या रहती है और विवाह के पश्चात पत्नी बनती है लेकिन इसके भी पश्चात् सन्तान को जन्म देकर माता बनती है। पत्नी और माता की स्थिति में स्त्री को अपनी चेतना का तादात्म्य परिवार के स्वार्थ के साथ करना पड़ता है। जो कन्या अपने प्रिया के स्वरूप का पत्नी और माता के स्वरूप के साथ तादात्म्य करके परिवार के स्वार्थ के साथ अपनी चेतना का साम्य स्थापित कर लेती है वही अपने जीवन में सफलता और सुख का अनुभव कर सकती है।

अंग्रेजी साहित्य के प्रमुख उपन्यासकार टॉमस हार्डी (Thomas Hardy) के उपन्यास 'स्वदेशवासी की वापसी (Return of the Native) में यूस्टेसिया वाई (Eustacia Vye) नाम की एक शहरी लड़की है जो दो व्यक्तियों के साथ अपने प्रणय सम्बन्ध स्थापित करती है। एक के साथ विवाह भी कर लेती है लेकिन उसके हृदय में तृष्णा और महत्वाकांक्षा का सर्प सदा अपना फन उठाये खड़ा रहता है और विवाह तथा अपने पति को वह इस तृष्णा को पूर्ण करने के लिये एक साधन के रूप में लेती है। उसका अपने प्रेमी के साथ

आकर्षण ही इसलिये था कि वह उसकी सारी इच्छाओं को पूर्ण करेगा। वह आशा करती थी कि उसका प्रेमी उसे पेरिस जैसे नगर में ले जाकर शहर की धनी स्त्रियों के बीच बिठायेगा। क्लब में उसे ले जायेगा। वह बड़े शानदार तरीके से वहाँ रहेगी। यही उसके जीवन की तृष्णा थी लेकिन उसके प्रेमी का रास्ता दूसरा था। वह अपने जीवन को दूसरे ही मार्ग पर डालने का प्रयत्न कर रहा था। उसने गाँव में आकर ग्रामीणों की अशिक्षा और अन्ध-विश्वास देखे थे तभी उसके हृदय को कचोट लगी थी और उसने गाँव में ही रह कर ग्रामीणों को शिक्षित करके उनके अन्ध विश्वास दूर करने का निश्चय कर लिया था। शहर की चमक दमक वह काफी देख चुका था और उसको सार हीन देखकर वह उससे ऊब चुका था। वह अब गाँव में ही सारा जीवन व्यतीत करके अपनी साधना में लग जाना चाहता था और इसी कारण उसने युस्टेशिया वाई से विवाह किया था कि वह भी शिक्षिका बन कर ग्रामीण स्त्रियों के अन्ध विश्वास मिटायेगी। बस यही सारी विषमता की जड़ थी। दोनों के जीवन की भिन्न भिन्न दिशायें थीं। दोनों के उद्देश्य अलग-अलग थे। दोनों ने ही एक दूसरे को अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिये साधन समझकर परस्पर विवाह सम्बन्ध स्थापित किया था।

विवाह हो गया तब युस्टेशिया वाई ने अपने पति से शहर चलने के लिये कहा और इसके साथ ही भविष्य के बारे में अपनी मधुर कल्पना को उसके सामने रख दिया। इसके साथ ही क्लिम ने भी (Clym) जो उसका पति था अपनी नीरस और कठिन साधना के पूरे चित्र को पत्नी के सामने रखा। बस यहीं से युस्टेशिया के हृदय का हा-हा कार बढ़ गया और अन्त में यहाँ तक हुआ कि एक दिन जब युस्टेशिया अपनी तृष्णा पूरी करने के लिये अपने पहले प्रेमी 'वाइल्डीव' के साथ पेरिस भाग जाने के लिए तैयार हो रही थी, वाइल्डीव के निश्चित समय पर न पहुँचने के कारण उसको जीवन से निराश होकर आत्महत्या करनी पड़ी। उसी समय उसका असन्तोष और हा-हाकार शान्त हुआ। मृत्यु से पहले एक दिन भी वह अपने पति के साथ सुख और सन्तोष की साँस लेकर नहीं रही।

इस सबसे क्लिम का जीवन भी घोर विषाद से घिर गया। पत्नी की मृत्यु और पारिवारिक जीवन के हा-हाकार ने उसके सभी मधुर स्वप्नों को नष्ट कर दिया और अन्त में तो उसका जीवन पूरी तरह अभिशाप बन गया। उसकी माता अन्त तक उससे इसी कारण अप्रसन्न रही कि उसने उसकी इच्छा के विरुद्ध अपनी पसन्द की लड़की से शादी की थी और अन्त में जब वह बूढ़ी मर

गई तो विलम के हृदय पर एक चोट और ठुक गई। जिस माता की इच्छा का तिरस्कार करके पारिवारिक जीवन के सुख के लिये युस्टेसिया से विवाह किया था, वह सारा सपना ही टूट गया और उसके साथ ही माता और युस्टेसिया सदा के लिये उसके जीवन को दुखी बनाकर इस संसार से चली गईं।

इसी प्रकार की विषमता गाल्सवर्दी के उपन्यास सम्पत्तिवान मनुष्य (The man of property) में भी सोम्स (Soames) और आयरीन (Irene) के बीच मिलती है। सोम्स आयरीन को प्यार करता था और अपने पारिवारिक जीवन को सुखी बनाने के लिये ही उसने आयरीन से विवाह किया था लेकिन थोड़े दिन में ही आयरीन को लगा कि उसका पति उसे अपनी सम्पत्ति समझता है। बस यहीं से दोनों के बीच दूरी बढ़ती चली गई। आयरीन पति के साथ समानता का अधिकार चाहती थी। वह कभी इस विचार को सहन कर ही नहीं सकती थी कि एक व्यक्ति जो उसका पति है उसे अपनी सम्पत्ति समझ कर अपने पारिवारिक जीवन को सुखी बनाने की कल्पना करे। अन्त तक दोनों के बीच यही संघर्ष चलता रहा और इसने सोम्स के जीवन को इतना दुखी बना दिया कि वह अपार सम्पत्ति का स्वामी होकर भी अपने को असहाय समझने लगा। सम्पत्ति और सामाजिक सम्मान उसके हृदय को सन्तोष नहीं दे सके। अपनी पत्नी के उपेक्षापूर्ण व्यवहार से उसका हृदय निरंतर जलता रहता और वह कोई ऐसा उपाय सोचा करता जिससे उसको तनिक शान्ति और सुख मिले लेकिन अन्त तक उसका जीवन हा-हाकार ही बना रहा। आयरीन भी सदा के लिये दु खी हो गई। वह अब एक दूसरे ही व्यक्ति बोसिनी को प्यार करने लगी थी लेकिन अचानक ही उसकी मृत्यु हो जाने के कारण उसके जीवन के सामने अँधेरा छा गया और जीवन का एक-एक क्षण उसको डराने लगा।

इस तरह की अनेक कथायें हैं जहाँ प्रेम-विवाह सफल नहीं हुए हैं। उनका प्रारम्भ तो बड़े ही मधुर सपनों के साथ हुआ है लेकिन अन्त भीषण हा-हाकार, मृत्यु, निराशा और घुटन के साथ हुआ है।

हार्डी और गाल्सवर्दी की युस्टेसिया वाई और आयरीन दो विराट सत्यों को हमारे सामने लाकर रख देती हैं। प्रेम विवाहों के असफल होने के कारण यही हैं। जब व्यक्ति की तृष्णा समष्टि और परिवार के साथ किसी प्रकार का समझौता करने के लिये तैयार नहीं होती तब विषमता पैदा हो जाती है कि प्रेम विवाहों की तुलना में पिताओं द्वारा जो विवाह निश्चित किये जाते हैं, वे अधिक सफल होते हैं। उनका मूल कारण यही है कि वहाँ स्त्री और पुरुष के बीच एक प्रकार से समझौते की भावना रहती है।

स्त्री अपने स्वार्थों को छोड़कर पति और परिवार के स्वार्थों के साथ ही अपने जीवन का समझौता कर लेती है, तभी परिवार सुचारु रूप से चलता है। जीवन में विषमता पदा नहीं होती। अगर कहीं विषमता पैदा होती भी है तो उसका मूल कारण यही है कि पति-पत्नी क जीवन के बीच सामंजस्य पैदा नहीं हो पाता। इसका पहला आधार तो दोनों की चेतना और मानसिक स्तर की भिन्नता है। तुमने कई परिवारों में देखा होगा कि जहाँ पुरुष सौम्य स्वभाव का है और स्त्री क्रोधी और कलह-प्रिय होती है, वहाँ कभी भी पति पत्नी सुखी नहीं रह पाते।

जहाँ कहीं पत्नी पूरी तरह निरक्षर और जड़ होती है और पति काफी शिक्षित और संस्कृत होता है वहां भी विषमता पैदा हो जाती है।

इसी तरह जहाँ पुरुष व्यभिचारी और जुए, शराब आदि अनेक दोषों का धारी होता है वहाँ भी विषमता पैदा हो जाती है।

इस प्रकार जिस तरह भी यह असामंजस्य रहता है वहीं सम्बन्धों में वैषम्य पैदा हो जाता है। इसीलिये मैं उस विवाह प्रणाली को अच्छा समझता हूँ जहाँ लड़के और लड़की विवाह से पहले एक दूसरे के स्वभाव आदि से परिचित होकर अपने विवाह-सम्बन्ध स्थापित करें। जो पुरुष केवल दुरागमन के पश्चात् ही अपनी पत्नी का मुँह देख पाते हैं, वे कभी-कभी अपनी पत्नी के स्वभाव, रूप आदि के कारण जीवन भर दुखी रहते हैं। भारतवर्ष क सहस्रों परिवारों में अभी तक यह अन्ध-विश्वास चला आ रहा है कि विवाह से पहले लड़के और लड़की का न तो मिलना चाहिये और न एक दूसरे से वार्तालाप करना चाहिए लेकिन क्या तुमने कभी सोचा कि यह प्रथा कितनी हानिकारक है? इससे कभी-कभी तो पारिवारिक जीवन इतना कटु हो जाता है कि मैंने स्वयं इस तरह की कटुता के बोझ स्त्रियों का आत्महत्या करते देखा है। लेकिन मैं 'कोर्टशिप' की परम्परा का कभी भी प्रशंसक नहीं रहा हूँ। परस्पर एक दूसरे से मिलने का अर्थ मैं एकान्त मिलन में नहीं लगाता, वह सामाजिक और सांस्कृतिक दायरे में होना चाहिये।

मूल बात यह है कि चाहे प्रेम-विवाह हो या पुराना शास्त्रीय पद्धति का विवाह उनमें सदा इतना विचार पहले होना चाहिये कि जिन युवक-युवतियों ने विवाह-बन्धन में बँधने का निश्चय कर लिया है, उनमें त्याग और समझौते की भावना होनी चाहिये। व्यक्ति की अहमन्यता पारिवारिक जीवन को कुण्ठित करती है। मैंने कई ऐसे भी उदाहरण देखे हैं कि उच्च शिक्षा प्राप्त व्यक्तियों ने सहजतापूर्वक अपनी अशिक्षित पत्नियों के साथ सुख और शान्ति

से जीवन बिताया है और सदा अपनी पत्नी के जीवन और उसकी चेतना को समरूप बनाने की ही प्रवृत्ति उसमें रही है। इसका सबसे बड़ा उदाहरण महात्मा गांधी और कस्तूरबा का है। बा पूर्णतः अशिक्षित थीं और गांधी इङ्गलैंड से बार एट लॉ (Bar at law) पास करके आये थे लेकिन फिर भी उन दोनों के जीवन में कभी विषमता नहीं आई। प्रारम्भ में तो उनकी चेतना भी भिन्न प्रकार की थी। कस्तूरबा जाति-पाँति का विचार रखती थी। अशिक्षा के कारण सभी तरह के भेद-भाव की भावना उनके अन्दर थी और इसी कारण जब एक बार गांधी ने उनसे कार्यकर्त्ताओं के झूठे बरतन साफ करने के लिये कहा तो उन्होंने मना कर दिया तब पति-पत्नी में लड़ाई हो गई। लेकिन कस्तूरबा पातिव्रत के आदर्श का पालन करने वाली श्रेष्ठ पत्नी थीं। अपने पति से विमुख होने की कल्पना तक उनके हृदय में नहीं आ सकती थी। धीरे धीरे उन्होंने अपने पति को समझने की चेष्टा की और उसके साथ ही उनकी संकीर्ण चेतना विस्तृत होती गई और अन्त में हमने देखा कि गांधी और बा दो शरीर और एक प्राण होकर रहे। त्याग और समझौते का इससे अधिक सुन्दर उदाहरण आज नहीं मिलेगा।

आखिर यह समझौते और त्याग की भावना व्यक्ति में कैसे पैदा होती है? जिस समय व्यक्ति अपने अहम् की लघुता को स्वीकार करके विकास के लिये जिज्ञासु हो उठता है तभी उसके जीवन की संकीर्णता खण्डित होने लगती है। जब जब व्यक्ति ने अपने को महान समझने का प्रयत्न किया है तभी उसके जीवन में विषमता बढ़ती चली गई है। जब व्यक्ति को अपनी लघुता का आभास होता है तभी वह दूसरे को समझने की चेष्टा करता है और तभी दो हृदय प्रेम सम्बन्धों में जुड़ते हैं। जब एक का अहंकार दूसरे के अहंकार को कुचलकर केवल स्वाधिकार की ओर ही आकृष्ट रहता है तभी विरोध और असन्तोष का जन्म होता है। त्याग की भावना का मूल भी अहंकार है लेकिन यह अहंकार का उग्र रूप न होकर वह सौम्य रूप है जो दूसरे के अहंकार को कुचल कर अपनी सत्ता स्थापित करने के लिये लालायित नहीं रहता बल्कि दूसरे के अहंकार के साथ समझौता करके उसको भी उचित सम्मान देने की अभिलाषा करता है।

इसीलिए मैं कहता हूँ कि विवाह और पारिवारिक जीवन तभी सफल होते हैं जब पुरुष और स्त्री में एक दूसरे को समझने की जिज्ञासा होती है और ऐसे रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करने की लालसा होती है जिसमें व्यक्ति के संकुचित स्वार्थ और अहंकार सामूहिक स्वार्थ में अपना सामंजस्य दूँढ़ लेते हैं।

इस दृष्टि से देखने पर भारतीय नारी ने नारी-समाज के सामने एक उच्च

उदाहरण रखा है। यद्यपि मैं भारतीय नारी के इस रूप का अधिक प्रशंसक नहीं रहा हूँ जहाँ वह पति को अपना देवता भगवान आदि समझकर अपने सम्पूर्ण व्यक्तित्व को उसके चरणों पर समर्पित कर देती है लेकिन आदर्श की दृष्टि से देखा जाये तो क्या ऐसा उच्च आदर्श कहीं भी संसार में मिल सकेगा, जब एक स्त्री अपने पति के स्वार्थ के लिये अपने स्वार्थ और अहंकार को पूरी तरह जीत लेती है ? स्त्री के इस तपस्पूत जीवन से निर्मित उसके आदर्श पत्नी और माता के रूप ने सदा मुझे प्रेरणा दी है। यहाँ अगर निन्दा भी मैंने की है तो पुरुष की की है जिसने स्त्री के इस उच्च आदर्श का तनिक अनुभव भी न करके सदा उसे दासी के रूप में ही देखा है और समय-समय पर अहंकार-वश होकर उस तपस्पूत देवी का अपमान किया है।

यदि भारतीय नारी के समकक्ष ही पुरुष की चेतना हो जाए और एक दूसरे को अपने जीवन का साधन-मात्र समझना छोड़ दे तो मैं सोचता हूँ इनसे अधिक श्रेष्ठ सुन्दर और सुखपूर्ण पारिवारिक सम्बन्ध और कहीं नहीं हो सकते।

स्त्री-पुरुष के बीच विवाह से पहले का प्रेम-सम्बन्ध श्रेष्ठ है या विवाह के पश्चात् का ? इस बात में पश्चिम और पूर्व के आदर्शों की समस्या है पश्चिम में अधिकतर विवाह सम्बन्ध स्त्री पुरुष के बीच तभी स्थापित होता है। जब पहले एक दूसरे के साथ प्रेम-सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। पूर्व से यहाँ विशेष रूप से भारत से तात्पर्य है। पिता किसी अपरिचित पुरुष के हाथों में अपनी कन्या को समर्पित करता है। विवाह के पश्चात् वे अपरिचित पुरुष और स्त्री आपस में परिचय प्राप्त करते हैं और तब एक दूसरे से प्रेम करते हैं। इनमें कौनसा मार्ग अधिक श्रेष्ठ है—यही प्रश्न है।

मैं तो जब स्त्री पुरुष के बीच प्रेम की कल्पना करता हूँ तो सहसा ही मुझे पश्चिम के उन मध्यकालीन योद्धाओं (knights) के प्रेमोद्गार याद हो आते हैं। वे योद्धा किन्हीं सुन्दरियों से प्रेम किया करते थे। उनको प्राप्त करने के लिए वे उनकी हर एक इच्छा पूर्ण करते थे। यहाँ तक कि हर तरह की कठिनाइयों का सामना करके वे अपनी प्रेयसी को प्राप्त करने का प्रयत्न करते थे। उनका वह परीक्षाकाल होता था। पहले वे इस तरह आपत्तियों से टकरा कर अपनी प्रेयसी के सामने अपनी परीक्षा दे देते थे और फिर अपने आपको उसके प्रेम के लिए पूरी तरह योग्य सिद्ध कर देते थे। उनके प्रेम की भावनाओं में किसी प्रकार की बनावट नहीं होती थी। हर समय वे अपनी प्रेयसी के सामने अपना हृदय खोलकर दिखाने के लिए तत्पर रहते थे। यह 'निर्भीक प्रेम' (Chivalrious love) कहा जाता है।

इसमें मुझे एक ही बात अच्छी लगती है और वह है प्रेमी की भावना की सच्चाई। मैं इन्हीं मध्यकालीन योद्धाओं की उन प्रणय-क्रीड़ाओं का हामी नहीं हूं जब वे किसी दूसरे की पत्नी के पास चोरी छिपे रात्रि के समय जाते थे और भोर होने से पहले ही वहाँ से भाग आते थे। वह सब उच्च वर्ग का विलास था जिसमें छल का आसरा था, सत्य की भावना नहीं थी लेकिन उनके अलावा अनेक कवियों ने उन योद्धाओं के भी प्रेमोद्गार अपनी कविताओं में प्रकट किये हैं। जिनका प्रेम केवल विलासमात्र नहीं बल्कि उसमें उनकी आत्मा की सच्चाई और गम्भीरता प्रकट होती है। वह केवल प्रदर्शन-मात्र नहीं है, उसमें प्रेम की सच्ची लगन है। कुछ नवयुवक अपनी चमक-दमक से या अपने बातूनपने से या और किसी चाल से लड़कियों को अपनी ओर आकर्षित किया करते हैं। लड़कियाँ उनके बाह्यरूप की ओर आकर्षित होकर उनसे प्रेम करने लग जाती हैं। इस तरह यूनीवर्सिटी या कालेज की चहारदीवारी के भीतर उनका प्रेम शुरू हो जाता है, लेकिन उस प्रेम का आधार होता है छल। अपनी वास्तविकता छिपाकर पाखण्ड के द्वारा जीवन को सुखी बनाने का एक स्वप्न और उसके लिये न जाने क्या-क्या बातें प्रेमियों को बसनी पड़ती हैं। पूरा छल होता है तब कहीं जाकर प्रेम के पश्चात् विवाह का अवसर आ पाता है। कभी-कभी तो वह आता भी नहीं। प्रेम केवल छलना-मात्र बनकर जीवन को एक ओर का धक्का मारकर समाप्त हो जाता है। इस छल में कभी लड़की का जीवन नष्ट हो जाता है और कभी लड़का मतवाला होकर अपना जीवन नष्ट कर बैठता है।

इन सबका कारण क्या है? प्रेम-सम्बन्धों में सत्य और स्वाभाविकता का अभाव। कोरे पाखण्ड के ऊपर जो भी सम्बन्ध जोड़े होंगे वे निश्चित ही असफल रहेंगे। जीवन का छिछलापन कभी भी आत्मा को शान्ति और सुख नहीं पहुंचा सकता। आजकल नवयुवक और नवयुवतियों के बीच प्रेम करने का एक फैशन सा हो गया है। पश्चिम की संस्कृति ने इतना अपना असर जमालिया है कि भारतीय संस्कृति के प्रति युवक और युवतियाँ उदासीनता का दृष्टिकोण ही रखते हैं। वे भारतीय विवाह के आदर्श को समझने की चेष्टा ही नहीं करते।

प्राचीन काल से हमारे ऋषि मुनियों ने धर्म अर्थ काम, और मोक्ष को जीवन के लिये आवश्यक बताया है। इन चारों का सामंजस्य ही भारतीय पारिवारिक जीवन का सार है। ऋषियों ने किसी एक के अभाव को जीवन की श्रेष्ठता नहीं माना है। यदि हमको भारतीय परिवार के उच्चादर्श को समझना है तो पहले इन चार बातों का समझना होगा। पहले हम धर्म को ही लें। धर्म क्या है?

व्यक्ति की वह चेष्टा जिसके द्वारा वह सत्य की खोज करता हुआ अपने

और दूसरों के जीवन को सुन्दर और सुखी बनाने की साधना करता है धर्म है। धर्म केवल देवी-देवताओं की उपासना-मात्र नहीं है। न ही धर्म केवल सन्ध्या वन्दन करना या ब्राह्मण भोजन कराना या कीर्तन आदि करना है। ये केवल उपासना के बाह्याचार हैं। धर्म आत्मा की वह चेतना है जिसके वशीभूत होकर व्यक्ति अपने तुच्छ अहम् को सदैव जीतने का प्रयत्न करता है। धर्म वह साधना है जिसके अन्तर्गत व्यक्ति अपने आपको अपनी सम्पूर्णता में समझने की चेष्टा करता है और फिर क्षणिक वासनाओं के परे जीवन के विराट सत्य की ओर अपनी चेतना को अग्रसर करता है। स्वयं कष्ट सहकर दूसरे को सुखी बनाने की भावना ही धर्म का मूल रही है। बाह्याचार बदलता रहता है किन्तु धर्म की मूल भावना वही रहती है। विश्व में जितने भी महापुरुषों ने धर्म की शिक्षा दी है उनके उपदेशों का सार यही है। त्याग और तपस्यापूर्ण जीवन ही धर्म के मूल तत्व को आत्मसात करता है। प्रेम ही धर्म का मूलोद्देश्य है। व्यक्तिगत स्वार्थों का परित्याग करके प्रेम की भावना का प्रसार करना ही धार्मिक कृत्य है। जो इस प्रेम की गरिमा समझकर अपने आचरण द्वारा दूसरों को सुख पहुंचाता है और उनके जीवन को अधिक सुन्दर बनाने के लिये प्रयत्नशील रहता है, वही सच्चा धार्मिक है। बृहदारण्यक उपनिषद में एक स्थान पर मानव दानव और देवता आकर प्रजापति से अपने-अपने कर्तव्यों के बारे में पूछते हैं उस समय प्रजापति मेघ के द्वारा 'द' 'द' 'द' का बोध करवा देते हैं। तीनों उस 'द' का अलग अलग अर्थ लगाते हैं।

पहले मानव उस 'द' का अर्थ दत्त' अर्थात् देना लगाते हैं। मनुष्य स्वभाव से स्वार्थी होता है। वह अपने जीवन के सुख के लिये दूसरे के सुख को छीनने के लिये सदैव तत्पर रहता है। व्यक्तिगत स्वार्थ की परिधि में वह इस तरह घिरा रहता है कि उसके बाहर वह कुछ देखता ही नहीं। दूसरों का धन आदि हरण करने से उसको सुख पहुंचता है। इसीलिये प्रजापति ने दत्त' शब्द में उसका कर्तव्य निश्चित कर दिया अर्थात् मनुष्य में देने की भावना होनी चाहिये। उसकी आत्मा में इतना बल होना चाहिये कि वह अपने संकुचित स्वार्थ का परित्याग करके दूसरों के जीवन को सुखी बनाने के लिये उनको कुछ दे। देने का अर्थ केवल आर्थिक सहायता ही नहीं है बल्कि दूसरे व्यक्ति के प्रति सहृदयता और प्रेम दिखाना और अपने प्रयत्नों से उसके दुःख को दूर करना भी उसको देना है। अब इसी सहृदयता के अन्दर आ जाता है। यदि हम समर्थ हैं तो अवश्य अपने अभाव-ग्रस्त भाई के जीवन को हर प्रकार से अपनी सामर्थ्यानुसार सुखी बनाने का प्रयत्न करेंगे। यहीं प्रेम और त्याग की भावना का परस्पर सामंजस्य होता है। व्यक्ति में यह त्याग की भावना स्वाभाविक बनकर

ही जानी चाहिए। उसको आत्मा में त्याग के लिये बल होना चाहिये। धनी आदमी धन द्वारा जब दूसरों की सहायता करता है, तो उसमें उसका कोई वस्तुतः त्याग नहीं होता। इस तरह से वह प्रायः अपने अहंकार को पुष्ट किया करता है। उसमें उसका व्यक्तिगत स्वार्थ निहित होता है। नाम और यश की पतित वासना आकर उसकी चेतना को कुण्ठित कर देती है। उसका देना दम्भ के लिये तो होता है, इसके विरुद्ध त्याग का वास्तविक उदाहरण मैं सामने रखता हूँ।

संस्कृत साहित्य का प्रसिद्ध कवि माघ एक अत्यंत ही धनी व्यक्ति था। पहले वह कुछ भी पढ़ा लिखा नहीं था लेकिन बाद में हृदय पर किसी कारण से आघात लगने पर वह पढ़ने लगा। गुरु ने पहले तो उसको पढ़ने के लिये उत्साहित नहीं किया क्योंकि उसकी आयु काफी हो चुकी थी लेकिन अध्ययन की ओर उसकी प्रबल रुचि देखकर गुरु ने उसे अपना शिष्य स्वीकार कर लिया। गुरु के घर रहकर ही वह विद्याध्ययन करने लगा। वहीं वह भोजन करता था। गुरुपत्नी उसके भोजन में दो चम्मच रेंडी का तेल डाल दिया करती थी। माघ उस भोजन को बिना किसी तरह की शिकायत किये खा लिया करता था। इस तरह कई वर्ष उसको अध्ययन करते हुए बीत गये। घोर परिश्रम करके वह गुरु के यहां पाठ याद करता। यहां तक कि वह पूर्ण पण्डित हो गया। उसका अध्ययन प्रायः समाप्त हो गया तब एक दिन भोजन करते समय उसने गुरु पत्नी से कहा—माता ! इस भोजन में मुझे कुछ ठीक सी मालूम होती है।

माघ के वचन सुनकर गुरु पत्नी ने कहा बत्स अब तुम्हारी विद्या पूर्ण हो गई क्योंकि नित्य मैं तुम्हारे भोजन में दो चम्मच रेंडी का तेल डालती थी लेकिन तुम अपने अध्ययन में इतने व्यस्त थे कि तुम्हें कभी उसका आभास तक नहीं हुआ। लेकिन आज तुम्हें उस तेल के कारण भोजन में से ठीक आने लगी, इसका अर्थ है कि अब तुम्हारा ध्यान अध्ययन के अलावा भोजन की तरफ भी जाने लगा। अब तुम्हारी विद्या पूर्ण हो गई।

गुरु ने माघ को आशीर्वाद देकर विदा कर दिया। वह माघ इतना दानी था कि उसने अपना सारा धन दान में लुटा दिया और अन्त में वह बहुत ही निर्धन हो गया। जब उसके पास खाने के लिये भी कुछ नहीं रहा तो वह कुछ जीविकोपार्जन करने के लिये राजा भोज के राज्य की ओर चल दिया। संध्याकाल वह भोज की नगरी में पहुँचा और बाहर ही किसी स्थान पर ठहर गया। उसने किसी व्यक्ति के हाथ अपने आगमन की सूचना राजा के पास भिजवाई लेकिन दुर्भाग्यवश वह व्यक्ति संध्या को ही वह सूचना राजा के पास नहीं पहुँचा सका।

माघ को प्रतीक्षा करनी पड़ी। शिशिर ऋतु थी। बड़े जोर की सर्दी पड़ रही थी। माघ के पास केवल एक कम्बल था। उसी से उसने अपने नंगे शरीर को ढँक रखा था। रात्रि को एक भिखारी उसके पास आया। भिखारी के शरीर पर भी वस्त्र नहीं थे। वह सर्दी के कारण कांप रहा था। माघ ने अपना कम्बल उतार कर उसको दे दिया। भिखारी कम्बल लेकर चला गया।

प्रातःकाल उस व्यक्ति ने जिसको माघ ने राजा के पास अपने आगमन की सूचना देने भेजा था जाकर राजा भोज को महाकवि माघ के आगमन की सूचना दी। राजा भोज माघ का नाम सुनते ही उससे मिलने के लिये लालायित हो उठे। उनको यह जानकर अपार हर्ष हुआ कि महाकवि ने उनके राज्य में पदार्पण किया है। उस व्यक्ति ने यह भी कह दिया था कि महाकवि ने कल सन्ध्या को ही उनके आगमन की सूचना देने के लिये कहा था लेकिन किसी कार्य में व्यस्त होने के कारण वह सूचना न दे सका। यह जानकर तो राजा भोज सिंहासन छोड़कर उठ बैठे और स्वयं माघ से मिलने के लिये चल दिये। नगर से बाहर वे उसी स्थान पर आये जहाँ महाकवि संध्याकाल आकर ठहरे थे लेकिन राजा भोज को उस स्थान पर महाकवि माघ का शव मिला। रात की कड़ी सर्दी में वे नंगे थे तभी उनके प्राण निकल गये थे। राजा माघ की मृत्यु पर बहुत रोये और उन्होंने दुःखी होकर माघ की अन्त्येष्टि क्रिया करवाई।

यह है त्याग का बल जो माघ में था। जब व्यक्ति में दूसरे के सुख के लिये स्वयं कष्ट झेलने की भावना पैदा हो जाती है और उस भावना में किसी प्रकार का दम्भ और पाखण्ड शेष नहीं रह जाता है तभी वह जीवन के महान सत्य को पहचानने लगता है। तभी उसके जीवन का उदात्तीकरण होता है। उसकी चेतना संकीर्ण स्वार्थों से ऊपर उठकर प्रेम की भावना का साक्षात्कार करती है।

परिवार में आकर स्त्री इसी धर्म का पालन करती है। इसी आदर्श को सामने रखकर वह पारिवारिक जीवन को सुन्दर बनाने के लिये स्वयं भी कष्ट सहती है। प्रेम और त्याग का सामञ्जस्य उसके जीवन में पूरी तरह हो जाता है। श्रेष्ठ गृहिणी वही कहलाती है जो पति के घर आते ही उसे अपना समझने लगती है और उस परिवार के हित के लिये अपने व्यक्तिगत स्वार्थ का परित्याग कर देती है। वह परिवार के सभी व्यक्तियों को अपना स्नेह देती है। उनके प्रति ही नहीं बल्कि अपने आस-पड़ोस के प्रति भी स्नेहपूर्ण व्यवहार रख कर वह उनसे सुख पाती है। इसी स्नेह में अधिक और दे भी सकती है। उसी स्नेह की भावना के कारण ही तो वह पति के घर आकर जीवन में भीषण परिस्थितियों का सामना कर रही है और उन परिस्थितियों के बीच

स्वयं कठिन जीवन व्यतीत करके अपने पति पुत्र तथा अन्य परिवार के व्यक्तियों को प्रसन्न रखने की चेष्टा करती है। भारतीय नारी का यही त्याग-मय रूप पुरुष के जीवन को प्रेरणा देता है।

जब मानव ने अपना कर्त्तव्य समझ लिया तो दानव ने 'द' का अर्थ 'दया धर्म' समझाया। दानव स्वभाव से ही क्रूर होता है इसलिये प्राणी पर दया करना ही उसने अपना कर्त्तव्य निश्चित किया। इस तरह उसने अपने निर्दयता पूर्ण व्यवहार को छोड़कर प्राणियों को सुख पहुँचाने का विचार कर लिया।

क्षमा की भावना भी धर्म के अन्तर्गत आती है। पीड़ित के प्रति दया दिखाना, उसकी सहायता करना और अपराधी को भी क्षमा कर देना हमारे यहाँ धर्म की मूल भावनाएं रही हैं। महापुरुषों ने इन्हीं आदर्शों पर चल कर संसार में धर्म का प्रचार किया था। महात्मा ईसा गौतम बुद्ध महात्मा गांधी जैसे महापुरुषों ने कभी भी किसी पर क्रोध नहीं किया। क्षमा ही सदा उनके जीवन का लक्ष्य रहा। महात्मा ईसा ने तो मरते समय भी उन लोगों के प्रति जिन्होंने उन्हें सूली पर टाँगा था परमात्मा से ये शब्द कहे थे हे परमात्मा! तू इनको क्षमा कर देना क्योंकि ये नहीं जानते कि इस समय ये क्या कर रहे हैं।

इसी प्रकार महात्मा गांधी ने भी गोली लगते समय अपराधी के सम्मुख विनयपूर्वक हाथ जोड़े थे।

गौतम बुद्ध ने तो अपराधी के प्रति कभी रोष नहीं दिखाया तभी उनकी क्षमाशील मुद्रा के प्रभाव से क्रूर डाकू अंगुलिमाल तक अपनी तलवार फेंककर उनके चरणों पर लेट गया था।

अपराधी को भी क्षमा कर देने की भावना व्यक्ति की चेतना को उदात्त बनाती है। यह उसकी आत्मा में अद्भुत बल पैदा करती है। क्षमा हृदय की कायरता नहीं है बल्कि यह तो हृदय की वह अपार शक्ति है जिसके कारण व्यक्ति पूरी तरह निर्भीक हो जाता है और अपने जीवन के संकुचित राग और द्वेष से परे हो जाता है।

भारतीय नारी में क्षमा की यह भावना भी हमें मिलती है। शास्त्रकारों ने उसके सामने आदर्श रूप रख रखा है जबकि वह अपने पति के कैसे भी अपराध को क्षमा करके उसके जीवन को सुखी बनाने के लिए प्रयत्नशील रहती है। उसकी यह क्षमाशीलता ही उसको महानता प्रदान करती है। वह अपने सास श्वसुर का कठोर व्यवहार भी सह लेती है कभी-कभी उसे अपने पुत्र की धृष्टता भी सहनी पड़ती है, लेकिन वह सदा अपनी चेतना में धर्म का दीप जलाकर

अपना मार्ग देखती रहती है और अपने तपस्पूत जीवन के प्रकाश से दूसरों को भी मार्ग दिखाती रहती है। इस दृष्टि से देखा जाये तो नारी का जीवन एक घुटन नहीं है, वह एक तपस्या है, एक साधना है जिसमें वह अपने अहम् को भूली हुई निरन्तर जगी रहती है।

मानव और दानव के पश्चात देवताओं ने 'द' का अर्थ 'दम्यत' समझा। देवता स्वभाव से ही कामुक होते हैं। उनका मन उनके वश में नहीं रहता, इसी लिये अपनी क्षुद्र वासनाओं का दमन करना उन्होंने अपने जीवन का उद्देश्य निश्चित किया।

भारतीय नारी का जीवन अपनी क्षुद्र वासनाओं के दमन में ही तो अपनी सफलता ढूंढता है। उसमें यदि महत्ता है तो यही कि वह काम के ऊपर अपनी धर्म-भावना को रखती है। इसके अलावा भी वह परिवार और पति के सुख के लिये अपने तुच्छ स्वार्थों को भी छोड़ देती है। वह सुन्दर वस्त्र आभूषण आदि की तृष्णा का परित्याग इसी आधार पर कर देती है कि कहीं उसके सुख के लिये दूसरे के जीवन को दुःख नहीं पहुँचे।

इस बृहदारण्यक उपनिषद के इन तीन वाक्यों अर्थात् दत्त दयाध्वम और दम्यत में धर्म का सार आ जाता है। मैं उसी विवाह की प्रशंसा करता हूँ जिसमें स्त्री धर्म की मूल भावना को समझकर निरन्तर अपनी चेतना का विकास करती है। भारतीय नारी की प्रशंसा मैंने इसीलिये की है कि उसमें धर्म की यह भावना अपने पूरे उदात्त रूप में मिलती है। मैंने ऐसी श्रेष्ठ गृहणियों को देखा है जो अशिक्षित होते हुए भी आदर्श रूप से हृदय को प्रेरणा देती हैं। उसका एकमेव कारण उनका धर्म में अटल विश्वास ही है।

मैंने पहले पातिव्रत के आदर्श की चर्चा करते हुए शास्त्रकारों के उन वाक्यों की कटु आलोचना की है जहाँ उन्होंने नारी को हीन समझकर उसे पुरुष की एक दासी-मात्र बना दिया है। नारी के चरित्र में दोष कब पैदा होते हैं? वे उसी समय पैदा होते हैं जब वह धर्म के मूल स्वरूप को न पहचान कर केवल तुच्छ वासनाओं के पाश में ही भटकती रहती है। लेकिन इसके साथ मैं इसकी भी आवश्यकता समझता हूँ कि जिस धर्म के मूल को आत्मसात करके स्त्री परिवार को सुखी बनाने के लिए प्रयत्न करती है उसी धर्म के तत्व को पुरुष भी समझे और उसके साथ अपनी चेतना का तादात्म्य करके स्वयं भी परिवार को सुखी बनाने का दायित्व अपने ऊपर ले तभी पति और पत्नी के बीच स्वस्थ सम्बन्ध स्थापित हो सकेंगे। धर्म के बिना यह सामंजस्य असम्भव ही है। इसी लिए शास्त्रकारों ने सदा काम के ऊपर धर्म की महत्ता स्थापित की है। प्रजनन को शास्त्रकारों ने पति-पत्नी के जीवन का प्रमुख धर्म माना है। प्रजनन के साथ

ही स्त्री के अन्दर मातृत्व की भावना जागृत होती है। वह और भी उसके चरित्र को उदात्त बना देती है। अपने पुत्र को पाल-पोसकर बड़ा करने में माता क्या-क्या कष्ट नहीं उठाती। रात-रातभर जागकर वह अपनी सन्तान को पालती है। कठिन परिस्थिति में स्वयं भूखी रहकर वह पहले अपने पुत्र और पति को भोजन देने की चिन्ता करती है। कष्ट सहने की यह प्रवृत्ति ही प्रेम में सच्चाई और गम्भीरता पैदा करती है। इसी कारण पति-पत्नी के बन्धन अटूट बनकर चलते हैं और इसी जीवन में नहीं बल्कि अगले जीवन में भी वे एक दूसरे के साथ रहने की कामना करते हैं।

प्रधानतः दम्पत्ति का धर्म है। काम का इसके साथ गौण स्थान है। विवाह का तात्पर्य पति-पत्नी की कामवासना की तृप्ति ही नहीं है, उसके साथ दोनों के जीवन के कर्त्तव्य हैं। उनका अपना-अपना दायित्व है। काम तो स्वाभाविक रूप से धर्म के साथ लगा हुआ है। जो व्यक्ति काम को ही विवाह का मूलोद्देश्य समझता है वही पत्नी के बारे में धारणा रखता है कि वह एक वैध वेश्या (Legal prostitute) है जिसके जीवन की सार्थकता पुरुष की काम तृप्ति है। अधिकतर प्रेम-विवाहों में प्रेमी का अपनी प्रेमिका के प्रति यही दृष्टिकोण रहता है तभी वे विवाह बाद में चलकर असफल होते हैं। केवल काम को ही विवाह का केन्द्र बनाने से आदर्श परिवार नहीं बन सकता। धर्म की भावना के न होने के कारण जीवन में बार बार एक घुटन और खीझ सी पैदा होने लगती है। पुरुष की कामवासना क्या उसी स्त्री से तृप्त हो जाती है जिसे वह अपनी पत्नी बनाकर लाता है? मैं समझता हूँ, ऐसा नहीं होता। काम की तृप्ति कभी नहीं होती। उसके लिये पुरुष भी भटकता है और स्त्री भी और इस तरह व्यभिचार फैलता है और अन्त में जीवन को निराशा और दुःख मिलते हैं। इसलिए भारतीय ऋषियों ने धर्म के साथ काम का सामंजस्य किया है। धर्म के बिना काम उच्छृंखल होकर परिवार की श्रेष्ठता को कुण्ठित कर देता है। काम को तो केवल अपनी शारीरिक वासना की तृप्ति के लिये ही आवश्यक समझना चाहिये फिर इसके ऊपर धर्म का पूर्ण नियन्त्रण होना चाहिए। धर्म की भावना का परित्याग करके केवल काम के लिए ही पत्नी से सम्बन्ध स्थापित करना वेश्यागमन के समान है।

इसके पश्चात् अर्थ आता है। परिवार में अर्थ का भी प्रमुख स्थान है। सच देखा जाय तो अर्थ की विषमता का निराकरण परिवार में ही होता है। प्राणीमात्र के दुःख का काफी हद तक अर्थ ही कारण है। इसी धन के कारण एक प्राणी दूसरे प्राणी का शोषण करता है। अपने स्वार्थ के लिये एक दूसरे की हत्या करने के लिये उद्यत हो जाता है। यही अर्थ-विषमता पूरे समाज में

है। परिवार में यह नहीं रहती। वहाँ सभी व्यक्ति सामूहिक रूप से धन अर्जित करते हैं और उसी प्रकार उसका व्यय करते हैं। यह प्रश्न नहीं उठता कि कौन कितना कमाता है और वह कितना खर्च करता है। यदि परिवार का एक सदस्य नहीं भी कमाता है तो भी परिवार में उसका पालन होता है। बच्चों को शिक्षित करके योग्य और समर्थ बनाया जाता है। सभी सदस्यों के बीच एक प्रकार का समझौता होता है जिसमें किसी प्रकार की ईर्ष्या या द्वेष पैदा नहीं होता और जहाँ होता है वहाँ परिवार खण्ड खण्ड होकर बिखर जाता है। स्त्री इस समझौते मे महत्वपूर्ण भाग रखती है। मेरे अनुमान से परिवार को एक सूत्र में बाँध रखने और बिखरने के लिये वह काफी हद तक उत्तरदायिनी होती है। परिवार में जब बटवारे का प्रश्न उठता है तब स्त्रियों के झगड़ों के कारण ही अधिकतर यह होता है। पुरुष तो मिलकर रह भी लेते हैं लेकिन स्त्रियों का झगड़ा चलता रहता है। देवरानी जिठानी के वैमनस्य के कारण ही भाई भाई अलग हो जाते हैं। यदि देवर कम कमाता है तो जिठानी देवरानी पर शासन करना चाहती है और उसे हर समय यही ताने दिया करती है कि उसका पति कम कमाता है। इसके साथ वह अपने पति को भी यह सिखाती है कि उसको बेकार अपनी कमाई में से दूसरे को हिस्सा देने की क्या आवश्यकता है। जब वैमनस्य काफी बढ़ जाता है तो जोर की लड़ाई होती है। देवरानी का आत्म सम्मान जाग उठता है और उसका परिणाम यही होता है कि दूसरे ही दिन से दो चूल्हे जलने प्रारम्भ हो जाते हैं। अधिकतर परिवारों में मैंने इसी तरह की लड़ाइयाँ होती देखी हैं। पुरुषों से पूछने पर वे यही उत्तर देते हैं कि भाई क्या करें औरतों में नहीं बनती इसलिये रात दिन की बकबक से बचने के लिए यह अच्छा है कि अलग अलग ही प्रबन्ध कर लिया जाय। इस तरह व्यक्तिगत स्वार्थ के कारण परिवार छिन्न भिन्न हो जाता है। क्या यह विचारणीय नहीं है कि आजकल प्रायः ऐसा क्यों होता है? कभी-कभी तो मैंने ऐसा भी देखा है कि जिस पुत्र को माता-पिता पाल पोसकर बड़ा करते हैं, उसका विवाह करते हैं और अपना पेट काटकर भी उसकी पढ़ाई और विवाह के लिये खर्च करते हैं, वही अपनी बहू की सीख मानकर माता-पिता का विरोधी हो जाता है। उनकी वृद्धावस्था की भी रत्तीभर परवाह नहीं करता और जो भी कमाता है उसे अपनी पत्नी के हाथ मे देता है। पत्नी की ही सास और ससुर से अनबनी लड़ाई होती है। वह पति को कुछ न कुछ कहकर उनके खिलाफ भड़काया करती है। कुछ लोग पत्नी की सीख मान भी लेते हैं और कुछ नहीं भी मानते हैं। आखिर इस सारे वैमनस्य को जड़ क्या है?

मैं समझता हूँ स्वार्थ की पतित भावना ही इस सारे वैमनस्य का कारण है। जब व्यक्ति का स्वार्थ उठकर दूसरे के स्वार्थ के साथ समझौता करने के लिए तत्पर नहीं होता है और जब तू और मैं का प्रश्न उठ खड़ा होता है तभी विषमता फैलती है। तभी परिवार का सामूहिक रूप खण्ड-खण्ड होकर बिखर जाता है। इसी स्वार्थ के कारण भाई भाई का देवरानी-जिठानी की, पुत्र-पिता और माता का शत्रु हो जाता है, फिर तो अपनी कमाई अपने लिये की भावना पैदा हो जाती है। यह पतित भावना यहाँ तक अपना असर जमा लेती है कि अपने माँ-जाये भाई को घर घर का भिखारी देखकर भी दूसरा भाई समर्थ होते हुए भी उसको एक पैसे की मदद नहीं करता। श्री उसकी दुर्दशा पर हँसती है। इस तरह एक ही माता के उदर से पैदा हुए भाइयों में शत्रुता रहती है और एक ही घर में जब अलग-अलग भाइयों की पत्नी बनकर माँ जायी बहिनें आती हैं तो वे भी देवरानी-जिठानी बनकर अपने-अपने स्वार्थों के लिए रात दिन लड़ती झगड़ती रहती हैं। स्वार्थ ही सारे वैमनस्य का कारण है। आर्थिक स्वार्थ के कारण कुछ क्षणों में दो व्यक्ति अभिन्न मित्र होते हुए भी पराये हो जाते हैं। इसी आर्थिक स्वार्थ के कारण जो स्त्री एक दिन अपने स्वभाव में शील और संकोच लेकर नववधू रूप में पति के घर की देहरी पर पैर रखती है और जिसके शुभ आगमन में मंगल-गीत गाये जाते हैं, जिसे घर की लक्ष्मी समझकर सम्मानित किया जाता है, वही अपना सारा शील और संकोच छोड़कर अपने और अपने पति के स्वार्थ में इतनी संकुचित प्रवृत्ति वाली हो जाती है कि उसका रूप घर की लक्ष्मी से बदल कर घर की डायन हो जाता है, जो आकर परिवार के संगठन को तोड़ती है। स्वजनों के बीच दरार डालती है।

इस सबका कारण धर्म की मूल भावना का विस्मृत कर देना ही है। जब अर्थ ही एकमात्र पारिवारिक जीवन का नियन्ता हो जाता है और उसके साथ धर्म का सामंजस्य नहीं रहता तो इसी प्रकार के छंद-भाव पैदा हो जाते हैं। जो स्त्री धर्म, अर्थ और काम का पूरा सामंजस्य अपने जीवन में कर लेती है, वही घर की लक्ष्मी बनकर रहती है। कहीं-कहीं मैंने ऐसी श्रेष्ठ नारियाँ देखी हैं जिनके जीवन में इन तीनों का सामंजस्य होता है, तभी वे परिवार के सभी व्यक्तियों के जीवन को सुखी बनाती हैं। जो स्त्री केवल एक ही प्रश्न को लेकर चलती है, वही पारस्परिक सम्बन्धों में विषमता लाती है। स्त्रियों की निन्दा होती भी है तो इन्हीं कारणों से होती है। काम को ही जीवन का केन्द्र बना लेने से स्त्री का जीवन व्यभिचार की ओर उन्मुख हो जाता है। स्वेच्छाचार आदि इसी के दुष्परिणाम हैं। शास्त्रकारों ने स्त्री की काम के क्षेत्र में काफी निन्दा की है। पंचतंत्र में जब स्त्रियों के बारे में यह कहा गया है कि उनका

स्वभाव समुद्र की तरंगों के समान चंचल और प्रेम सन्ध्या-काल के बादलों के समान क्षणिक होता है, वे एक पुरुष के साथ बातें करती हैं, दूसरे को कटाक्षों से देखती हैं और तीसरे का अपने चित्त में स्मरण करती हैं, इसका मूल कारण यही है कि जब स्त्री केवल काम को ही अपने जीवन का साध्य समझने लगती है और धर्म की भावना को पूरी तरह विस्मृत कर देती है तभी वह दुश्चरित्र होकर निन्दा की पात्री बन जाती है। इसी काम के पीछे स्त्री इतनी क्रूर और पतित हो जाती है कि मैंने ऐसी पत्नियों को भी देखा है जिन्होंने किसी यार के साथ स्वच्छन्दतापूर्वक विचरण करने के लिए अपने पतियों को विष देकर मार डाला है, और इस प्रकार के पति भी मैंने देखे हैं जिन्होंने किसी अन्य लड़की के रूप की ओर आकर्षित होकर और उसके साथ विवाह करके जीवन का आनन्द लेने के लिए अपनी धर्मपत्नियों को विष देकर मार डाला है। काम बड़ी से बड़ी विषमता पैदा कर देता है। जब स्त्री या पुरुष काम से ही अपनी चेतना का तादात्म्य कर देते हैं तभी व्यभिचार घृणा विद्वेष आदि बढ़ते हैं इसीलिए भारतीय ऋषियों ने काम के नियन्त्रण के लिए धर्म की व्यवस्था की है और पतिपत्नी के सम्बन्ध को केवल काम क्रीड़ा का क्षेत्र न मानकर धर्मपालन का साधन कहा है।

इसी प्रकार अर्थ का भी सामंजस्य उन्होंने धर्म के साथ किया है। अर्थ पर भी जब तक धर्म का नियन्त्रण नहीं होता तब तक निरन्तर ईर्ष्या विद्वेष आदि पनपते रहते हैं। पतित स्वार्थ के लिये विवाद उठ खड़े होते हैं। कल्याण की भावना पूरी तरह लुप्त हो जाती है। उस समय मनुष्य इतना पतित हो जाता है कि मुझे कभी-कभी तो मनुष्य के विकास पर ही सन्देह हो उठता है। पशु अवस्था से लेकर मनुष्य में मूलभूत परिवर्तन क्या आ पाया? पहले भी व्यक्ति अपने भोजन के लिए एक दूसरे से लड़ता था आज भी वही सबकुछ होता है फिर यह विकास कैसा? इसीलिए और धर्म और अर्थ के समन्वय को जीवन की श्रेष्ठता माना गया है।

इसके पश्चात् मोक्ष पर विचार करना आवश्यक है। मोक्ष का तात्पर्य केवल जप-तप करके स्वर्ग प्राप्त करना नहीं है। यह तो पौराणिक कल्पना है। मोक्ष का तात्पर्य है विराट सत्ता की खोज और उसका साक्षात्कार। मोक्ष का अर्थ है आत्मा की शान्ति। अपने आपको पहचानने की क्षमता। यह सब वही कर सकता है जो निरन्तर चिन्तन करता हुआ अपने जीवन को समझने की चेष्टा करता है। वह हर समय जीवन की विषमताओं के बीच उसका मूल कारण ढूंढा करता है और फिर जीवन के उदात्त स्वरूप को पहचान कर अपनी चेतना का तादात्म्य उससे जोड़ता है। वह महानता का केवल परिचय प्राप्त

[illegible]

[illegible] है। [illegible]

[illegible] अधिक हीनत्व इसी में लगता। [illegible] छोटी-छोटी बातें सोचने के अलावा कभी भी जीवन की विभिन्न समस्याओं के बारे में सोचती नहीं। वह अपने व्यक्तित्व को पति में भर आकर इस तरह घटा देती है कि उसके अन्दर विचार-शक्ति पनपती ही नहीं। अन्त तक वह एक प्रकार की जड़ता से बँधी रहती है और उससे आगे कुछ भी सोचने विचारने का प्रयत्न नहीं करती। आश्चर्य यह है कि स्त्री इसकी अपने जीवन में आवश्यकता ही नहीं समझती। तभी तो यह अन्ध-विश्वास जमा आता है कि स्त्रियों को पढ़ाने की क्या आवश्यकता है। उनको कोई नौकरी चाकरी थोड़े ही करनी है। विवाह के पश्चात् तो उनको अपनी घर-गृहस्थी संभालनी चाहिए। इस तरह के मध्यकालीन विचार आज भी असंख्य स्त्रियों को शिक्षा से वंचित कर देते हैं। पढ़ाई लिखाई का सम्बन्ध सीधे नौकरी-चाकरी से लगाया जाता है। हम इतना अभी सोच ही नहीं पाते कि इससे व्यक्ति की विचार शक्ति बढ़ती है और उसकी चेतना का विकास होता है। पढ़ाई को सीधे नौकरी या विवाह सर्टिफिकेट प्राप्त करने से मिलाकर उसकी सार्थकता दूढ़ना नवीन युग की विचारधारा है। पातिव्रत्य की मध्यकालीन परम्परा में जकड़ी हुई स्त्री इसीलिये पढ़ाई लिखाई की कोई भी आवश्यकता अपने लिये नहीं समझती। जीवन की समस्याओं पर विचारने का कार्य वह पुरुष को दे देती है और अपने लिये तो केवल चूल्हे चक्की के क्षेत्र को ही पर्याप्त समझ लेती है। यदि विचार भी करती है तो आस-पड़ोस की छोटी-छोटी बातों पर।

स्वभाव समुद्र की तरंगों के समान चंचल और प्रेम संध्या-काल के बादलों के समान क्षणिक होता है, वे एक पुरुष के साथ बातें करती हैं, दूसरे को कटाक्षों से देखती हैं और तीसरे का अपने चित्त में स्मरण करती हैं, इसका मूल कारण यही है कि जब स्त्री केवल काम को ही अपने जीवन का साध्य समझने लगती है और धर्म की भावना को पूरी तरह विस्मृत कर देती है तभी वह दुश्चरित्र होकर निन्दा की पात्री बन जाती है। इसी काम के पीछे स्त्री इतनी क्रूर और पतित हो जाती है कि मैंने ऐसी पत्नियों को भी देखा है जिन्होंने किसी यार के साथ स्वतन्त्रतापूर्वक विचरण करने के लिए अपने पतियों को विष देकर मार डाला है, और इस प्रकार के पति भी मैंने देखे हैं जिन्होंने किसी अन्य लड़की के रूप की ओर आकर्षित होकर और उसके साथ विवाह करके जीवन का आनन्द लेने के लिए अपनी शीलवान पत्नियों को विष देकर मार डाला है। काम बड़ी से बड़ी विषमता पैदा कर देता है। जब स्त्री या पुरुष काम से ही अपनी चेतना का तादात्म्य कर लेते हैं तभी व्यभिचार जैसा विष व्याप्त होता है। इसीलिए भारतीय ऋषियों ने काम के नियमन के [illegible] ारता व्यवस्था की है और पतिव्रत [illegible] विचारधारा प्रस्तुत करती मानकर धर्म हास लगता है। इसका मूल कारण यही है कि स्त्री के की भावना हमारे हृदय में इतने नीचे तक घर जमा गई है कि हम स्त्री को अपनी तरह जागरूक देखने की कल्पना तक नहीं कर सकते। कहीं कहीं तो इसके लिए इस तरह के तर्क उठ खड़े होते हैं कि स्त्री की बुद्धि पुरुष से कम होती है। शारीरिक शक्ति में भी वह पुरुष से कमजोर होती है इसलिए स्त्री सर्व प्रकार से पुरुष से हीन है। इस तरह कहकर वे स्त्री के दासी रूप का औचित्य सिद्ध करते हैं लेकिन इस तरह की विचारधारा निर्मूल है। शारीरिक बल में पुरुष स्त्री से अधिक हो सकता है लेकिन जहाँ तक मानसिक चेतना का प्रश्न है इस तरह का भेद करना असंभव होगा। शारीरिक शक्ति तो स्त्री की प्रजनन के कारण क्षीण होती जाती है। यह सोचना कि स्त्री पुरुष के समान जागरूक नहीं हो सकती भूल होगी। यदि स्त्रियों को शिक्षित किया जाय और उन्हें भी स्वतन्त्र चिन्तन का अधिकार मिले तो मैं समझता हूँ कि एक आदर्श ही स्वस्थ समाज इस जड़ता और अन्धविश्वास से जकड़े समाज के भीतर से उठ सकता है।

मेरे सामने तो स्त्री और पुरुष के सम्बन्धों का यह रूप आदर्श बनकर आता है जब दोनों ही जीवन के प्रति जागरूक होकर परिवार को इस तरह चलायें जैसे दो बैल गाड़ी को चलाते हैं।

स्त्री केवल पुरुष की दासी नहीं है वह तो उसके साथ जीवन के संग्राम में

कन्धे से कन्धा मिलाकर संघर्ष करने वाली अर्धांगिनी है। सीता और सावित्री के जीवन से उसे यही प्रेरणा लेनी चाहिये। उसे जीजाबाई की तरह ही समाज और राष्ट्र के प्रति अपना दायित्व पूरा करना चाहिये। जीजाबाई ने शिवाजी जैसे वीर को पैदा किया था जिसने जन-कल्याण के लिये साम्राज्य वादी मुगल बादशाह औरंगजेब से टक्कर ली थी। उसके जीवन को शकुन्तला जैसी स्वाभिमानिनी नारियों के चरित्र से प्रेरणा मिलनी चाहिये। जब दुष्यन्त ने शकुन्तला के प्रति दुर्वचन कहकर उसका तिरस्कार किया था तब उसने जिन शब्दों में दुष्यन्त को उत्तर दिया था, वे शब्द नारी के गौरव को ऊंचा उठाते हैं। नारी को दासत्व की भावना का परित्याग करके अपने जीवन में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का सामंजस्य पैदा करना चाहिये। भारतीय चिन्तन इन चार शब्दों के अन्तर्गत ही नारी परिवार तथा समाज की समस्याओं का हल प्रस्तुत कर गया है।

इसको समझकर जीवन के साथ इसकी एकरसता स्थापित करने में ही सुख और शान्ति है। सारी विषमता तभी दूर हो सकती है। ध्यान से देखा जाय तो परिवार विश्व के एक आदर्श राज्य का लघु रूप है। इसके अन्तर्गत व्यक्ति का अहंकार अपने उग्र रूप में उठकर विषमता और दुःख पैदा नहीं करता बल्कि पारस्परिक स्नेह के कारण सद्इच्छा में उसका उदात्तीकरण हो जाता है। आज विश्व में सारी विषमता का कारण यह अहंकार ही तो है।

१०

आधुनिकता और अतीत का संघर्ष

आधुनिकता के नाम पर उच्छृंखलता आज चल रही है, उसका ठीक तरह निर्णय होना चाहिए कि यह सचमुच प्रगति है या मनुष्य की कुप्रवृत्ति का ही रूप है। आज चारों ओर स्त्री-स्वातन्त्र्य के ऊपर काफी जोर दिया जा रहा है लेकिन इस प्रश्न पर हम गम्भीरता-पूर्वक विचार करें कि यह स्त्री-स्वातन्त्र्य है क्या ?

क्या यह प्राचीन यौन-स्वच्छन्दता की माँग है ?

यह तो ठीक है कि पाप पुण्य की धारणायें युग-विशेष की परिस्थितियों से अपनी सापेक्षता रखती हैं लेकिन समाज की चेतना का भी तो उसी प्रकार निरन्तर युग और परिस्थिति की सापेक्षता से विकास होता है और इस विकास क्रम में एक बार यह देखकर कि अमुक नियम अब मनुष्य की प्रगति को रोकता है उसके विषय में विपरीत धारणा बन जाती है। एक बार दास-प्रथा का प्रारम्भ भी पूर्व स्थिति की तुलना में मनुष्य के लिए कल्याणप्रद ही हुआ क्योंकि पहले तो दासों को लाकर मार डाला जाता था, उस स्थिति में दासों को जीवित रखकर केवल भोजन वस्त्र के आधार पर उनसे काम लेने की व्यवस्था करना मानवता की दृष्टि से एक आगे का कदम ही था। इसी आधार पर कालान्तर में आकर मनुष्य की हत्या पाप के रूप में स्वीकार कर ली गई। फिर जब दास-प्रथा

के अन्तर्गत स्वामी दासों के प्रति अमानुषिक व्यवहार करने लगे और आर्थिक दृष्टि से भी अधिक लाभदायी सिद्ध न होने के कारण वह टूट गई तो बाद में विधान बना कि किसी अन्य मनुष्य को दास बनाना ईश्वर के नियम के विरुद्ध पाप समझा जायेगा। इस तरह पाप और पुण्य की शृंखला चलती जाती है लेकिन देखना तो यह चाहिए कि क्या इस प्रकार की धारणाओं के बिना समाज चल सकता है, मेरे अनुमान से तो नहीं। मनुष्य और समाज के विकास के लिए ये धारणायें अत्यन्त आवश्यक हैं। हाँ उसके विषय में जड़ धारणायें हमें स्वीकार नहीं करनी चाहिए बल्कि परिवर्तन में उनके रूप को देखना चाहिये और उनके पीछे एक अपरिवर्तनशील तत्व मनुष्य के कल्याण की भावना के पुण्य रूप को भी देखना चाहिए। उस सबको देखने के पश्चात पूरी तरह बुद्धि खोलकर हमें विचार करना चाहिए कि अमुक धारणा कहाँ तक मनुष्य का कल्याण करती है। बस वही पुण्य है और जो धारणा मनुष्य कल्याण न करके उसको अधोपतन के मार्ग पर ले जाने वाली हो उसे ही पाप के रूप में स्वीकार करना चाहिए। यही हमारी अनुचेतना के आधार पर पुण्य और पाप के निर्णय का आधार है।

इसी दृष्टिकोण से आज हम आधुनिक जीवन को परखने का प्रयत्न करें तो देखेंगे कि उच्च वर्ग और उच्च मध्य वर्ग की स्त्रियाँ जो स्त्री-स्वातन्त्र्य की पुकार उठाती हैं वह स्वतन्त्र विलास की कामना के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। वे परिवार की महत्ता को स्वीकार नहीं करतीं और पूरी तरह व्यक्ति परक होकर अपने अहंकार से समाज की व्यवस्था को चुनौती देती हैं। उसमें उनका व्यक्तिगत स्वार्थ होता है। व्यष्टि का समष्टि के स्वार्थ के लिए लय हो इस प्रकार की भावना उनमें लेशमात्र भी नहीं मिलती। उनकी बनावट, चमक दमक सभी उनकी वासना और अहंकार के मुखरित रूप हैं। इस तरह के उच्च परिवारों में स्त्री और पुरुष के बीच एक प्रकार का द्वन्द्व और स्पर्धा होती है जिसके अन्तर्गत भावनाओं की गम्भीरता के स्थान पर बनावट ही अधिक होती है। भारतीय आदर्श की दृष्टि से देखा जाय तो इन परिवारों में स्त्री पुरुष के सम्बन्ध केवल काम और अर्थ की भावनाओं से ही नियन्त्रित होते हैं। हमारी व्यवस्था के धर्म और मोक्ष की भावनाओं का वहाँ पूरी तरह अभाव होता है, तभी तो यदि पति का कोई मित्र अतिथि के रूप में कभी घर आता है तो उसकी सहधर्मिणी पत्नी उसके लिए खाना तक बनाने में अपनी हीनता समझती है। वहाँ तो नौकर के बल पर ही स्त्री और पुरुष की समानता चलती है और उसी के बल उनके बड़े आदमी होने का सबूत मिलता है। इनकी तुलना में देखा जाये तो क्या वे मनीषी मूर्ख थे जिन्होंने आतिथ्य सत्कार का इतना ऊँचा

दर्जा स्थापित किया था कि अतिथि के आने पर भारतीय परिवारों में उसका अपार स्वागत होता था। आज मध्यवर्गीय चेतना ने इस सबको उस उदात्त रूप में स्वीकार ही नहीं किया है।

इसका कारण क्या है ?

कारण है भारतीय आदर्श का भूल जाना और आधुनिकता के दम्भ में पश्चिम की ओर भटकना। पश्चिम से भी कई बातें सीखनी चाहिए, लेकिन पश्चिम को आदर्श मानकर भारतीय आदर्शों को केवल अन्धविश्वास के रूप में देखना हमारी शताब्दियों से चली आई दास-प्रवृत्ति का ही द्योतक है। जब तक हम अपने संस्कारों को उससे मुक्त नहीं करेंगे तब तक किसी समस्या के बारे में गम्भीरता और निष्पक्षता से विचार नहीं कर सकेंगे। पूर्व और पश्चिम भारत और यूरोप का विभाजन भेद न करते हुए हम मनुष्य की सांस्कृतिक चेतना के विकास के विभिन्न रूपों को देखना चाहिए और फिर अपनी विचारधारा बनानी चाहिए ? केवल पश्चिम ही उच्च सभ्यता का आदर्श नहीं है। भारतवर्ष जिसमें हम रहते हैं, क्या कोई इसके सांस्कृतिक इतिहास का अध्ययन करने के पश्चात् एकमात्र पश्चिम की संस्कृति से प्रभावित हो सकेगा ? मानव संस्कृति के जितने विविध रूप इस प्राचीन देश में मिलते हैं और मनुष्य के कल्याण के लिए जितने तरह के प्रयोग यहाँ किए गये, क्या उतने और कहीं सहज मिलेंगे ? मैं समझता हूँ नहीं तो फिर हमें अपने देश की संस्कृति को उपेक्षा-पूर्ण दृष्टि से नहीं देखना चाहिए। आधुनिकता की बाढ़ में हमें अन्धी तरह नहीं बह जाना चाहिए कि हम अपनी आधारभूमि को ही भूल जायें।

अन्त में अब मैं एक बात और कह दूँ। स्त्री ने प्रकृति के कारण जो मातृत्व पाया है, उसी के कारण उसने वात्सल्य को वास्तव में स्वीकार किया है। मातृसत्ता का अन्त स्त्री की इसी मनोवृत्ति का परिणाम है कि वह जिम्मेदारी को पुरुष पर केलती रही और इसीलिए उसने रूप के बल पर पुरुष की कामुकता को उकसा कर अपना काम निकालने की चेष्टा की।

समस्त भारतीय आदर्श भी बानरे के भीतर की दौड़ है। परिवार-मानव समाज के व्यापक प्रेम को खण्डित करके 'मेरे तेरे' की घृणा को जन्म देता है। यह समस्या इतनी बड़ी है कि इसको सुलझाने के लिए हमें अपने समस्त चिंतन के मूलाधारों को बदलना होगा।

किन्तु चिंतन के बदलने से भी समाज शीघ्र नहीं बदल सकता। समाज में परम्परा धीरे-धीरे बनती है। बलपूर्वक परिवर्तन किये जा सकते हैं, किन्तु उसमें दमन-विरोध का भावक रहता है और उसमें वास्तविक परिवर्तन नहीं होता, एक बुराई हटती है, तो दूसरी अपने आप पैदा हो जाती है।

११

प्राकृतिक उपावास तथा भौगोलिक पर्य्यावरण

मानवशास्त्री मानव जाति के तीन विभाजन करते हैं—

(१) मंगोलॉयड ।

(२) कॉकेशॉयड ।

(३) नीग्रॉयड ।

किन्तु पैकस्स और स्टर्न ने निम्नलिखित विभाजन किया है—

(१) कॉकेशॉयड ।

(२) मंगोलॉयड ।

(३) अफ्रीकन नीग्रॉयड ।

(४) मेलेनेशियन ।

(५) माइक्रोनेशियन—पोलिनेशियन ।

(६) कांगो या मध्य अफ्रीकन पिग्मी ।

(७) सुदूर पूर्वीय पिग्मी ।

(८) ऑस्ट्रेलॉयड ।

(९) बुशमैन हॉटेनटॉट ।

(१०) आयनू ।

(११) वेद्दा या वेद्दॉयड ।

१६ वीं सदी तक बहु प्रमुख जातियाँ (races) थीं। प्रत्येक महाद्वीप पर स्थानीय उपभेद इनके पारस्परिक मिलन तथा भौगोलिक पर्य्यावरण से जन्म लेते रहे।

यहाँ हम प्राकृतिक परिस्थितियों का अध्ययन करेंगे जिन्होंने प्रत्येक जाति पर अपना प्रभाव डाला है।

मनुष्य ने प्रकृति से निरंतर संघर्ष किया है और अपने को जीवित रखने की चेष्टा की है। प्रकृति के प्रति उसने—

(१) भय से उपासना की है।

(२) रूढ़ि से उसकी आज्ञा मानी है।

(३) तर्क से उसकी व्याख्या की है

(४) और विज्ञान से उसने उसे अपने प्रयोग में लाने की चेष्टा की है।

संसार में मानव के लिये इतनी प्रमुख वस्तु कोई भी नहीं है जितना कि मौसम। मौसम का उसके जीवन पर सीधा प्रभाव पड़ता है। मौसम का प्रभाव मानव को प्रारम्भ से ही प्रभावित करता रहा है। मौसम प्राचीन धर्म में, विज्ञान में, तथा दर्शन शास्त्र में एक स्वाभाविक महत्व के रूप में है। यह एक रहस्य बना हुआ है। इसके बारे में एक बात में मतैक्य है, और वह है इसकी अस्थिरता। लेकिन यह पूर्णरूपेण नहीं कहा जा सकता कि बसन्त फरवरी में ही आयेगा या मार्च में। सर्दी हमेशा एक सी नहीं पड़ती तथा गर्मी भी कभी समान नहीं होती। कभी अधिक सर्दी पड़ती है, तो कभी सर्दी मध्यम रहती है इसी प्रकार गर्मी की हालत होती है। कभी गर्मियों में अधिक गर्मी पड़ती है, तो कभी गर्मियों में वर्षा हो जाने से गर्मी कम पड़ती है।

प्रारम्भिक मानव घर बसा कर नहीं रहता था। उसको अपनी रक्षा की तथा अपने भोजन की बड़ी परवाह करनी पड़ती थी। उसको मौसमों के संबंध में ज्ञान भी कम था। वह अपने भविष्य के लिये किसी प्रकार का संग्रह नहीं करता था। धीरे-धीरे इसका ज्ञान मानव को हुआ, वह इसे प्राकृतिक विकास के नाम से जानने लगा। आज हम प्राकृतिक नियमों पर बड़ी सावधानी के साथ बोलते हैं। इसका मुख्य कारण यही है कि हमने शताब्दियों के अनुभवों के बाद इसे समझा है तथा हमें प्रकृति के नियमों का ज्ञान हुआ है। जैसे-जैसे मानव का मस्तिष्क बढ़ता गया, वह प्राकृतिक शक्ति से परिचित होता चला गया। मानव के लिये सूर्य चन्द्रमा, तथा नक्षत्र पहले एक नाटकीय ढंग का-सा आनन्द देते थे। वह इनको बड़े आश्चर्य के साथ देखता था और इनके बारे में यह समझता था, कि ये सभी सृष्टि के कर्ता हैं। इनका निकलना और छिपना बड़ा आनन्ददायक लगता था। एक ओर इनसे आनन्द होता था तो

दूसरी ओर नदियों और पेड़ों से जीवन को सुख प्राप्त होता था। इनके ह्रास तथा इनका कल-कल, सन-सन करना पेड़ों का वायु-वेग से हिलना मानव को बड़ा आश्चर्यान्वित कर देता था।

पौराणिक कहानियों आदि ने ही ज्योतिष विद्या का विकास किया। इसके द्वारा इस बात की कल्पना की जाने लगी कि मौसम अच्छा रहेगा या बुरा। इस प्रकार की कल्पना के द्वारा एक देवता का रूप आया और लोगों ने मौसम की खातिर इन देवी देवताओं की प्रार्थनाएं तथा पूजाएं प्रारम्भ कीं, ताकि मौसम अच्छा रह सके। इन देवताओं के लिये अनेकों प्रकार की भेंटें चढ़ाई जाने लगीं ताकि मानव की भलाई हो सके। इन प्रार्थनाओं तथा भेंटों के कारण मौसम का विवरण साहित्य और कला के अन्तर्गत आया। हमारे प्राचीन ग्रन्थों में, यहाँ तक कि वेद जो कि संसार का सबसे प्राचीन साहित्य है, उसमें भी मौसम को ठीक रखने के लिये सूर्य चन्द्रमा, नक्षत्र तथा अन्य देवताओं की प्रार्थनाएं की गई हैं।

पाश्चात्यों का मत है कि मौसम के बारे में सबसे पहले क्रमबद्ध अध्ययन मिस्र के लोगों ने किया। रोम के प्राचीन मन्दिर इस बात के द्योतक हैं। प्राचीन ग्रीक-निवासियों ने भी मौसम पर काफी तथ्य एकत्रित किये। उनके देवता असभ्य युग की प्राकृतिक शक्तियों को बतलाते हैं। ये देवता इसी शक्ति के प्रतिनिधि के रूप में हैं। ये लोग अपने वैज्ञानिकों को विश्वदेवतावादी सिद्धान्त को मानने वाला मानते थे। जलवायु सम्बन्धी विद्या(climatology)शब्द ग्रीक लोगों से लिया गया है। कोई २१०० वर्ष पहले हेसीयड कवि ने नक्षत्रों के छिपने तथा उदय होने के बारे में बड़ा आश्चर्यमय वर्णन किया है तथा बताया है कि मानव को उनके उदयास्त के समय कैसा बनना चाहिये। उसने बताया है कि सर्दी के मौसम का युद्धमय प्रभाव वर्षा के आगमन की सूचना देता है। उसने अपने अनुभव तथा अन्य लोगों के ज्ञान के द्वारा दिन के कार्यों का एक कैलेंडर बनाया था जो कि एक प्रकार से चरवाहा-जीवन का कैलेंडर कहा जा सकता है। अरस्तू ने भी इस सम्बन्ध में काफी प्रकाश डाला है। प्राचीन लोगों ने मौसम के बारे में काफी अध्ययन किया तथा अपने अनुभव द्वारा यह बताया कि इसका मानव के ऊपर कितना शारीरिक तथा मानसिक प्रभाव पड़ता है। इसके विस्तृत अध्ययन में भी मानव की आँखों को खोला। इसके द्वारा ही मानव को बिजली की शक्ति का ज्ञान हुआ। इसी मौसम के ज्ञान ने विज्ञान को एनेमोमीटर बैरोमीटर थर्मामीटर, ऐवेपरोमीटर साइमोमीटर मीट रोग्राफ तथा टैलिस्कोप का ज्ञान कराया। उसने इस बिजली की शक्ति के द्वारा ही अपना विकास किया। पतंगा तथा बैलूनों को मीटरोलोजी की देना

में लाया गया। मौसम के सम्बन्ध में हमको अनेकों ही कहावतें मिलती हैं। ज्योतिषी लोग इस सम्बन्ध में अनेकों ही उपग्रहों को देखते हैं। वे जूपीटर के उपग्रह होते हैं। इनका प्रभाव पृथ्वी की नियमितता पर पड़ता है। यह एक आम विश्वास प्रचलित है कि जब चन्द्रमा एक घेरे में घिरा हुआ-सा दिखाई देता है, तो वर्षा होती है। इस घेरे को 'पारस में बैठना' के नाम से उत्तरी भारत में पुकारते हैं। जितना बड़ा घेरा होगा उतनी ही जल्दी वर्षा आयेगी। जब नवीन चन्द्र शनिवार को निकलता है तो यह कहा जाता है कि यह वर्षा की सूचना दे रहा है अर्थात् शनिवार का नवीन चन्द्र वर्षा का द्योतक होता है। अगर चन्द्रमा रविवार को निकला तो यह विश्वास किया जाता है कि माह समाप्त होने से पहले पहले बाढ़ अवश्य आयेगी। इस सम्बन्ध म यह कहा जाता है कि अगर चन्द्र प्रथम दिन से चतुर्थ दिन अच्छा और चमकदार निकलता है तो यह माना जाता है कि मौसम अच्छा रहेगा। यदि यह बादलों से घिरा रहेगा तो वर्षा अवश्य होगी। यदि चन्द्र निकलने के छठ दिन रंगीन लहरों म दिखाई देगा तो यह विश्वास किया जाता है कि तूफान अवश्य आयेगा। इस प्रकार प्रतिदिन का बदला हुआ चन्द्र भविष्य के मौसम की सूचना देता है। अंग्रेज लोगों मे चन्द्रमा से मौसम का बड़ा सम्बन्ध माना जाता है।

अंग्रेज लोग अपने देश से बिजली तथा तूफान आदि को हटाने के लिए चर्च की घंटियों को बजाते थे। बुरी आत्माओं को दूर करने के क्रम म भी इन वस्तों का प्रयोग किया जाता है। आज के सभ्य व्यक्ति ने इस सम्बन्ध में काफी परिवर्तन कर लिया है।

फ्रान्स का प्रसिद्ध भविष्यवक्ता फ्लेमोरियन मौसम पर चन्द्रमा के प्रभाव को नकारात्मक रूप से स्वीकार करता है। उसने लिखा है कि—चन्द्रमा और मौसम आपस में बदल सकते हैं लेकिन चन्द्रमा का बदलना मौसम को नहीं बदल सकता।

इसी प्रकार के अनेकों विश्वास सूर्य के बारे म प्रचलित हैं। प्राचीन कहावतों में यह कहा जा सकता है कि—"रात्रि के बाद घण्टों में वह बिना अपने ताज के ईश्वर के समान प्रगट होता है।" एक विश्वास जिस कि विज्ञान भी आज बताता है, वह यह है कि मैगनेटिक तूफानों क द्वारा मौसम प्रभावित होता है। सूर्य के सम्बन्ध में यह बताया जाता है कि अगर प्रातः काल आकाश लाल होगा तो अपशकुन समझा जायेगा और अगर रात्रि को आकाश लाल दिखाई देगा तो मौसम अच्छा समझा जायेगा। यह शुभ शकुन की निशानी माना जाता है। एक मजनून न बताया है कि शाम आकाश लाल पर मौसम अच्छा रहेगा

और इसीलिए सूर्य को मौसम बताने वाला दूत कहा गया है। वेद में भी प्राकृतिक वस्तुओं को देवता मानकर प्रार्थना की गई है। त्रिकाल सूर्य को अर्घ्य दिया जाता है।

कोहरे के विषय में कहा जाता है कि यदि वह किसी पहाड़ी से आ रहा है तो मौसम बुरा होगा और यदि समुद्र की ओर से उठ रहा है तो मौसम अच्छा रहेगा। मौसम की पहचान के लिए चिड़ियों और मैदान के अन्य जीवों को भी देखा जाता है। पक्षी मौसम के बारे में बताते हैं। टिटहरी के अण्डे गिने जाते हैं और उनकी संख्या या उसके घोंसले से अनेक अनुमान लगाये जाते हैं। जब वह ह्वी का घोंसला बनाती है तब अकाल पड़ता है।

जब कुत्ते जमीन के अन्दर गड्ढा खोदते हैं तथा घास खाते हैं, मवेशी और भेड़े साथ-साथ मैदान में चरती हैं बिल्लियाँ उल्टी होकर सोती हैं, मुर्गा सांयकाल को बांग देता है काली चिड़िया प्रातः गाती है मेंढक चिल्लाते हैं मकड़ी अपना जाला छोड़ देती है तो यह विश्वास किया जाता है कि ऐसे कष्ट कार्य होने से वर्षा अवश्य होगी। जब मवेशी इधर-उधर घूमते हुये नजर आते है तो यह माना जाता है कि सुन्दर मौसम आने वाला है।

अलास्का में तूफान रोकने के लिये लोग तम्बाकू पीना छोड़ देते हैं। जब आकाश म बिजली चमकती है तब यह माना जाता है कि वह साँप और तूफान को खा जायेगी। तूबा जाति में ऐसा विश्वास है कि आकाश में यदि किसी पशु या जन्तु की सी आकृति बन जाती है तो वह बुराइयों को नष्ट करती है।

बूबो म मौसम क प्रति एक विशेष आवश्यकता दिखाई देती है। आने वाले मौसम को वे १ मित करते हैं। जब पत्तियाँ एक दूसरी से मिल जाती हैं तो वर्षा की आशा की जाती है।

सभ्य समाज मे मौसम की जाँच प्रयोगशालाओं द्वारा की जाती है। सन् १८७२ से मुख्य-मुख्य राजधानियों से मौसम सम्बन्धी चार्ट प्रकाशित किये जाते हैं, किन्तु उनके आधार वैज्ञानिक अनुसंधान पर निर्भर होते हैं।

मनुष्य की संस्कृति पर प्रकृति का सीधा प्रभाव पड़ता है।

प्रकृति स मनुष्य की निम्नलिखित बातों पर प्रभाव पड़ता है—

(१) रहन-सहन
(२) सृष्टि के आदि कारण की खोज की कल्पना
(३) खान-पान की नियमावली
(४) भाषा की बनावट
(५) जीवन और मृत्यु की व्याख्या
(६) जातीय भावना-गर्व या हीनत्व की भावना।

(७) वेशभूषा
(८) यौन-भावना
(९) उद्योगशीलता
(१०) कला के क्षेत्र में प्रतीक और विश्वास
(११) धार्मिक विश्वास
(१२) साहसिकता या स्वागुण्य

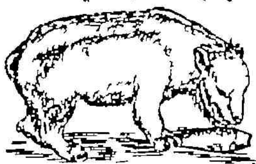
भौगोलिक पर्यावरण की व्याख्या करते हुए भौगोलिकवादियों का तथा समाजशास्त्रियों का परस्पर दृष्टिकोण भिन्न पाया गया है। भौगोलिकवादियों ने भौगोलिक पर्यावरण के प्रभाव को अधिक महत्व दिया है इधर समाज शास्त्रियों ने सामाजिक पर्यावरण को अधिक महत्व दिया है। इस बारे में कटु आलोचनाएं भी की गई हैं। समाजशास्त्रियों में से कुछ का उद्देश्य निरी आलोचना करके तथ्यपूर्ण बातों की उपेक्षा करना रहा है। वे अपनी बात पर अडिग हैं।

प्राचीन काल से मानव जीवन भौगोलिक पर्यावरण से प्रभावित होता आया है। भौगोलिक पर्यावरण के अनुकूल ही मानव ने अपने को ढाल लिया था उसके रीति-रिवाज कार्य, आदतें, खान-पान रहन-सहन भौगोलिक पर्यावरण के अनुकूल होता था। एस्किमों लोगों को बर्फ का आवास बना कर रहना ही पड़ता था भोजन के लिए शिकार पर आधारित होना ही पड़ता था बर्फों में समूर बार तथा खालों के वस्त्र धारण करना आवश्यक हो ही जाता था। ये सारे कार्य भौगोलिक वातावरण पर आधारित थे। कांगो के बेसिन में कठोर तथा उष्ण रेगिस्तानों में भी मानव को अपना जीवन भौगोलिक परिस्थितियों के अनुकूल बनाना पड़ा है। शनैः-शनैः मानव का सांस्कृतिक पर्यावरण भौगोलिक पर्यावरण की अपेक्षा कुछ अधिक प्रबल होता गया यहाँ पर सभ्यता और संस्कृति ने अधिक विकास किया है। ऐसे पर्यावरण में मनुष्य को स्वयं के ऊपर गर्व हो गया प्रकृति को चुनौतियाँ दी गई। अपनी विपरीत परिस्थितियों को पाकर मानव प्रकृति के अस्तित्व को भूल सा गया क्योंकि अब वह प्रकृति के हाथों में खिलौना-मात्र नहीं था वरन् प्रकृति उसके हाथों में खिलौना बन कर रह गई। शायद मानव इस ओर से बेखबर रहा कि उसने प्रकृति पर विजय प्राप्त नहीं की है बल्कि उसे विस्तृत करके अधिक महत्व प्रदान किया है।

भौगोलिक पर्यावरण मानव जीवन पर कहाँ तक प्रभाव डालता है इस तथ्य का अध्ययन विभिन्न जातियों के जीवन उनके रहन-सहन, रीति-रिवाज खान पान आदि के बारे में जानकारी करने के पश्चात पता लग जायगा। विश्व में जहाँ तक एक ओर कुछ जातियों ने अपने जीवन में अत्यधिक परि

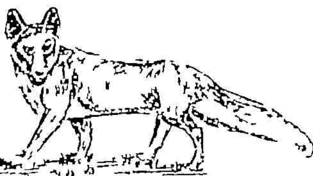
ग्रहण कर लिया है वहाँ दूसरी ओर अनेक ऐसी जातियाँ हैं जो अभी तक प्राकृतिक जीवन व्यतीत कर रही हैं। उनकी सभ्यता और संस्कृति पर प्राकृतिक जीवन का स्पष्ट प्रभाव लक्षित होता है। सांस्कृतिक पर्यावरण से अभी तक उनका जीवन अछूता है। इन जातियों के बारे में अध्ययन तथा अनुशीलन हमें भौगोलिक पर्यावरण के प्रभाव को समझने में सहायक सिद्ध होगा।

कनाडा के उत्तरी हिस्से को टुण्ड्रा कहते हैं। टुण्ड्रा के रहने वालों को एस्किमों कहते हैं। जो यहाँ की जाति है। बरस भर के ज्यादातर महीनों में यहाँ सरदी पड़ती रहती है। करीब १० महीने तक यहाँ पर सर्दी पड़ती है। सर्दी भी कम नहीं पड़ती है बहुत ज्यादा पड़ती है। ठण्ड के दिनों में तो यहाँ कई फीट तक बरफ जम जाती है। सब जगह सफेद बरफ ही बरफ दिखाई पड़ती है। ठण्ड के अलावा दूसरे मौसमों मे भी यहाँ बहुत बरफ पड़ती है।



सफेद रीछ

एस्कमों लोगों का देश बहुत ही ठण्डा है बरफ की वजह से तो और भी ज्यादा ठण्ड रहती है। यहाँ पर इतनी ज्यादा बर्फ और शीत पड़ती है कि उनए वन-



लोमड़ी

वायु के मानव उसे सहन नहीं कर सकते। सिर्फ दो महीने के लिए यहाँ गरमी पड़ती है पर वह गरमी इतनी नहीं पड़ती जैसे कि हमारे देश में पड़ती है। गरमी का मौसम बहुत छोटा होता है। वैसे यहाँ दिन बहुत लम्बा करीब २१ घंटे का होता है, परन्तु सूर्य आसमान में ज्यादा ऊपर नहीं उठता है जिससे उसकी रोशनी तिरछी पड़ती है। रोशनी तिरछी पड़ने की वजह से उसमें गरमी बहुत ही कम होती है।



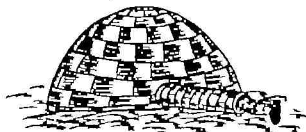
वालरस

इस गरमी से ऊपर की बरफ थोड़ी सी पिघल जाती है। बरफ बहुत ज्यादा पड़ने की तथा ठण्ड ज्यादा होने की वजह से यहाँ पर कुछ भी पैदा नहीं होता है और दूसरे देशों की तरह न तो यहाँ अच्छे-अच्छे फल होते हैं, न ही अन्न जैसे गेहूँ जौ चावल आदि चीज ही होती हैं। गरमी के दिनों में यहाँ थोड़ा सी काई होती है और थोड़ी सी लिचन होती है। लिचन एक पौधे का नाम है। लिचन और काई आदमी के काम की नहीं हैं वे तो बारह सिंघे के खाने के काम आती हैं जो यहाँ का मुख्य जानवर होता है।

यहाँ पर थोड़े से ही जानवर मिलते हैं। इनमें बारहसिंघा सबसे ज्यादा बहादुर है जो यहाँ पर महत्वपूर्ण कार्य करता है। बारहसिंघा कई काम करता है। यह एस्किमो को खाने-पीने कपड़े तथा घर बनाने के लिए सब चीजें देता है। बारहसिंघे के अलावा यहाँ पर सफेद रीछ कस्तूरी बैल और सफेद रंग के कुत्ते भी पाये जाते हैं। इन कुत्तों को वे लोग पालते हैं और अपनी गाड़ियों में जोतते हैं। नीचे की तरफ यहाँ पर कटीली झाड़ियाँ और इधर-उधर पड़े हुए तिनके वाले हिस्से पाये जाते हैं। इन हिस्सों में ये लोग जानवर चराते हैं। गर्मी के दिनों म इस जमीन पर तरह-तरह के रंग बिरंगे फूल उग आते हैं। यहाँ की जलवायु ही ऐसी है कि यहाँ पर काम के जानवर मिलते ही नहीं हैं। इसलिए इन लोगों का जीवन हमारे किसान की तरह सुखपूर्ण नहीं होता है, ये लोग एक जगह टिकते ही नहीं हैं। एक जगह से दूसरी जगह घूमते ही रहते हैं। भौगोलिक परिस्थितियों के आधीन होकर इन्हें अपना इस प्रकार जीवन व्यतीत करना पड़ता है। पर्यावरण के अनुकूल ये लोग अपने को ढाल लेते हैं और अपना जीवन बिताते हैं।

टुण्ड्रा में करीब पूरे साल बरफ पड़ती रहती है जिससे बरफ चारों ओर आच्छादित हो जाती है। इसी वजह से एस्किमो लोग अपने रहने के लिए बर्फ की गोल झोपड़ियाँ बनाते हैं। इनको इगलू कहते हैं। इनका झोपड़ी में एक छोटा सा सकरा सा रास्ता होता है। इससे ठण्ड से बचते हैं। यह रास्ता

एक सुरंग की तरह होता है, जिसमें ये लोग झुककर या लेटकर भीतर जाते हैं और आते हैं। इस झोंपड़ी की भीतरी दीवारों को ये लोग बारहसिंघे, सील मछली और रीछ के चमड़े से ढँक देते हैं, जिससे पूरी झोंपड़ी गरम बनी रहती है और ये लोग ठंड से बच जाते हैं। चमड़े को दीवारों में ठोंकने के लिए ये लोग जानवर मार कर उसकी हड्डियों का काँटा बनाते हैं। फिर चमड़े को काँटों के सहारे दीवारों में लगा देते हैं। जब प्राकृतिक गरमी से या चूल्हे की गरमी से बरफ पिघलती है तब उसे दीवारों के नीचे बनी नालियों से बाहर



झोंपड़ी

निकाल देते हैं। परन्तु उनकी झोंपड़ियों के बाहर हमेशा बरफ जमी रहती है, क्योंकि बाहर बहुत ज्यादा ठन्ड पड़ती है जिसकी वजह से झोंपड़ी के चारों



सफर कुत्ता

तरफ बरफ ही बरफ जम जाती है। ये लोग बरफ की झोंपड़ी इसलिए नहीं बनाते कि बरफ की बनी झोंपड़ी उन्हें बहुत अच्छी लगती है, बल्कि इसलिए



स्लेज गाड़ी

बनाते हैं कि बरफ के अलावा वहाँ कुछ और चीज है ही नहीं जिससे उसकी झोपड़ी बनाई जा सके। न तो वहाँ पर मिट्टी ही है तो है न पत्थर। सीमेंट और चूने का तो वहाँ नाम भी नहीं है।

पैदावार तथा वनस्पति का यहाँ पर पूर्णतया अभाव है। गेहूँ, जौ, चने का तो नाम ही नहीं है। ऐसी हालत में ये लोग शिकार करते हैं और मछली मारते हैं। शिकार करना मछली मारना ही इनका मुख्य काम है। शिकार करने के लिये ये लोग बारहसिंघों के सींगों के भाले बनाते हैं और उसकी हड्डियों के भी भाले बनाते हैं जिनसे सील वालरस और ह्वेल नाम की मछलियों का शिकार करते हैं। मछली के शिकार में ये लोग हारपून नाम का हथियार भी काम में लाते हैं जिसको ये लोग हब्शियों (?) से खरीद कर ले जाते हैं। इस हथियार के बदले में खालें बेच जाते हैं। गरमी के दिनों में ये लोग एक नाव पर बैठ कर शिकार करते हैं उस नाव को कायक कहते हैं। यह नाव है आसानी से बरफ पर फिसल जाती है। सील, ह्वेल वालरस मछलियों और सफेद भालू और लोमड़ी की चर्बी से ये लोग तेल निकाल कर उसे झोंपड़ी गरम करने और खाना बनाने के काम में लाते हैं। इन जानवरों और मछलियों की नसों से ये लोग बत्ती बना लेते हैं। दीपक तो ये लोग जानवर और मछलियों की चर्बी से बना लेते हैं।

सील मछलियों की हड्डियों से ये लोग सुइयाँ बना लेते हैं और इनकी नसों या चमड़े के धागे से बारहसिंघे सील ह्वेल और सफेद रीछ के चमड़े सीकर अपने लिए जूते और कपड़े बना लेते हैं। इस प्रकार ये लोग अपने जूते और कपड़ों का इन्तजाम कर लेते हैं। इस तरह ये लोग अपनी ठण्ड से रक्षा करने में समर्थ होते हैं। बारहसिंघे से इन लोगों को बहुत सहायता प्राप्त होती है। मर जाने पर उनमें खाल और हड्डी सबकुछ मिलता है। बारहसिंघे ही इनके सवारी के भी काम में आते हैं। ये लोग स्लेज नाम की गाड़ी में जाते हैं, जिसको बारहसिंघे या कुत्ते खींचते हैं। यह गाड़ी बगैर पहियों की होती है और बर्फ पर फिसलती है। बारहसिंघे का दूध भी ये लोग पीते हैं। बारहसिंघे के चिरे हुए खुर होने की वजह से वह बरफ पर फिसलने नहीं पाता। यह जानवर बर्फ को खोदकर अपना खाना खुद ही ढूंढ लेता है।

जब गर्मी का समय होता है तब बरफ पिघलनी शुरू हो जाती है। तब इनका बर्फ का बना घर भी पिघलना शुरू कर देता है। तब ये उन घरों को छोड़ देते हैं और नीचे की तरफ आ जाते हैं। यहाँ आकर ये लोग अपना घर बरफ का नहीं बनाते, यहाँ ये तम्बू में रहते हैं। इनका तम्बू सील और बारहसिंघों की खाल का बना होता है। इस हिस्से में बारहसिंघों को खाने को खूब

मिल जाता है। यहाँ शिकार, लिचन और काई होती है जिसे बारहसिंघा चाव से खाता है। यहाँ बारहसिंघों का खाना है।

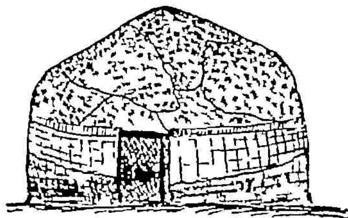
नीचे आते समय ये लोग अपने साथ स्लेज गाड़ियों में खाल, चमड़ा और तेल लाते हैं और यहाँ आकर उन्हें व्यापारियों के हाथों में बेच देते हैं। इन चीजों के बदले में ये व्यापारियों से शक्कर, चाय और शराब, खरीद लेते हैं और अपने काम में लाते हैं। हारपून नाम का मछली मारने का हथियार भी खरीद लेते हैं। गर्मी में तो ये लोग ताजा माँस खाते हैं। इन दिनों इनको ताजा माँस मिल जाता है। सर्दी में ये लोग माँस को सुखा लेते हैं। उस सूखे हुए माँस को फिर बड़े चाव से खाते हैं। इन लोगों का खाना माँस मछली और दूध है। दूध इन्हें बारहसिंघों का मिल ही जाता है।

एस्किमों लोगों का डील-डौल छोटा होता है, परन्तु वह बड़ा ताकतवर और स्वस्थ होता है। ये लोग एक स्थान पर स्थिर नहीं रहते हैं। खाने लिए और बारहसिंघों के खाने के लिए इन्हें एक जगह से दूसरी जगह घूमना पड़ता है। आज उन्हें एक जगह खाना मिल जाता है तो वहाँ रह जाते हैं दूसरे दिन खाने की तलाश में फिर चल देते हैं। यहाँ तक कि ठंड के दिनों में भी इन्हें शिकार के लिए जाना पड़ता है। जाड़े के दिनों में मछलियों और जानवरों के शिकार के लिए कुत्तों की गाड़ी में चढ़कर नुकीली पत्ती वाले जंगलों के पास जाते हैं। ये लोग वहाँ शिकार भी करते रहते हैं और जानवरों को चराते रहते हैं। बारहसिंघों को भी चरने के लिए छोड़ देते हैं। जानवरों और मछलियों को मारते-मारते उनका स्वभाव भी कठोर और हत्यारों का सा हो जाता है। ये लोग बड़े दु:ख सहने वाले होते हैं चाहे कितनी ही मुसीबती परेशानी और दुःख आयें तो भी ये घबराते नहीं हैं, उनका सामना करते हैं। दुःख सहन करने की उनकी आदत बन जाती है। इस प्रकार की कठिन हालतों के कारण ये लोग कुछ भी उन्नति नहीं कर पाते हैं। कुछ उनका जीवन ही ऐसा बन गया है कि वे उसके आदी बन गये हैं। उन्नति तो तब ही हो जब उनके रहने-सहने की खाने-पीने की हालत ठीक हो और ये हालत तब ही ठीक हो सकती है जबकि जलवायु बदलकर ठीक हो। मजबूरन ही इनको इस तरह का जीवन बिताना पड़ता है। अपना जीवन उसी में ढाल डालते हैं।

आज भी टुण्ड्रा-निवासी एस्किमो लोग इसी तरह का जीवन व्यतीत कर रहे हैं। उनमें कोई बदलाव नहीं आया है। न तो उनके पास पहिनने के लिए सूती, ऊनी, रेशमी कपड़े हैं, न ही खाने के लिये अच्छे स्वाद के भोजन हैं। वे अब भी माँस, मछली खाते हैं और बारहसिंघों का दूध पीते हैं। उनके यहाँ न तो आज की सी मोटरें हैं, न रेलें हैं, न ही हवाई जहाज। उनके लिए तो

ये चीजें नामुमकिन सी हैं। इस तरह इन लोगों का जीवन आज की उन्नति करती हुई जातियों के जीवन से बिल्कुल अलग है। आधुनिक स्तर की सभ्यता और संस्कृति उनके लिए स्वप्न सदृश्य है।

किरगीज—रूसी क्रान्ति से पहले के किरगीजों का यह एक उल्लेख है। स्टेपी देश के रहने वालों को किरगीज कहते हैं। स्टेपी देश की विशेषता है कि यहां बरसात कम होती है और घास अधिक होती है। ऐसे प्रदेश ही स्टेपी के अन्तर्गत आते हैं। एशिया के बहुत ठन्डे हिस्सों में जहां कि घास के मैदान हैं वहां ज्यादातर ये लोग रहते हैं। कैस्पियन सागर और अल्टाई पहाड़ के बीचे ये लोग अधिकतर घूमते हुए मिलते हैं। इस देश में गरमी के दिनों बड़ी कड़ी गरमी पड़ती है। ठण्ड के दिनों में बहुत ठण्ड पड़ती है। केवल जब बसन्त का मौसम आता है तब यहां थोड़ी सी बरसात हो जाती है इसीसे यहां पर बहुत घास पैदा हो जाती है। घास के यहां पर बड़े-बड़े मैदान हैं। मैदान ही उनके बहुत बड़े सहारे हैं। इन्हीं मैदानों में ये लोग अपनी गायों बैलों भेड़ों घोड़ों ऊंटों बकरियों और सुअरों को पालते हैं। यहां की करीब-करीब गरम जलवायु है जिसमें पेड़ उगते ही नहीं हैं। अगर कोई पेड़ उग भी जाता है तो छोटेपन में ही यहां के जानवर उसे खा जाते हैं। यहां के लोगों का मुख्य काम जानवर पालना ही है। पालतू जानवरों में गाय,



बैल, भैंस घोड़ा ऊंट, बकरी भेड़, सूअर हैं। इन जानवरों के अलावा यहां पर हिरन खरगोश कुत्ते भी इधर उधर घूमा करते हैं। यहां पर पेड़ तो होते

ही नहीं है इसलिए यहाँ पर ऐसी चिड़िया और पक्षी पाये जाते हैं जो उड़ नहीं सकते हैं, क्योंकि इनके उड़ने के लिए पर तो होते ही नहीं। ये पक्षी मुरगाबी नाम के पक्षी की जाति के होते हैं। इनके अलावा यहाँ पर कोई उड़ने वाला पक्षी पाया ही नहीं जाता। किरगीज जाति के लोग अपने साथ पालतू जानवर तो रखते ही हैं ये लोग कभी-कभी मुर्गियाँ भी पाल लेते हैं।

किरगीज लोग एक जगह रह नहीं पाते क्योंकि वहाँ जलवायु और मौसम ऐसा है कि मजबूरन उन्हें एक जगह से दूसरी जगह घूमना पड़ता है। सर्दी के दिनों में वहाँ सर्दी खूब पड़ती है। सर्दी के दिनों में वहाँ की सारी जमीन बर्फ से ढक जाती है। इसलिए इस समय इन लोगों को अपने जानवरों के साथ अच्छी जगह की खोज में इधर-उधर घूमना पड़ता है। गर्मी के दिनों में यहाँ खूब गर्मी पड़ती है जिसकी वजह से घास सूखने लगती है। तब हरी घास की खोज में इन्हें एक जगह से दूसरी जगह जाना पड़ता है। इनका चलता-फिरता हुआ घर होता है जो 'कबितका' कहलाता है और जो कि ऊन के नमदे का एक ढाँचा सा होता है। इन तम्बुओं की पूर्ति भी करते हैं। ये तम्बू आसानी से मोड़कर ऊँटों पर लादे जा सकते हैं। तम्बूओं में ही इनके नमदे और नमदे के बिस्तर होते हैं। अपने जानवरों से ही खाना कपड़ा डेरा सवारी, कालीन गलीचे ऊन नमदे के थैले और बोतल मक्खन वगैरह इन्हें मिल जाता है। इन्हीं चीजों से गुजरने वाले काफिलों से आटा चाय तम्बाकू बदल लेते हैं। ये लोग गाय और भैंस का दूध पीते हैं। दूध जमा कर खाने के लिए पनीर बनाते हैं। दूध मथकर मक्खन भी निकालते हैं। खट्टे दूध को सड़ाकर उसकी एक शराब भी बनाते हैं जिसे कुमिस कहते हैं। ये लोग जानवरों का माँस भी खाते हैं। चर्बी के लिए सूअर भी पाल लेते हैं। भेड़ों की ऊन को जमाकर तम्बूओं के लिए नमदे और पहिनने के लिए कपड़े भी बना लेते हैं। जानवरों के चमड़े से जूते टोपियाँ, ढाल, पेटियाँ थालियाँ टोकरियाँ और पानी भरने की मशकें भी बना लेते हैं। जानवरों की हड्डियों से खूँटे, काँटे और गुड़ियाँ बनाते हैं। नसों और चमड़ों के ये लोग धागे बना लेते हैं। जानवरों के सींगों से ढटम और तुरही नाम के बाजे बनाते हैं। घोड़ों से ये लोग सवारी का काम लेते हैं। बैलों और ऊँटों से माल ढोने का काम ले लेते हैं। माल ढोने में इनका खाने-पीने, पहिनने-ओढ़ने और तम्बुओं का सामान होता है। कुछ पक्षियों से ये लोग अण्डे भी लेते हैं। इनकी पोशाक में भेड़ की खाल का भारी गर्म कोट ऊन का पायजामा नमदे की टोपी चमड़े के लम्बे बूट और कमर की पेटी होती है। खाने में राई की काली रोटी होती है, अण्डा,

दूध, चाय, मांस, आलू भी खाते हैं। जब एक जगह की घास खत्म हो जाती है तो दूसरी जगह पहिले ऊँट भेजे जाते हैं जो बड़ी-बड़ी घास खाते हैं। फिर घोड़े गाय, बैल चरते हैं। इसके बाद भेड़ बकरियों का जलूस सा चलता है, जो बची हुई छोटी-छोटी घास को चर लेती है। जाड़े के दिनों में जब इन घास के मैदानों में बर्फ जम जाती है तब यह लोग अपना डेरा तम्बू उठा कर झोंपड़ी बना कर रहते हैं। यह झोंपड़ी घास, ढेंठ और मिट्टी से बनाई जाती है।

किरगीज जाति के लोगों का डील-डौल छोटा होता है परंतु कसा हुआ और ताकतवर होता है। लगातार घूमते रहने की वजह से इन्हें एक फायदा होता है कि ये लोग घोड़े की सवारी में बहुत होशियार हो जाते हैं। आज के जमाने में तो ये लोग बड़े अच्छे सिपाहियों का काम दे सकते हैं। इनमें अमीर, गरीब का भी भेदभाव होता ही है। जिसके पास जितने ज्यादा जानवर होंगे वह उतना ही धनवान होगा और जिसके पास कम होंगे वह गरीब समझा जायेगा। इनका कुटुम्ब जितना ज्यादा बड़ा होगा उनके पास उतने ही ज्यादा जानवर होंगे। बड़े कुटुम्ब वाला ही इनका सरदार होता है। इन कुटुम्बों का सरदार 'पिता' कहलाता है। इस सरदार का ये लोग बड़ा आदर करते हैं। उसका कहना सभी मानते हैं। अपने कुटुम्ब को बढ़ाने के लिए ये लोग कई शादियाँ करते हैं जिससे बहुत से बच्चे पैदा हो जाते हैं। इनकी औरतें घर का समस्त कार्य करती हैं। इनका जीवन कठिनाइयों से भरा रूखा और और आनन्द से रहित होता है क्योंकि वहाँ का मौसम जलवायु, प्राकृतिक दशा भी ऐसी ही है। ये लोग बहुत ही मोटे दिमाग के होते हैं। अपने पुराने कायदों पर ही चलना पसन्द करते हैं। ये लोग अपने जीवन में किसी तरह का बदलाव तो चाहते ही नहीं हैं। ये लोग स्वभाव से बड़े आलसी होते हैं। घमंड भी इनमें कूट-कूट भरा हुआ है। अगर इन पर कोई कठिनाई आ जाती है तो उससे बचने का तरीका तो सोचते नहीं हैं, वरन भाग्य का भरोसा करते हैं। कभी-कभी ये लोग आपस में मिलकर दूसरे देश जो इनके आसपास होते हैं उन पर हमला कर देते हैं। इस तरह इनके जीवन में कोई बंधा हुआ ठीक काम नहीं होता है। किरगीज के घूमते रहने और जंगल जिन्दगी बिताने की वजह से इनके देश को ''जंगल और घूमने वालों का देश' कहा जाता है। ऐसा होता है किरगीज जाति का जीवन।

किरगीज जाति के लोगों का जीवन हमें अपने आदिम मानवों की याद दिलाता है जब वे भी एक जगह से दूसरी जगह जानवरों को साथ लिये घास के

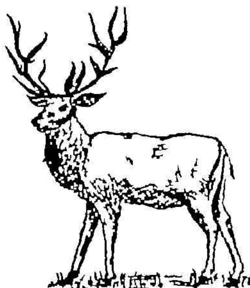
मैदानों की खोज में घूमा करते थे। किरगीज का जीवन भी उसी तरह का है। अब जब दुनिया बहुत बदल गई है, ये लोग अपने पुराने ढर्रे पर ही चल रहे हैं। इसमें उनका दोष नहीं, कुदरत से मजबूर होकर उन्हें ऐसे ही रहना पड़ता है।

[परन्तु इन देशों की हालत अब बहुत कुछ बदल गई है। ये ही मैदान अब गेहूँ की खेती के लिए अच्छे हो गये हैं। पुराने रहने वाले या तो सुधर गये हैं, नहीं तो उन्हें पहाड़ी और अनुपजाऊ स्थानों पर भगा दिया गया है। अब यहाँ खेती और जानवर पालने में बहुत ही ज्यादा उन्नति कर ली गई है। इन मैदानों में अब काफ़ी लोग रहते हैं जिनमें पहिले कोई नहीं रहता था। अब यह भाग विश्व में गेहूँ, दूध, मक्खन पनीर, मांस, ऊन चमड़ों, हड्डियों सींगों, अंडों और सुन्दर, ताकतवर जानवरों के लिये मशहूर हो गया है। ये सभी चीजें अब यहाँ पर बहुत ज्यादा होती हैं। पुराने रहने वाले भी यह देखकर अब कुछ-कुछ सम्भलते जा रहे हैं। अपनी पुरानी लकीर को छोड़ रहे हैं। परन्तु अब भी उनमें ज्यादातर पुरानी जिन्दगी ही बिता रहे हैं। इन मैदानों में होकर रेल और सड़कें तथा आने जाने के रास्ते भी बहुत बन गये हैं। दुनिया का सबसे बड़ा रेल का मार्ग ट्रांस साइबेरियन यहीं होकर गुजरता है। इस रेल के अलावा कई बड़ी रेलें भी यहीं होकर जाती हैं—जैसे कैनेडियन पैसेफिक और ट्रांस ऐडीयन।]

अब हम अन्य देशों की कुछ जातियों का उल्लेख करते हैं।

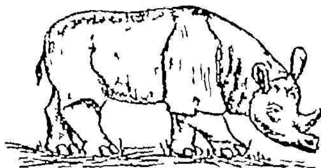
नीग्रो—नीग्रो अफ्रीका की प्रमुख जाति है। अफ्रीका महाद्वीप में सूडान एक राज्य है। यहाँ की रहने वाली जाति को हब्शी या नीग्रो कहते हैं। इन लोगों का रंग काला, बाल घुंघराले, नाक चपटी होती है। गालों की हड्डियाँ उभरी हुई होती हैं। इनके होंठ मोटे और चौड़े होते हैं। इनका जबड़ा मज़बूत और बाहर निकला हुआ होता है। इनकी खोपड़ी तंग और लम्बी होती है। कद इनका दिगना होता है। ये लोग सूडान के पुराने रहने वाले हैं और सदाबहार घूमते रहते हैं। यहाँ गरमी के दिनों में बहुत गरमी पड़ती है और गरमी का मौसम शुरू होते ही यहाँ पर बहुत बरसात होती है। ठण्ड के दिनों में यहाँ पर बहुत कम बरसात होती है। यहाँ की धरती की बनावट चौरस है कहीं-कहीं ऊँचे हिस्से आ गये हैं। यहाँ की जलवायु और धरती की बनावट के कारण बहुत लम्बी और मोटी घास होती है। यहाँ पर घास ही ज्यादा होती है। इन घास के मैदानों के बीच-बीच में कँटीले पेड़ भी उग आते हैं। घास बहुत ज्यादा होने की वजह से यहाँ खेती का काम होने नहीं पाता। इन घास के मैदानों में मांस खाने वाले जानवर शेर, बघेर, चीता इत्यादि बहुत

होते हैं। घास खाने वाले जानवरों में हिरन जैसा जिराफ, और गैंडे पाई जाती हैं।



हिरन

घास के मैदानों का होना खेती न होना आदि बातें इन्हें घूमने वाले शिकारी और जानवरों को चराने वाले लोगों के रूप में बदल देती हैं। ये लोग गाय, बैल, भैंसे, घोड़े गधे खच्चर ऊँट पालते हैं और इन जानवरों को चराने के लिए



गैंडा

ये लोग इधर से उधर घूमा करते हैं। अपने जानवरों की रक्षा के लिये इन्हें घोड़ों पर सवार होकर मांस खाने वाले जानवरों का शिकार भी करना पड़ता है। लगातार शिकार करना भी इनके स्वभाव को बड़ा कठोर बना देता है। ये

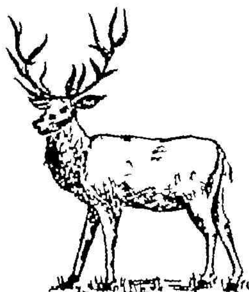
मैदानों की खोज में घूमा करते थे। खिरगीज का जीवन भी उसी तरह का है। अब जब दुनिया बहुत बदल गई है, ये लोग अपने पुराने घरों पर ही बस रहे हैं इसमें उनका दोष नहीं, कुदरत से मजबूर होकर उन्हें ऐसे ही रहना पड़ता है

[परन्तु इन देशों की हालत अब बहुत कुछ बदल गई है। ये ही मैदान अब गेहूँ की खेती के लिए अच्छे हो गये हैं। पुराने रहने वाले या तो सुधर गये हैं, नहीं तो उन्हें पहाड़ी और अनुपजाऊ स्थानों पर भगा दिया गया है। अब यहाँ खेती और जानवर पालने में बहुत ही ज्यादा उन्नति कर ली गई है। इन मैदानों में अब काफी लोग रहते हैं जिनमें पहिले कोई नहीं रहता था। अब यह भाग विश्व में गेहूँ, दूध, मक्खन, पनीर, मांस, ऊन, चमड़ों, हड्डियों सींगों, अंडों और सुन्दर, ताकतवर जानवरों के लिये मशहूर हो गया है। ये सभी चीजें अब यहाँ पर बहुत ज्यादा होती हैं। पुराने रहने वाले भी यह देखकर अब कुछ-कुछ समझते जा रहे हैं। अपनी पुरानी लकीर को छोड़ रहे हैं। परन्तु अब भी उनमें ज्यादातर पुरानी जिन्दगी ही बिता रहे हैं। इन मैदानों में होकर रेल की सड़कें तथा आने जाने के रास्ते भी बहुत बन गये हैं। दुनिया का सबसे बड़ा रेल का मार्ग ट्रांस साइबेरियन यहीं होकर गुजरता है। इस रेल के अलावा कई बड़ी रेलें भी यहीं होकर जाती हैं—जैसे कैनेडियन पैसेफिक और ट्रांस ऐंडीयन।]

अब हम अन्य देशों की कुछ जातियों का उल्लेख करते हैं।

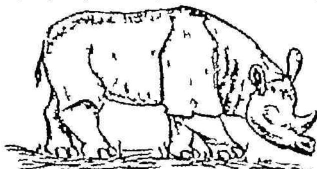
नीग्रो—नीग्रो अफ्रीका की प्रमुख जाति है। अफ्रीका महाद्वीप में सुडान एक राज्य है। यहाँ की रहने वाली जाति को हब्शी या नीग्रो कहते हैं। इन लोगों का रंग काला, बाल घुंघराले नाक चपटी होती है। माथा की हड्डियाँ उभरी हुई होती हैं। इनके ओठ मोटे और चौड़े होते हैं। इनका जबड़ा मजबूत और बाहर निकला हुआ होता है। इनकी खोपड़ी तंग और लम्बी होती है। कद इनका ठिगना होता है। ये लोग सुडान के पुराने रहने वाले हैं और लगातार घूमते रहते हैं। यहाँ गरमी के दिनों में बहुत गरमी पड़ती है और गरमी का मौसम शुरू होते ही यहाँ पर बहुत बरसात होती है। ठण्ड के दिनों में यहाँ पर बहुत कम बरसात होती है। यहाँ की धरती की बनावट चौरस है कहीं-कहीं ऊँचे हिस्से आ गये हैं। यहाँ की जलवायु और धरती की बनावट के कारण बहुत लम्बी और मोटी घास होती है। यहाँ पर घास ही ज्यादा होती है। इन घास के मैदानों के बीच-बीच में कँटीले पेड़ भी पाए जाते हैं। घास बहुत ज्यादा होने की वजह से यहाँ खेती का काम होने नहीं पाता। इन घास के मैदानों में मांस खाने वाले जानवर शेर, बघेर, चीता इत्यादि बहुत

होते हैं। घास खाने वाले जानवरों में हिरन जैसा जिराफ और भैंसें पाई जाती हैं।



हिरन

घास के मैदानों का होना वैसी न होना आदि बातें इन्हें घूमने वाले शिकारी और जानवरों को चराने वाले लोगों के रूप में बदल देती हैं। ये लोग गाय बैल, भैंसें घोड़े गदहे खच्चर, ऊँट पालते हैं और इन जानवरों को चराने के लिए



गैंडा

ये लोग इधर से उधर घूमा करते हैं। अपने जानवरों की रक्षा के लिये इन्हें घोड़ों पर सवार होकर मांस खाने वाले जानवरों का शिकार भी करना पड़ता है। लगातार शिकार करना भी इनके स्वभाव को बड़ा कठोर बना देता है। ये

लोग अपने जानवरों से ही खाने-पीने की चीजें और घर बनाने की चीजें ले लेते हैं। यहाँ पर पूरे साल गरमी रहने की वजह से इन्हें ज्यादा कपड़ों की जरूरत मालूम ही नहीं पड़ती है। इनके जानवर तो खुली हवा में रह सकते हैं। ये लोग पेड़ों की छाल के पत्तों से कपड़े बना लेते हैं और खाले की चमड़ा की चमड़े की झोंपड़ियाँ बना कर उन्हें पत्तियों से ढक देते हैं। पड़ा में से ही बस्ती लेते हैं। जानवरों की हड्डियों से खूँटे और कांटे बना लेते हैं। चमड़े की रस्सियाँ और नसों से डोरे बना लेते हैं। ये लोग जंगली जानवरों से अपने और अपने जानवरों के बचाव के लिये चारों तरफ कांटों का घेरा लगा देते हैं, जिनमें जानवर रात भर अच्छी तरह रह सकते हैं।

इनका डीलडौल छोटा परन्तु कसा हुआ मजबूत होता है। ये लोग बड़े आलसी होते हैं परन्तु सहने की ताकत भी रखते हैं। कँटीले पेड़ जैसे बबूल से ये लोग गोंद निकालते हैं। चमड़े के मशक और प्याले बना लेते हैं। सींगों के ये लोग बाजे बनाते हैं। इन चीजों के बदले में ये लोग खाने-पीने और पहिनने की चीजें ले लेते हैं। आजकल इन लोगों में से कुछ धास वाले हिस्सों को काटकर खेती कर रहे हैं, जिससे नीचे वाले हिस्से में चावल गन्ना, मक्का कपास तम्बाकू के पत्ते केले आदि पैदा होते हैं। ऊँचे हिस्से में कहवा और कोको की पदावार भी हो रही है।

अब ये लोग इस जीवन को धीरे-धीरे छोड़ रहे हैं। परन्तु अब भी ये लोग ज्यादातर इसी हालत में रहते हैं। इन लोगों की बुरी हालत है बाहर के लोग आकर इन पर अत्याचार कर रहे हैं। अपने बस से इन्हें दबा लेते हैं। कहीं-कहीं तो ये लोग गुलाम कहलाते हैं क्योंकि बाहर वाले आकर इन्हें पकड़ कर ले जाते थे और अपना गुलाम बना लेते थे। समय-समय पर ये गुलाम बेच भी दिये जाते थे। अफरीका में और अमरीका में अब भी यही हाल है।

थोड़ी सी अक्ल आ जाने पर ये लोग धीरे-धीरे उन्नति करते जा रहे हैं। ये लोग अब एक जगह घर बना कर रहते हैं। राज्यों के कामों में भी हिस्सा लेने लग गये।

बद्दू—बद्दू भी एक मशहूर जाति है जो अरब और उत्तरी अफरीका के सहारा रेगिस्तान में पाई जाती है। ये लोग गर्म रेगिस्तानों के रहने वाले हैं। उत्तरी अफरीका का सहारा रेगिस्तान दुनिया भर में प्रसिद्ध है। अरब का रेगिस्तान भी बहुत बड़ा है। बद्दू लोग इन रेगिस्तानों में घूमते रहते हैं। इन रेगिस्तानों में गरमी का मोसम बहुत बड़ा होता है और बड़ी भयंकर

गरमी पड़ती रहती है। और दैरों के लोगों का तो इस गरमी में रहना असम्भव है। परन्तु ये रेगिस्तान के रहने वाले इस गरमी के आदी होते हैं। बद्दू का मतलब ही "रेगिस्तान के रहने वाले' होता है। दिन में तो यहाँ बहुत गरमी पड़ती है जिससे यहाँ की रेत बहुत गरम हो जाती है, परन्तु रात होते ही यहाँ पर रेत बहुत ठन्डा होना शुरू कर देती है। इसी की वजह से यहाँ चट्टानें टूटती रहती हैं और महीन बालू रेत बन जाती है जिससे रेगिस्तान बढ़ता जाता है। रेगिस्तान में रेत ही रेत होती है। चारों तरफ निगाह उठाने पर रेत ही रेत नजर आती है। रेत के बड़े बड़े टील होते हैं। यहाँ पर बड़ी भयंकर आँधियाँ बहती हैं, जिनमे आँखों में, नाको में, मुह में, सब जगह रेत ही रेत छा जाती है। यहाँ के लोगों की जिन्दगी दुखों से भरी होती है। पानी तो यहाँ बिल्कुल होता ही नहीं। बरसात भी यहाँ न के बराबर होती है। पूरा साल सूखा जाता है। रेत ही रेत होने और बरसात न होने की वजह से यहाँ खेती नहीं हो सकती है न ही यहाँ पर जानवर पाले जा सकते हैं। ऊँट यहाँ का जहाज माना जाता है, जिसके पाँव धरती के अन्दर धँसते नहीं हैं। बद्दू लोग ऊँट पालते हैं जो इनको सवारी का काम देता है। ऊँट को ज्यादा पानी की भी जरूरत नहीं होती है क्योंकि उसके पेट के अन्दर एक थैली होती है उसमे कई दिनों के लिये पानी इकट्ठा रहता है। उसे कई दिनों तक तो पानी की जरूरत भी नहीं होती बगैर पानी के भी वह रह सकता है। रेगिस्तान के अन्दर इधर उधर कुछ झाड़ियाँ होती हैं। कटिदार छोटे-छोटे पेड़, मोटी घास भी यहाँ पर इधर उधर थोड़ी-थोड़ी होती है जिसे बद्दू लोगों के ऊँट चरते हैं। ऊँटों को चरने के लिए ये ही चीजें यहाँ मिलती हैं।

इन लोगों की प्राकृतिक अवस्था ऐसी है कि ये लोग एक जगह नहीं रह सकते। इनको इधर-उधर घूमना ही पड़ता है। ये लोग ऊँट के अलावा खच्चर, भेड़, बकरी भी रखते हैं जो इन कटीली झाड़ियों पर ही अपना जिन्दगी बिताते हैं। परन्तु बद्दू लोगों को अपने जानवरों के चारे के लिये टण्ड के दिनों में रेगिस्तान के एक हिस्से से लेकर दूसरे हिस्से तक घूमना पड़ता है। जहाँ कुछ थोड़ी सी भी घास मिल जाती है वहाँ ये लोग थोड़े दिन के लिये अपना डेरा तम्बू लगा देते हैं। इनके तम्बू किरमिच के होते हैं। जब बहुत ज्यादा गरमी पड़ने लग जाती है तब ये लोग अपना तम्बू और थोड़ा सा सामान ऊँटों पर लादकर किसी पहाड़ की ठण्डी घाटी में चले जाते हैं।

पुराने जमाने से ही इन लोगों का धन्धा शिकार करना और लूटमार करना, तथा जानवर चराना है। मांस, दूध, दुग्धपदार्थ और खजूर इनका मुख्य

जाता है। इसके अलावा रेगिस्तान में होता ही कुछ नहीं है। कुछ समय पहिले यहाँ के लोग कुछ समझदार हुए। इन्होंने सिंचाई करके मक्का, चावल, ज्वार, बाजरा कपास, तम्बाकू छुआरा आलू, टमाटर, प्याज पैदा करना शुरू कर दिया। इसके अलावा इन लोगों ने घर बनाने की कला भी सीख ली है। ये लोग मिट्टी की दीवारें खड़ी कर लेते हैं। उनके ऊपर ताड़ और खजूर की शहतीरें रखकर, उसके ऊपर ताड़ और खजूर की ही पत्तियाँ बिछा देते हैं, जिसके ऊपर मिट्टी की चपटी छतें बना देते हैं। इन लोगों की देखा-देखी दूसरे लोग भी बसे ये लोग भी इन बसे हुए बद्दूओं के खेतों से कुछ अनाज छीन लेते हैं और चले जाते हैं। यह लोग रेगिस्तानों से खजूर, रेगिस्तान की नमकीन झीलों से नमक कटीले पेड़ों से गोंद और लोहबान इकट्ठा करके तथा ऊँट, भेड़, बकरियों के ऊन से कम्बल, कालीन, नमदे चमड़े से मशक, डोल प्यालियाँ बनाकर और खजूर के पत्तों से चटाइयाँ और टोकरियाँ तारों से पिटारा प्याले सन्दूक, कुर्सी बेंत और मिट्टी के बर्तन बनाकर ऊँटों पर लाद लेते हैं और एक रेगिस्तान से दूसरे रेगिस्तान तक और एक समुद्र के किनारे से दूसरे समुद्र के किनारे तक इस सामान को बेचते व्यापार करते जाते हैं। इससे इनकी जिन्दगी थोड़ी सी बदली है। अपनी इन चीजों के बदले में ये लोग अपने तम्बुओं के लिए किरमिच, रस्सियाँ और खाने-पीने का माल जमा कर लेते हैं।

बद्दू लोगों का डीलडौल मजबूत और ताकतवर होता है। धूप और गरमी की वजह से इनका रंग काला पड़ जाता है। ये लोग बड़े सहनशील होते हैं। ये लोग ज्यादातर रात के समय अपनी यात्रा तारों के सहारे करते हैं, जिससे ये लोग तारों के बारे में बहुत जानने लग गये हैं। ये लोग दिन भर खाली अपने तम्बुओं में पड़े रहते हैं, जिससे ये लोग अच्छे विचारवान और दार्शनिक हो गये हैं। गणित, रेखागणित, धर्म मजहब के बारे में अच्छे ज्ञाता भी हैं। कुछ समय-समय पर चोरी भी करते रहते हैं और डाका भी डालते रहते हैं। इसलिए ये स्वभाव से चोर और डाकू होते हैं। वैसे ये लोग खेती भी करने लग गये हैं अन्यथा पहिले जानवर ज्यादा पालते थे। ये लोग लड़ाई लड़ना भी खूब जानते हैं। दूसरे पड़ोसी देशों पर हमला भी कर देते हैं। दुनिया के दूसरे रेगिस्तानों में खनिज बहुत होते हैं जिसकी वजह से बाहर के विदेशी लोग इन रेगिस्तानों के बारे में दिलचस्पी लेने लगे हैं। इससे रेगिस्तानों की हालत बहुत कुछ सुधर गई है। रेगिस्तानों में बद्दू लोगों की हालत बहुत बदलती जा रही है।

ऐसी है बद्दुओं की जिन्दगी, जो दुनिया की और जातियों से अलग है।

रेगिस्तानी लोगों को परेशानियाँ तो बहुत आती हैं। प्रकृति के वश में पड़ कर ये लोग कुछ भी उन्नति नहीं कर पाते।

रेड इण्डियन—यह जाति अमेरिका में अमेजन नदी की घाटी में पाई जाती है। यह जाति बहुत ही जंगली है और करीब-करीब नंगी रहती है। यह जाति ज्यादातर घने जंगलों में रहती है जो कि अमेजन नदी की घाटी में बसे हुए हैं। इनका मुख्य काम मछली मारना शिकार करना और जंगलों की पदावार इकट्ठी करना है। ये लोग अमेरिका के बहुत पुराने समय से ही निवासी हैं। इनका नाम रेड इंडियन कोलम्बस नाम के एक यूरोप के रहने वाले ने रखा था। कोलम्बस सन १४९२ म भारत को खोजने निकला था, उसे भारत का पता नहीं था। वह सीधा समुद्र ही समुद्र चला आया और अमरीका पहुंच गया। अमरीका को उसने भारत समझा इसलिये यहाँ के रहने वालों को इंडियन के नाम से पुकारने लगा।

इन लोगों का रंग लाल है इसलिए बाद में लोगों ने इनका नाम लाल भारतीय रख दिया और यह रेड इंडियन कहलाने लगे।

यहाँ का जलवायु और हालत ऐसी है कि लोगों को घूमते रहना पड़ता है। इन्हें जंगलों में इधर उधर घूमकर जंगली पेड़ों और झाड़ियों से फल-फूल इकट्ठा करके अपना खाना लेना पड़ता है। ये लोग पत्तियों और जड़ों को भी इकट्ठा करते हैं। ये लोग जानवरों और चिड़ियों का शिकार करते हैं, और नदियों से मछली मारते हैं। इस हिस्से में ज्यादा गरमी पड़ने की वजह से इन्हें ज्यादा कपड़ों की जरूरत नहीं होती है, केवल अपने शरीर के हिस्सों को ढंकने के लिये पेड़ों की छालों से कपड़े बना लेते हैं। यहाँ की जमीन बहुत दलदली है इसलिए ये लोग जमीन पर घर नहीं बनाते हैं, बल्कि पेड़ों के ऊपर ही अपना घर बनाते हैं। जिस तरह जानवरों और चिड़ियों का घर होता है उसी तरह आदमियों का घर बना होता है। अपने घर बनाने की चीजें ये लोग जंगलों से ही लेते हैं। ये लोग एक पेड़ के सिरे से बहुत दूर के पेड़ तक लम्बे लट्ठे फैला देते हैं। ये लट्ठे १० से लेकर २०० फीट तक लम्बे होते हैं। उनके नीचे भी लम्बे लट्ठों के ही खम्भे गाड़ देते हैं। फिर लट्ठों को चीरकर दीवाल बना लेते हैं, फिर उन पर बाँस और पत्ते छा देते हैं। इस तरह उनका घर तैयार हो जाता है। ऐसे घर में १० आदमी तक बड़ी आसानी से रह सकते हैं। इन घरों में ऊपर चढ़ने के लिए सीढ़ियाँ बना लेते हैं और जानवरों से बचने के लिए घरों में लकड़ी के दरवाजे और खिड़की लगा देते हैं। पेड़ों की छालों से रस्सियाँ बना लेते हैं और लकड़ियों के टुकड़ों

से कांटे बना लेते हैं। लट्ठों से ही एक घर से दूसरे घर जाने के लिये पुल बना लेते हैं। इन्हीं जंगली पेड़ों की कठोर और मजबूत लकड़ियों से ये लोग हथियार बना लेते हैं। पेड़ों को काटने के लिए भाले और डंडे भी इन्हीं पेड़ों से मिल जाते हैं। यहाँ जंगली पेड़ों से ही करीब-करीब सभी चीजें बनाई जाती हैं। मोटे-मोटे तनों को ये लोग बिल्कुल खोखला कर लेते हैं, उन पर जानवरों की खाल मॅढ़कर ढोल और डफ बनाते हैं। इसी तरह बड़े-बड़े और मोटे-मोटे तनों को बीच में से खलाकर गड्ढे कर लेते हैं जो नदियों में चलने के लिए छोटी-छोटी नावें बन जाती हैं। म्याऊ तथा दूसरे पौधों की खोखली नलियों से ये लोग बन्दूक बना लेते हैं जिनसे तीर मारे जा सकते हैं। यहाँ पर ताड़ नाम का एक पेड़ होता है। उसकी लकड़ी के प्यासे थालियां कटोरे और गिलास बनाते हैं। आजकल के व्यापारी लोगों ने यहाँ आकर इन लोगों को कुछ नई बातें सिखा दी हैं। ये लोग रबर, सिन्कोना मैनीग्राफ ताड़ का तेल, कटापार्चा, गोंद और हाथी के दांत इकट्ठा करना सीख गये हैं। इनके बदले में ये लोग खाने-पीने की चीजें और कपड़े ले लेते हैं।

यहाँ पर बहुत से बाहर के लोग आकर रहने लग गये हैं। जहाँ तक इन लोगों से हो सका है वहाँ तक इन्होंने जंगलों को साफ करके खेती करना शुरू कर दिया है। खेती में ये लोग चावल यथा नारियल केला साबूदाना और तरह-तरह के मसाले जैसे लौंग मिर्च, दालचीनी जाविभी जायफल, तेजपात पैदा करते हैं। इन्हीं लोगों की देखा-देखी रेड इंडियन भी कहीं-कहीं जंगलों को जला कर थोड़ा बहुत खाने के लिए पैदा करने लगे हैं। इन लोगों का हाल यह है कि जब दो तीन साल तक लगातार खेती करने के बाद वहाँ की जमीन पैदा करने के लिए कमजोर पड़ जाती है तब दूसरी जगह जंगल साफ करके या पेड़ों को जला कर खेती करने लग पड़ते हैं।

परन्तु अब रेड इण्डियन लोग बहुत समझदार होते जा रहे हैं। धीरे-धीरे इनमें बुद्धि आती जा रही है और अपनी पहली हालत को छोड़ते जा रहे हैं। अब इन्होंने बहुत उन्नति कर ली है।

पिग्मी—अफरीका में कांगो नाम की बहुत बड़ी नदी है जिसकी घाटी में बहुत जंगली लोग रहते हैं। इन लोगों को पिग्मी कहते हैं। ये लोग बौने भी कहलाते हैं क्योंकि इनका कद बहुत ही छोटा होता है। देखने में ही ये लोग बौने लगते हैं। यह भी दुनिया की एक अजीब जाति है जिसके रंग-ढंग और दूसरी जंगली जातियों से भी अलग हैं। यहाँ पर उष्ण जलवायु पायी जाती है जो आदमियों को आगे उन्नति नहीं करने देती। उष्ण जलवायु मन के लिए

और शरीर के लिए बहुत ही नुकसान पहुँचाती है। कई हिस्सों में तो तरह-तरह की बीमारियाँ फैला देती है। कांगो नदी की घाटी में ही टिसाटिसी नाम की मक्खी होती है जो नींद की बीमारी पैदा कर देती है। इसके अलावा मच्छरों की वजह से यहाँ के रहने वालों को मलेरिया और पीला बुखार हो जाता है। इस तरह आदमी तन्दुरुस्त न रहकर बीमार ही पड़ा रहता है। यहाँ के आदमी जंगली हैं इसलिये इनकी जरूरतें भी कम हैं, जो यहीं पर पूरी हो जाती हैं। ये लोग बहुत पिछड़े हुए हैं। ये अधिकतर नंगे ही रहते हैं। कभी-कभी छाल के कपड़े पहिन लेते हैं। इनका काम भी मछली पकड़ना और शिकार खेलना है।

ये लोग बहुत घने जंगलों में रहते हैं जहाँ शिकार खेलने के लिए जानवर खूब मिल जाते हैं। नदियों से बहुत मछलियाँ मिल जाती हैं। इन जंगलों में ज्यादातर मगर, दरियाई घोड़े जहरीली मछलियाँ मेढ़क केंकड़े घड़ियाल, पानी के साँप नदियों में मिलते हैं। इसके अलावा शिकार के लिए शेर, चीते, हाथी गैंडा, जंगली सुअर, जिराफ आदि मिल जाते हैं। पेड़ों के ऊपर भी कुछ जानवर मिलते हैं जैसे पूँछ के सहारे लटकने वाला बन्दर कई तरह की रंग-बिरंगी चिड़ियाएं, चिमगादड़, कीड़े मकोड़े छिपकली, दिमगिट। इस तरह पिग्मियों को बहुत से जानवर शिकार करने के लिए मिल जाते हैं। पिग्मी यहाँ के बहुत पुराने लोग हैं। ये लोग जंगल के अन्दर इधर-उधर छिपे हुये रहते हैं। यहाँ की आबादी भी बहुत कम है।

पिग्मी लोग बौने तो होते ही हैं, इनका डील-डौल भी बहुत छोटा होता है। इनका रंग काला होता है। इन्हें मजबूर होकर प्रकृति के समीप रहना पड़ता है। ये लोग अपने मन से जंगली नहीं बना रहना चाहते, परन्तु पर्यावरण के अनुकूल इन्हें रहना पड़ता है। भयंकर गरमी और लगातार वर्षा होने और घने जंगलों के होने के कारण से ये लोग पिछड़े रह गये हैं। यहाँ पर इतने घने जंगल हैं कि सूरज की रोशनी पेड़ों से छनकर धरती पर आती ही नहीं है। पेड़ों की टहनियाँ एक दूसरे से लिपटी हुई रहती हैं।

पुराने समय में इन लोगों का दूसरे देशों के लोगों के साथ मिलना जुलना तो बहुत मुश्किल ही था, जिससे ये लोग पिछड़े ही रह गये। ये लोग अब भी घने जंगलों से चारों तरफ घिरे हुए हैं जिससे बिल्कुल अलग से हो जाते हैं। इससे ये लोग सभ्यता में तो बहुत पिछड़े ही रह गये हैं।

ये लोग भूत-प्रेत और पिशाचों पर विश्वास करते हैं और उनकी देवताओं की तरह पूजा करते हैं। यदि इन पर कोई संकट आ पड़ता है तो उसका कारण ये लोग भूत-प्रेत को समझते हैं। फिर जादू-टोने शुरू हो जाते

से काँटे बना लेते हैं। लट्ठों से ही एक घर से दूसरे घर जाने के लिये पुल बना लेते हैं। इन्हीं जंगली पेड़ों की कठोर और मजबूत लकड़ियों से वे लोग हथियार बना लेते हैं। पेड़ों को काटने के लिए भाले और बर्छे भी इन्हीं पेड़ों से मिल जाते हैं। यहाँ जंगली पेड़ों से ही करीब-करीब सभी चीजें बनाई जाती हैं। मोटे-मोटे तनों का ये लोग बिल्कुल खोखला कर लेते हैं, उन पर जानवरों की खाल मँढ़कर ढोल और डफ बनाते हैं। इसी तरह बड़े-बड़े और मोटे-मोटे तनों को बीच में से जलाकर पट्टे कर लेते हैं जो नदियों में चलने के लिए छोटी-छोटी नावें बन जाती हैं। झाड़ तथा दूसरे पौधों की खोखली नलियों से ये लोग बन्दूक बना लेते हैं जिनसे तीर मारे जा सकते हैं। यहाँ पर ताड़ नाम का एक पेड़ होता है। उसकी लकड़ी के प्याले थालियाँ कठौते और गिलास बनाते हैं। आजकल के व्यापारी लोगों ने यहाँ आकर इन लोगों को कुछ नई बातें सिखा दी हैं। ये लोग रबर, सिन्कोना, मेनीआक ताड़ का तल मद्यपात्रों पौध और हाथी के दाँत इकट्ठा करना सीख गये हैं। इनके बदले में ये लोग खाने-पीने की चीजें और कपड़े ले लेते हैं।

यहाँ पर बहुत से बाहर के लोग आकर रहने लग गये हैं। जहाँ तक इन लोगों से हो सका है वहाँ तक इन्होंने जंगलों को साफ करके खेती करना शुरू कर दिया है। खेती में ये लोग चावल मक्का नारियल केला साबूदाना और तरह-तरह के मसाले जैसे लौंग मिर्च दालचीनी जावित्री जायफल, तेजपात पैदा करते हैं। इन्हीं लोगों की देखा-देखी रेड इंडियन भी कहीं-कहीं जंगलों को जला कर थोड़ा बहुत खाने के लिए पैदा करने लगे हैं। इन लोगों का हाल यह है कि जब दो तीन साल तक लगातार खेती करने के बाद वहाँ की जमीन पैदा करने के लिए कमजोर पड़ जाती है तब दूसरी जगह जंगल साफ करके या पेड़ों को जला कर खेती करने लग पड़ते हैं।

परन्तु अब रेड इण्डियन लोग बहुत समझदार होते जा रहे हैं। धीरे-धीरे इनमें बुद्धि आती जा रही है और अपनी पहली हालत को छोड़ते जा रहे हैं। अब इन्होंने बहुत उन्नति कर ली है।

पिग्मी—अफरीका में कांगो नाम की बहुत बड़ी नदी है जिसकी घाटी में बहुत जंगली लोग रहते हैं। इन लोगों को पिग्मी कहते हैं। ये लोग बौने भी कहलाते हैं क्योंकि इनका कद बहुत ही छोटा होता है। देखने में ही ये लोग बौने लगते हैं। यह भी दुनिया की एक अजीब जाति है, जिसके रंग-ढंग और दूसरी जंगली जातियों से भी अलग हैं। यहाँ पर उष्ण जलवायु पायी जाती है जो आदमियों को आगे उन्नति नहीं करने देती। उष्ण जलवायु मन के लिए

और शरीर के लिए बहुत ही नुकसान पहुँचाती है। कई हिस्सों में तो तरह-तरह की बीमारियाँ फैला देती हैं। कांगों नदी की घाटी में ही टिसाटिसी नाम की मक्खी होती है जो नींद की बीमारी पैदा कर देती है। इसके अलावा मच्छरों की वजह से यहाँ के रहने वालों को मलेरिया और पीला बुखार हो जाता है। इस तरह आदमी तन्दुरुस्त न रहकर बीमार ही पड़ा रहता है। यहाँ के आदमी जंगली हैं इसलिये इनकी जरूरतें भी कम हैं जो यहीं पर पूरी हो जाती हैं। य लोग बहुत पिछड़े हुए हैं। ये अधिकतर नंगे ही रहते हैं। कभी-कभी घास के कपड़े पहिन लेते हैं। इनका काम भी मछली पकड़ना और शिकार खेलना है।

ये लोग बहुत घने जंगलों में रहते हैं जहाँ शिकार खेलने के लिए जानवर खूब मिल जाते हैं। नदियों से बहुत मछलियाँ मिल जाती हैं। इन जंगलों में ज्यादातर मगर दरियाई घोड़े जहरीली मछलियाँ, मेढक, केंकड़े मछियास, पानी के साँप नदियों में मिलते हैं। इनके अलावा शिकार के लिए शेर, चीते, हाथी गेंडा, जंगली सुअर, जिराफ, आदि मिल जाता है। पेड़ों के ऊपर भी कुछ जानवर मिलते हैं जैसे पूंछ के सहारे लटकने वाला बन्दर, कई तरह की रंग-बिरंगी चिड़ियाएं, चिमगादड़, कीड़े मकोड़े, छिपकली, गिरगिट। इस तरह पिग्मियों को बहुत से जानवर शिकार करने के लिए मिल जाते हैं। पिग्मी यहाँ के बहुत पुराने लोग हैं। ये लोग जंगल के अन्दर इधर-उधर फिरते हुये रहते हैं। यहाँ की आबादी भी बहुत कम है।

पिग्मी लोग बौने तो होते ही हैं, इनका डील-डौल भी बहुत छोटा होता है। इनका रंग काला होता है। इन्हें मजबूर होकर प्रकृति के समीप रहना पड़ता है। य लोग अपने मन से जंगली नहीं बना रहना चाहते, परन्तु पर्यावरण क अनुकूल इन्हें रहना पड़ता है। भयंकर गरमी और लगातार वर्षा होने और घने जंगलों के होने के कारण से ये लोग पिछड़े रह गये हैं। यहाँ पर इतने घने जंगल हैं कि सूरज की रोशनी पेड़ों से छनकर धरती पर आती ही नहीं है। पेड़ों की टहनियाँ एक दूसरे से लिपटी हुई रहती हैं।

पुराने समय में इन लोगों का दूसरे देशों के लोगों के साथ मिलना जुलना तो बहुत मुश्किल ही था जिससे ये लोग पिछड़े ही रह गये। ये लोग अब भी घने जंगलों से चारों तरफ घिरे हुए हैं जिससे बिल्कुल अलग से हो जाते हैं। इससे ये लोग सभ्यता में तो बहुत पिछले ही रह गये हैं।

ये लोग भूत-प्रेत और पिशाचों पर विश्वास करते हैं और उनकी देवताओं की तरह पूजा करते हैं। यदि इन पर कोई संकट आ पड़ता है तो उसका कारण ये लोग भूत-प्रेत को समझते हैं। फिर जादू-टोने शुरू हो जाते

हैं। लोग जादू, टोनों पर बहुत विश्वास करते हैं। जो लोग जादू और टोनों की विद्या में चतुर होते हैं उनसे ये लोग बहुत डरते हैं।

ये लोग आदमी का भी शिकार करते हैं। आदमी के सिर का शिकार ये लोग बहुत करते हैं। शिकार ये लोग ज्यादातर बुझे हुए तीरों से करते हैं। ये लोग आदमी को खा जाते हैं ज्यादातर ये लोग दूसरे देशों से आये हुए लोगों को खाते हैं। इन्हें आदमी का माँस खाना अच्छा लगता है। खेती के बारे में ये लोग कुछ जानते ही नहीं हैं न ही ये लोग पालतू जानवरों के बारे में जानते हैं। बस इन्हें तो मारने के लिये जानवर मिलना चाहिये या आदमी मिलना चाहिये। शिकार करने में ये लोग बहुत होशियार होते हैं।

समोयडीज—ये लोग भी एस्किमों लोगों की तरह अपनी जिन्दगी बिताते हैं। एस्किमों उत्तरी अमेरिका के टुण्ड्रा प्रदेश की जाति है जब कि समोयडीज एशिया के टुण्ड्रा की जाति है। समोयडीज के अलावा इस प्रदेश में ओस्टाक और याकूत नाम की जातियाँ भी पाई जाती हैं। इस प्रदेश में तीन बड़ी-बड़ी नदियाँ बहती हैं ओबी, यनीसी और लीना। नदियों के अलावा इस देश में बहुत दलदल और झीलें हैं। यह प्रदेश साल भर तक बरफ से ढका रहता है। जहाँ-तहाँ सिवार और लिचन को छोड़कर और कुछ पैदा नहीं होता है। ये जातियाँ बहुत पुरानी हैं और नदियों के किनारे घूमती रहती हैं।

इन जातियों का मुख्य काम शिकार करना ही है। ये लोग बहुत मछली मारते हैं। बारहसिंघा इनके बड़े काम का जानवर है। बर्फ में सवारी के लिये कपड़ों और भोजन के काम आता है। इसके खुर चिरे हुए होते हैं जो बर्फ पर फिसलते नहीं हैं। इन जातियों को भोजन के लिए माँस कपड़ों के लिये खाल, डोरे के लिये आँतें खूटी के लिये सींग और औजार के लिए हड्डियाँ मिलती हैं। इन जातियों के लोग एक जगह से दूसरी जगह घूमते रहते हैं। जब एक जगह चारा खत्म हो जाता है तब ये दूसरी जगह के लिए चल देते हैं।

इनके सामान में सूखी सिवार, खाल के बने बिस्तर चटाइयाँ कुछ बर्तन, हथियार और इनका डेरा मुख्य होता है। इनका डेरा सनोबर के पेड़ की छालों से या खालों से बना होता है जो कई लट्ठों में बाँध दिया जाता है। धुआँ निकालने के लिये उसमें एक छेद होता है। जाड़े के दिनों में ये लोग नीचे की ओर आ जाते हैं। सामान ढोने के लिये इनके पास स्लेज गाड़ियाँ होती हैं जो बारहसिंघा द्वारा खींची जाती हैं।

इन लोगों का मुख्य भोजन माँस, मछली और दूध है। गर्मी में ताजा माँस खाते हैं, जाड़े में सूखा। खेती तो बिल्कुल होती ही नहीं है क्योंकि हमेशा

बर्फ पड़ती रहती है। इन लोगों को मजबूरन ऐसी ही जिन्दगी बितानी पड़ती है। ये लोग मछलियों की खाल और तेल बेच देते हैं। उसके बदले में व्यापारियों से जरूरत का सामान जैसे शक्कर चाय, शराब ले लेते हैं। इन लोगों का जीवन करीब-करीब उत्तरी अमेरिका के एस्किमों लोगों से मिलता जुलता सा होता है।

लैप्स और फिन्स—यूरोप में लपलैंड और फिनलैंड नाम के दो देश हैं। लैपलैंड में एक जाति पाई जाती है जो लप्स कहलाती है। फिनलैंड में भी एक जाति पाई जाती है जो फिन्स कहलाती है। ये जातियां बहुत पुरानी हैं और पुराने जमाने में ये लोग घूमते रहते थे। कुछ कुछ इनका जीवन एस्किमों जैसा ही था। ये लोग भी शिकार करते थे और मछली मारते रहते थे। परन्तु अब इनकी जिन्दगी बहुत बदल गई है।

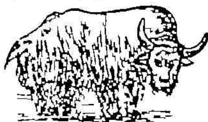
आजकल इन लोगों ने खेती करना शुरू कर दिया है। खेती से मोटे-मोटे अनाज जैसे जई और राई पैदा कर लेते हैं। खेती करने का ढंग इन लोगों को आ गया है। इन देशों में बहुत से जंगल बने हुए हैं जिनसे ये लोग लकड़ियां काट लेते हैं लकड़ियां काटने का हथियार भी बना लेते हैं। ये लोग बहुत समझदार हो गये हैं। पहिले की सी हालत इनकी नहीं रही है। यहां पर बहुत तेज नदियां बहती हैं जिनसे ये लोग पानी से बिजली निकाल लेते हैं। उस बिजली से कागज बनाने के कारखाने चला लेते हैं। कागज बनाने के तरीके भी ये लोग जानते हैं।

ये लोग जानवर भी पालना जानते हैं। आसपास यहां पर भी घास-पात होता है यहां जानवर पालकर उनको चरा लेते हैं। इनके जानवरों में गाय बैल, भेड़ बकरी सूअर होते हैं। इनका दूध पीते हैं। दूध के अलावा मांस ऊन और चमड़ा भी इन लोगों को मिलता है, जिसे काम में लाते हैं। इसके अलावा यहां की हालत टुन्ड्रा जैसी नहीं है। खेती भी यहां होती है घास भी होती है, और खनिज भी यहां मिल जाते हैं। फिनलैंड में कुछ लोहा पाया जाता है जो जहाज बनाने के काम आता है। इस तरह हम देखते हैं कि इन लोगों की हालत दूसरी जंगली जातियों से अच्छी है। इन्हीं बातों के कारण से लैप और फिन जाति के लोग एस्किमों से अधिक उन्नति कर गये हैं।

लामा—भारत के उत्तर में तिब्बत नाम का एक छोटा सा देश है जिसमें लामा नाम की जाति रहती है। ये लोग पहिले बहुत जंगली थे पर अब ये लोग असभ्य नहीं रहे हैं क्योंकि भारत और चीन जैसे देश इसके पास हैं। उनका असर इस पर भी पड़ा। यहां गर्मी का मौसम बहुत छोटा परन्तु गरम

होता है। यहाँ जाड़ा बहुत ज्यादा पड़ता है। तिब्बत का पठार करीब-करीब पूरा ही सूखा रहता है। लामा जाति के लोगों का मुख्य काम जानवर चराना है। ये लोग याक भेड़ और बकरियाँ चराते हैं। याक एक बैल होता है जो यहाँ बोझा ढोने के काम में आता है। भेड़, बकरियों और याक से ऊन और मुलायम खाल मिलते हैं। तिब्बत का ऊपरी हिस्सा तो पूरा उजाड़ है वहाँ आबादी भी बहुत कम है, परन्तु नीचे की तरफ आदमी रहते हैं। यहाँ पर जानवर पालने के अलावा खेती भी होती है। आबादी भी ऊपर की बजाय ज्यादा है। यहाँ अनाज तो पैदा होता ही है चायें भी पदा की जाती है। इसके अलावा आड़ू खुबानी आदि फल भी होते हैं।

याक यहाँ का मुख्य और काम का जानवर है जैसा कि दुनिया में अरब सिंध और रेगिस्तान में ऊँट होता है। इसके बड़े-बड़े ऊनी बाल होते हैं, जिससे वह कड़ी से कड़ी सर्दी भी सहन कर लेता है। लगभग चार मील की ऊँचाई तक चढ़ जाता है। थोड़ी सी हरियाली पर ही अपनी गुजर कर लेता है, इसका माँस और दूध खाने पीने के काम में आता है। दूध का मक्खन



याक

भी बनता है और वह घी की जगह या चाय में मिलाया जाता है। चाय यहाँ पर अच्छी नहीं होती। याक की खाल और हड्डियों से कपड़े डेरे, बर्तन भी बनते हैं। इसका पैर बहुत पक्का होता है। इसलिए बर्फ तेज नदी या ऊँची-नीची जमीन पर उसके गिरने का डर नहीं रहता। याक बोझा भी ढोता है और हल भी खींचता है। लामा लोग इसके गोबर का ईंधन बनाते हैं जो खाना पकाने के काम आता है। लामा लोग शादी बहुत कम करते हैं जिससे आबादी कम बढ़ती है। ये लोग बौद्ध धर्म को मानने वाले हैं और भगवान बुद्ध की पूजा करते हैं। भगवान बुद्ध को ये लोग देवता मानते हैं। लामा बौद्ध धर्म को मानने वाले होते हैं।

वेद्दा—भारत के दक्षिण में एक छोटा सा द्वीप है जो चारों तरफ समुद्र से घिरा हुआ है, उसे लंका कहते हैं। लंका में एक जाति पायी जाती है जो वेद्दा कहलाती है। ये लोग बहुत जंगली होते हैं और लंका के घने जंगलों में रहते हैं। इस जाति के लोग करीब-करीब सभी नंगे रहते हैं। कभी-कभी पेड़ों की

खाल पहिन लेते हैं। इन लोगों का मुख्य काम मछली मारना, शिकार करना और जंगलों से जो चीजें मिलती हैं उनका इकट्ठा करना होता है। जंगलों से ये लोग लकड़ी काटते हैं। उस लकड़ी से भाले डण्डे, कुल्हाड़ियाँ बनाते हैं। मोटे मोटे तनों को खोखला करके डोंगे भी बनाते हैं। ये लोग जंगलों से रबर, सिन्कोना, ताड़ का तेल हाथीदाँत इकट्ठा कर लेते हैं। यहाँ पर खेती भी शुरू हो गई है जिसमें चावल गन्ना नारियल केला, साबूदाना और तरह तरह के गरम मसाले लौंग मिर्च, दालचीनी जावित्री जायफल, तेजपात भी पैदा होते हैं।

बकुम्बा—इस जाति के लोग उतने जंगली नहीं हैं। इस जाति के लोग अफरीका की कांगो नदी के किनारे पर रहने वाले हैं। कांगो नदी के किनारे पर रहने वालों को ही बकुम्बा कहते हैं। यों तो ये लोग जंगली ही हैं पर उतने नहीं जितने पिग्मी हैं। ये लोग पुराने तरीकों से खेती करते हैं। खेती में चावल ज्वार और बाजरा पैदा करते हैं। खेती के अलावा यहाँ के लोग शिकार भी करते हैं। इस जाति के लोग एक जगह टिक कर खेती नहीं करते बल्कि नई जमीनों को साफ करके एक जगह से दूसरी जगह खेती किया करते हैं। इस तरह ये लोग एक जगह जम कर खेती नहीं करते। इस तरह की खेती को सरकती खेती कहते हैं।

ड्याक और पुनन—पूर्वी द्वीपसमूह में बोर्नियो नाम का द्वीप सबसे बड़ा है। बोर्नियो द्वीप के रहने वाले ही ड्याक और पुनन कहलाते हैं। ये लोग जंगली तो हैं ही परन्तु अधिक नहीं। इनकी भी जिन्दगी बकुम्बा लोगों की तरह बीतती है। यहाँ पर कम घने जंगल पाये जाते हैं। यहाँ के लोग भी पुराने तरीकों से खेती करते हैं। चावल, ज्वार, बाजरा यहाँ की पैदावार है। खेती करने का भी तरीका बकुम्बा जाति जैसा ही है। ये लोग भी एक जगह जमकर खेती नहीं करते हैं। सरकती खेती ही यहाँ की जाती है।

तुरेग—अफरीका के सहारा रेगिस्तान में एक और जाति रहती है उसे तुरेग कहते हैं। यहाँ भी बहुत गरमी पड़ती है। बड़ी तेज आँधियाँ आती रहती हैं। गर्मी के दिनों में सहारा के रेगिस्तान में रहना मुश्किल हो जाता है। यह जाति भी जंगली जाति है। बद्दुओं की तरह इनका जीवन प्राकृतिक अवस्था में व्यतीत होता है। बंजारों की तरह ये लोग ऊँटों व काफिलों को लेकर एक जगह से दूसरी जगह घूमते रहते हैं एक जगह जमकर तो यह लोग रहते ही नहीं। ऊँट इनका मुख्य जानवर है। बरसात यहाँ बिल्कुल होती ही नहीं है, जिससे अनाज भी पैदा नहीं होता। मांस दूध, छुआरा खजूर इनका

मुख्य खाना है। शिकार करना, जानवर चराना, लूटपाट करना आदि इनके प्रमुख कार्य हैं।

परन्तु बद्दूओं और इनमें एक फर्क है कि तुरेग लोग सोने और हीरे की खानों में काम करते हैं।

बुशमैन और होटेन्टॉट—अफरीका में सहारा रेगिस्तान के अलावा एक रेगिस्तान और है जो कालाहारी का रेगिस्तान कहलाता है। इस रेगिस्तान में दो जातियाँ रहती हैं। बुशमेन और होटन्टॉट। ये बिल्कुल जंगली जातियाँ हैं। इनकी जिन्दगी भी बद्दूओं की तरह है। शिकार खेलना, लूटपाट करना जानवर पालना इनका भी काम है। ऊंट ही इनके बहुत काम का जानवर है। डीलडौल म ये लोग मजबूत और ताकतवर होते हैं। ये लोग कालाहारी रेगिस्तान में बहुत पुराने समय से रहते हैं। इधर उधर घूमते रहते हैं। शिकार तो खेलते हैं ही परन्तु ये लोग हीरे सोने, और तांबे की खानों में भी काम करते हैं। कालाहारी में हीरे, सोने और तांबे की बहुत सी खानें हैं।

कुर्द—एशिया में कुर्दिस्तान नाम का देश है वहाँ के लोगों को कुर्द कहा जाता है। इन लोगों का जीवन भी बनजारों की तरह होता है। एक जगह से दूसरी जगह घूमते रहते हैं। भेड़े पालना ही इन लोगों का मुख्य काम है। कुछ आदमी खेती भी करते हैं। परन्तु ज्यादातर लोग जानवर चराने का ही काम करते हैं। भेड़ों के साथ ही साथ ये लोग बकरियाँ भी चराते हैं। इन लोगों की जिन्दगी घूमने में ही जाती है। जब एक जगह की घास और चारा खतम हो जाता है तब ये लोग उस जगह को छोड़ देते हैं और दूसरी जगह चले जाते हैं।

ग्वाकी—दक्खिनी अमेरिका महाद्वीप में पम्पा नाम का एक प्रदेश है, जिसमें ग्वाकी नाम की जाति रहती है। ये लोग पम्पा प्रदेश के चरवाहे हैं, जो वहाँ के जागीरदारों के यहाँ नौकरी करते हैं। इन लोगों का काम भेड़ों और ढोरों को चराना है। इन ढोरों और भेड़ों की चरवाही में इन लोगों को हर रोज २½ सेर मांस प्रति व्यक्ति को मिलता है। ग्वाकी लोगों के झोंपड़े इनके मालिकों के घर के पीछे होते हैं। हर एक ग्वाकी के पास घोड़ा होता है, जिस पर बैठकर वह भेड़ों की देखभाल किया करता है। इसी की वजह से ये लोग दुनिया भर के मशहूर मजबूर घुड़सवार माने जाते हैं। इनसे ज्यादा अच्छे घुड़सवार कोई अन्य जाति नहीं है।

नागा—यह जाति भारत में एक हिस्से में पाई जाती है। ये लोग पहिले बहुत जंगली थे, जंगली जानवरों का माँस खाते थे। जंगली जानवरों को ही

यहाँ आदिवासी तक को मार कर खा जाते थे। नंगे रहते थे और सिर्फ एक लंगोटी बाँधते थे। जानवरों को मारने के लिए अपने साथ भाले रखते थे। भाला चलाने में ये लोग बहुत होशियार थे। परन्तु अब इन लोगों की हालत सुधरती जा रही है। भारत सरकार इन्हें सुधारने का बहुत उपाय कर रही है। जंगलों को साफ करके अब उन्हें खेती के योग्य बनाया जा रहा है।

बंजारे—यह जाति भी भारत में पाई जाती है। परन्तु ये लोग बहुत थोड़े हैं। कहीं-कहीं पाये जाते हैं। इनकी जिन्दगी लगातार घूमने में जाती है। ये लोग भेड़ बकरी गाय ज्यादातर पालते हैं। जहाँ इन्हें चारा और घास मिलती है, वहीं ये लोग अपना डेरा डाल देते हैं। इनका सामान बहुत थोड़ा होता है। दूध, मट्ठा और बाजरा ये इनका खाना है। अपने जानवरों को चराते हुए देश-भर में घूमते रहते हैं। साथ में इनके सामान से भरी गाड़ी होती है। पूरा कबीला साथ ही साथ निकलता है।

इन लोगों की एक और किस्म होती है यह लोहपीटा कहलाती है। इनको बोझ से भरी लकड़ी की बनी गाड़ी होती है जो इनका घर होती है। उसी में खाने पीने, रहने सहने का सामान होता है, यहाँ तक कि आटा पीसने की चक्की और सोने के लिए खाट भी इसी छोटी सी गाड़ियों पर रखी रहती है। पूरा कुटुम्ब इसी गाड़ी पर चलता है। ये लोग किसी शहर या कस्बे के निकट डेरा डाल देते हैं। इनका मुख्य काम लोहे की जरूरी चीजें बनाना है, जो रसोई के काम आती हैं। इन चीजों को ये लोग बाजार या घरों में बेच देते हैं और उनके बदले खाने का सामान कपड़े अनाज आदि खरीद लेते हैं। थोड़े दिन बाद ये लोग दूसरे शहर या कस्बे को रवाना हो जाते हैं।

नट और कंजर—ये लोग भी घूमने वाली जाति में से हैं। एक जगह से दूसरी जगह घूमते रहते हैं। इनमें दो तरह के आदमी पाये जाते हैं—पहले हैं शारीरिक करतब दिखा कर पेट पालने वाले। ये लोग शरीर की कलाबाजी और बाँसों के ऊपर तरह-तरह के करतब दिखलाते हैं। उनके बदले में रोटी, आटा, कपड़ा माँग लेते हैं। ये लोग मेहनत करके खाते हैं परन्तु एक जगह जम कर नहीं रहते। करतबों को दिखाने के लिए गाँव गाँव और कस्बे-कस्बे में घूमते रहते हैं। दूसरे तरह के आदमी वे हैं जो भीख माँग कर गुजर करते हैं। इस तरह के लोगों में औरत ही भीख माँगने जाती है, मर्द नहीं। मर्द शिकार कर लाते हैं और शहद निकाल कर उसे बेचते हैं। शहद के छत्ते से ये लोग मोम को निकालते हैं और उसे बेचते हैं। ये लोग भारत के किसी भी हिस्से में घूमते हुए मिल जाते हैं।

भील—पहिले यह जाति भी जंगली थी। जंगलों में रहकर फल-फूल पर गुजारा करती थी। तीर चलाने में इस जाति के लोग बहुत होशियार होते थे। ये लोग जंगली जानवरों का शिकार भी किया करते थे। यह जाति भारत में जंगलों में मिलती थी। परन्तु अब इनकी हालत पहिले जैसी नहीं रही है। इन लोगों ने बहुत ही ज्यादा उन्नति कर ली है। सरकार ने इनके रहने के लिए घर बनवा दिये हैं।

आस्ट्रेलिया की आदिम जाति

अर्वाचीन युग में आस्ट्रेलिया महाद्वीप में अंग्रेज लोग बहुत ज्यादा रहते हैं। यहाँ पुराने रहने वाले कम ही निवास करते हैं। पुराने रहने वाले यहाँ बहुत समय से रहते हैं, जब कि यहाँ अंग्रेजों का नाम भी नहीं था। यहाँ के असली रहने वाले ये ही लोग हैं। ये लोग लम्बे और गठे हुए शरीर के होते हैं। इनके बाल घु घराले होते हैं। इनका रंग काला होता है। इनके दाँत सुन्दर होते हैं। नाक चौड़ी और आँखें चमकीली होती हैं। इनके गालों की हड्डियाँ उठी हुई होती हैं। ये लोग शिकार से ही पेट भरते हैं। साँप, छिपकली, गुबरीले और चूहे को तो कच्चा ही खा जाते हैं। इस जाति के कुछ आदमी तो आदमी को भी खाने वाले होते हैं। ये लोग कपड़ा तो नहीं के बराबर पहिनते हैं, करीब-करीब नंगे रहते हैं। ये लोग अपने शरीर में मछली का बदबूदार तेल मल लेते हैं। मछली मारने और शिकार करने में बहुत होशियार होते हैं। ये एक ऐसा हथियार बनाते हैं जो शिकार को मारकर इनके ही पास वापिस लौट आता है, उस हथियार को बूमरेंग कहते हैं। ये लोग बहुत जंगली हालत में हैं। अंग्रेजों को ये लोग देवता समझते हैं और उनकी इज्जत करते हैं। लेकिन ये लोग धीरे-धीरे बहुत कम होते जा रहे हैं।

अफगान—यह जाति अफगानिस्तान की रहने वाली है। ये लोग यहाँ पुराने समय से ही रहते हैं। इनकी जिन्दगी भी घूमने में ही जाती है। अफगानिस्तान पठारों का देश है, पूरा देश ऊबड़-खाबड़ और पहाड़ों से भरा हुआ है। यहाँ गरमी के मौसम में कड़ी गरमी और ठण्ड के मौसम में कड़ी ठण्ड पड़ती है। बरसात तो यहाँ बहुत कम होती है जिससे पूरा देश सूखा ही रहता है। यहाँ की जलवायु और मिट्टी ऐसी है कि यहाँ पर अच्छी तरह खेती हो ही नहीं सकती। पेड़-पौधों में भी यहाँ कुछ नहीं मिलता। केवल इधर-उधर बिखरे हुए घास के छोटे मैदान और कँटीली झाड़ियाँ मिलती हैं। इन घास के टुकड़ों में छोटी-छोटी सी घास होती है। इसी घास के सहारे यहाँ पर ऊँट, बैल, घोड़ा, ऊन भेड़, बकरियाँ पाले जाते हैं, जो इसी घास पर अपनी गुजर करते हैं।

इन्हीं कुदरती परेशानियों, धरती और जलवायु की वजह से ये लोग एक जगह जम कर नहीं रह पाते हैं। इन्हें घूमते रहने की जिन्दगी बितानी पड़ती है। अफगान लोग अपने जानवरों के लिए चारे की खोज में इधर-उधर घूमते हैं। इनके साथ चमड़े और ऊन के नमदों के बने हुए तम्बू होते हैं। जाड़े के दिनों में अफगानिस्तान में बर्फ पड़ना शुरू हो जाती है, जिससे बचने के लिये अफगान लोग घाटियों की तरफ चले जाते हैं। इनको खाने-पीने की चीजें कपड़े, घर की चीजें, सवारी और दूसरी चीजें भी अपने जानवरों से ही मिल जाती हैं। इन्हें पठारों की भेड़ों और बकरियों से बहुत सुन्दर और गरम ऊन मिलती है जिससे कालीन और कम्बल बनाये जाते हैं। यहाँ के कालीन और कम्बल प्रसिद्ध हैं। ये ऊँट के रोमों को जमाकर तम्बुओं और बिस्तरों के लिए नमदे बनाते हैं। आजकल जबकि इस देश में सिंचाई के अच्छे तरीके बढ़ गये हैं, उनकी मदद से उपजाऊ घाटियों में गेहूँ जौ मक्का कपास, तम्बाकू के पत्ते, अफीम के लिए पोस्त का दाना खजूर और फल पैदा किये जाते हैं। आजकल ये अच्छे व्यापारी बन गये हैं।

इनका डील-डौल अधिकतर लम्बा और मजबूत होता है। इनका स्वभाव अधिकतर कड़ा और झगड़ालू होता है। ये लोग अच्छे सिपाही बन सकते हैं। अपने रोब और अक्खड़ स्वभाव के लिए ये लोग मशहूर हैं। इनको कुदरत से मुकाबला करना पड़ता है, इसलिए इनकी जिन्दगी को 'लगातार मुकाबले की जिन्दगी' कही जाती है।

बलूची—बलूचिस्तान में रहने वालों को बलूची कहा जाता है। ये लोग बहुत पुराने समय से यहाँ रह रहे हैं। इनकी जिन्दगी भी अधिकतर घूमने में ही जाती है। बलूचिस्तान में जाड़ों में खूब जाड़ा और गरमी में खूब गरमी पड़ती है। बलूची लोगों की जिन्दगी भी अफगानों की तरह होती है। ये लोग भी जानवर पालते हैं और उन्हें चराने के लिए इधर-उधर घूमा करते हैं। भेड़ों और बकरियों की सुन्दर और गरम ऊन से ये लोग कालीन और कम्बल बनाते हैं। ऊँटों के रोमों को जमा करके तम्बुओं और बिस्तरों के लिये नमदे बनाते हैं। ये लोग अब कुछ पास के देशों में भी चले गये हैं और वहाँ मेहनत-मजदूरी करते हैं।

तुर्क—तुर्किस्तान के रहने वाले लोगों को तुर्क कहते हैं। ये एशिया माइनर के भीतरी पठारी भाग में घूमने वाले लोग हैं। इस देश में बहुत समय से रह रहे हैं। इस देश में गरमी के दिनों में कड़ी गरमी पड़ती है और बरसात बिल्कुल नहीं होती। सरदी के दिनों में कड़ी सरदी पड़ती है और इन

किसी भी बरसात नहीं होती। इस वजह से यहाँ पर कुछ भी पैदा नहीं होता, सिर्फ छोटी-छोटी घास कहीं-कहीं होती है। इसलिये तुर्क लोगों को मजबूर होकर केवल जानवरों ऊटों, घोड़ों, भेड़ों और बकरियों के सहारे ही अपनी जिन्दगी बितानी पड़ती है। इन्हीं से खाने पीने, रहने की सभी चीजें मिल जाती हैं। इन्हीं जानवरों को चराने के लिये तुर्क लोगों को पठारों पर इधर उधर घूमना पड़ता है। इनकी जिन्दगी घूमते रहने में ही बीतती है।

इस प्रकार की जलवायु और धरती में और कोई चीज मिलती ही नहीं है। ये लोग मजबूरन घूमने वाले चरवाहे बन जाते हैं। ये अपनी जरूरत की चीजें खाने-पीने कपड़े घर और सवारी की चीजें जानवरों से ले लेते हैं। तुर्किस्तान के पठार पर अंगोरा नाम की बकरी और मेरिना नाम की भेड़ मिलती है, जिसका ऊन बड़ा नरम और सुन्दर होती है, जो बहुत कीमती, पतले और चिकने कालीन बनाने के काम में आती है। यह महीन ऊना कपड़े बनाने के भी काम में आती है।

तुर्क लोगों का डील डौल अधिकतर लम्बा और मजबूत होता है। परन्तु इनका रंग काला होता है। ये खाल के बने हुए तम्बुओं में रहते हैं जिसके लिये खाल अपने जानवरों से ही ले लेते हैं। तुर्क लोग बड़े मेहनती होते हैं। सहने की ताकत भी इन लोगों में बहुत होती है। ये लोग बड़े वीर और ताकत वाले होते हैं। इन लोगों को श्रौटोमान भी कहते हैं। अगर लड़ाई के लिए इन्हें रख लिया जाये तो ये लोग बड़े अच्छे और वीर सिपाही बन सकते हैं। अब इनकी हालत थोड़ी सुधर रही है।

भौगोलिक पर्य्यावरण का वास्तविक महत्व

(Real Importance of Geographical environment)

हमने भौगोलिक पर्य्यावरण के पक्ष में विचार तथा विपक्ष में आलोचनाओं का विवेचन किया है। इन सभी का निष्कर्ष अगर निकाला जाये तो यही रहता है कि प्राचीन समाज में भौगोलिक पर्य्यावरण का महत्व सरवाधिक था। मानव जीवन के सभी कार्य प्रकृति द्वारा संचालित होते थे। आधुनिक युग में भौगोलिक पर्य्यावरण वैसा ही है परन्तु मनुष्य उसे अपने अनुकूल बनाने में समर्थ हो गया है अतः घनिष्ठ सम्पर्क होने से प्राकृतिक वातावरण का प्रभाव प्रतीत नहीं होता है। सांस्कृतिक वातावरण के विकास ने मनुष्य को कुछ-कुछ प्राकृतिक दासत्व से मुक्त कर दिया है तथा सभ्यता के विकास ने मानव को प्राकृतिक पर्य्यावरण का महत्व बतला दिया है। हीन जलवायु में भी आज भी प्राकृतिक पर्य्यावरण उतना ही प्रभाव डाल रहा है। अतः भौगोलिक

पर्य्यावरण की उपेक्षा करना अनुचित है। उसका प्रभाव आज भी किसी न किसी रूप में मानव जीवन पर पड़ रहा है। हमारी बाह्य दशाओं का निर्माण तथा निर्धारण प्राकृतिक पर्य्यावरण पर आधारित है। यहाँ पर सोरोकिन का कथन स्मरण हो आता है कि 'सामाजिक घटनाओं का कोई भी विश्लेषण, जो भौगोलिक साधनों पर ध्यान नहीं देता, अधूरा है। इतना अवश्य है कि मानव जीवन पर प्रभाव डालने वाले साधनों में से भौगोलिक पर्य्यावरण भी एक साधन है (It is not only the factor but one of the factors)। भौगोलिक पर्य्यावरण के अलावा मानव-जीवन पर वंशानुसंक्रमण (Heredity), सभ्यता (Civilization) और संस्कृति (Culture) तथा सांस्कृतिक और सामाजिक (Social Environment) का भी प्रभाव पड़ता है।

प्रकृति मानव को अनेक निधि सौंपती है। उनका उपयोग करना या न करना मानव पर आधारित है। उनका उपयोग करके ही मानव अपने सामाजिक पर्य्यावरण को विकासमय बना सकता है। मानव की सभ्यता तथा संस्कृति इसी पर आधारित होती है। उद्योग प्रधान देशों में खनिज पदार्थ तथा कच्चे माल विद्युत की सुविधाएं, कृषि प्रधान देशों में भूमि सिंचाई की सुविधाएं समुद्री तटों पर मछलियों की सुविधाएं प्रकृति की ही देन है। इस बारे में दस्तूर (Dastur) का कथन पुन स्मरण हो आता है कि 'प्रकृति केवल सामग्री प्रदान करती है मनुष्य अपनी प्रतिभा और कल्पना शक्ति से उसका उपयोग करता है। काबी ने इस ओर सत्य ही संकेत किया है कि शिल्पकार की योजना सामाजिक पर्य्यावरण के हाथ में है, परन्तु सांस्कृतिक ढाँचे को ईंट और चूना भौगोलिक पर्यावरण से ही प्राप्त होता है। मानव की बुद्धि प्राकृतिक बाधाओं को दूर करती है और प्राकृतिक सुविधाओं का उपभोग करती है। राउटर (E B. Reuter) का कथन भी सत्य है कि प्राकृतिक पर्य्यावरण के अवस्थायें उपलब्ध कर देता है जिनके अनुसार सामाजिक जीवन चलना चाहिए, लेकिन सामाजिक प्रक्रियाओं के उन लक्षणों को निर्धारित नहीं करता, जिनको कि समाजशास्त्री विश्लेषण करने के लिये खोजता है।" इसके साथ-साथ भौगोलिक पर्य्यावरण सभ्यताओं की सीमाओं का भी निर्धारण करता है।

१२

भारतीय सामाजिक विघटन और अपराध नियमन

जब समाज की एक व्यवस्था में दूसरी व्यवस्था प्रवेश करती है तब दो व्यवस्थाओं को मानने वाले व्यक्तियों की अन्तः प्रक्रिया (Interaction) प्रारम्भ हो जाती है। भारतीय समाज में ऐसा अनेक बार हुआ है। यदि हम प्रागैतिहासिक काल की छोड़ भी दें, तब भी हमें अनेक बार ऐसा लगता है कि भारत में आई नयी नयी जातियों के कारण पुरानी व्यवस्था में उथल-पुथल मची है। परन्तु भारतीय समाज की एक विशेषता रही है कि यहाँ हर बार मुक्तीकरण हुआ है अथवा कहें युक्तात्मक प्रक्रियाओं (Associative processes) ने काम किया है और भारतीय समाज में विरोधी संस्कृतियों को आत्मसात (assimilate) कर लिया है।

भारत की प्राचीन जातियों में हमें निम्नलिखित नाम मिलते हैं—यक्ष, असुर, गंधर्व, किन्नर, नाग पिशाच, दानव, दैत्य, राक्षस, वानर, गरुड़, भाल इत्यादि।

इसके बाद हमें मिलते हैं मानव अर्थात् मनु की बताई व्यवस्था के अनुसार बसने वाले। इन मानवों में अनेक कबीला जातियाँ (Tribes) हुईं जैसे यदु पौरव, द्रुह्यु, तुर्वसु, शिव, पंचाल, मद्र इत्यादि। इनके समकालीन अन्य कबीला जातियाँ थीं जैसे कुलिन्द, शबर इत्यादि।

इसके बाद विदेशी जातियों के नाम हैं जैसे यवन, शक, कुषाण बर्बर इत्यादि।

भारत की असंख्य जातियों का उल्लेख करना एक विशाल ग्रन्थ का प्रणयन करना है। इन अनेक जातियों के अपने अपने रिवाज हैं। फिर भी इन जातियों की एक आम भूमि है। *अधिकांश भारतीय उसी पर खड़े हैं।* वह है चातुर्वर्ण्य। अर्थात् यहाँ एक ब्राह्मण वर्ण है, एक क्षत्रिय वर्ण है एक वैश्य वर्ण है और है एक शूद्र वर्ण। हर एक वर्ण में असंख्य जातियाँ हैं और हर एक के असंख्य देवता हैं। हर एक का देवता दूसरे को मान्य है और एक विचित्र सहिष्णुता है। और भी एक विचित्रता है कि अधिकांश भारतीयों का चिन्तन कुछ मान्य आधारों को लेकर चलता है। वह है युग-विभाजन का दृष्टिकोण। (इसमें हम जैनों को नहीं ले सकते।)

हम जिस युग में रहते हैं उसे हमारे धर्मशास्त्र अच्छा नहीं कहते। महाभारत तथा अठारह पुराण और उनके बाद की पुस्तकें भी यही कहता है कि हमारा युग पतन का युग है। इन सबकी मान्यता के अनुसार सृष्टि उत्थान से पतन की ओर जाती है। इसका अर्थ व्यावहारिकता के क्षेत्र में यह है कि दिन पर दिन हमारा और हमारी सन्तान का चरित्र बिगड़ता जायेगा, और हम निरन्तर पतन की ओर ही बढ़ते जायेंगे। और फिर भी हम यह प्रयत्न करते हैं, कि हमारी सन्तान अच्छी बने राष्ट्र का सुधार हो, दुनिया के सब लोग सुख-शान्ति से रहें! किन्तु शास्त्रों की दुहाई देने के बाद क्या हमारा ऐसा करना एक व्यर्थ प्रयत्न नहीं है? हमारे पुराण और शास्त्र तो साफ कहते हैं, कि 'अब नहीं है दुनिया में कल्पवृक्ष और कामधेनु, जो इच्छा करते ही फल दे देते थे? उनके अस्तित्व का इस तरह लोप हो जाना क्या हमारी अवनति नहीं है?'

इस दौड़ में भारत अकेला नहीं है, यूनान के पुराने ख्याल वाले निवासी भी अपने अतीत को बहुत अच्छा मानते हैं। वे स्वर्णयुग, रजतयुग, कांस्ययुग और लौहयुग में समय का विभाजन करते हैं। इसी प्रकार चीन के रहने वालों में भी पहले देवताओं का युग था फिर देवमानुष हुये और बाद में मनुष्य। भारत में ही जैन लोग समय को अवसर्पिणी के रूप में बाँटते हैं। उनके मत में इस संसार में मनुष्य पहले बहुत सुखी था। उन दिनों युगलिया सन्तान होती थी, अर्थात् एक स्त्री और एक पुरुष इकट्ठे जन्म लेते थे और बाद में भाई बहिन ही पति-पत्नी बन जाते थे। उन दिनों इस पृथ्वी पर सबकुछ सुखमय था और जगह-जगह कल्पवृक्ष उगे हुये थे जिनसे मनमाने फल खाने को मिल जाया करते थे इसलिये मनुष्य को किसी प्रकार का परिश्रम नहीं करना पड़ता था।

लेकिन बाद में जब मनुष्यों में ईर्ष्या, द्वेष, वासना और हिंसा आदि प्रवृत्तियाँ बढ़ने लगीं, तो कल्पवृक्षों ने वैसे फल देना बन्द कर दिया। उस समय भगवान ऋषभदेव आदि तीर्थंकरों ने जन्म लिया और उन्होंने गोत्र छोड़कर विवाह करने की रीति तथा खेती करना मनुष्यों को सिखलाया और जैन धर्म का उपदेश दिया।

कल्पवृक्ष के अतिरिक्त हिन्दुओं में ऐसा माना जाता है कि यहाँ एक कामधेनु भी थी जो प्राचीन काल में पुण्यात्माओं को मनमानी वस्तुयें देती थी। क्या कामधेनु सचमुच कोई गाय थी? महाकवि कालिदास ने अपने मेघदूत में अलकापुरी का जो वर्णन किया है तो वहाँ भी कल्पवृक्ष से स्त्रियों को वस्त्र मदिरा और शृंगार प्राप्त करते बताया है। वहाँ यहाँ ऋतुओं के फूल खिलते हैं और आनन्द ही आनन्द बना रहता है। कालिदास के वर्णन से स्पष्ट हो जाता है कि उनके समय में कल्पवृक्ष एक काल्पनिक वस्तु थी। जिस समय महाभारत में संजय ने धृतराष्ट्र को उत्तर कुरु और किम्पुरुष खण्ड का वर्णन सुनाया है वहाँ भी इच्छा-गामी वृक्षों, मस्ती से घूमते लोगों और बिना काम किये सुख से खाने-पीने वाले लोगों का वर्णन किया है। इन सारी कथाओं से कामधेनु के युग की कुछ खास बातें प्रगट होती हैं। जैसे भाई-बहिन की शादी हो जाती थी सगोत्र विवाह होते थे, लोगों को चिन्तायें नहीं थीं वे खेती नहीं करते थे और फल इत्यादि खाकर जीवित रहते थे। जब समय बदला परिवर्तन आये। महाभारत में भीष्म ने बताया है कि सबसे पहले संकल्प से सन्तान पैदा होती थी—अर्थात् इच्छा हुई और सन्तान पैदा हो गई। उसके बाद संस्पर्श सन्तान होने लगी अर्थात् स्त्री और पुरुष एक दूसरे को छू लेते थे तब सन्तान होती थी। उसके बाद मैथुन से सन्तान होने लगी और भीष्म के युग में स्त्री पुरुष के द्वन्द्व से सन्तान जन्म लेने लगी। इन सबके क्या मानी हैं?

संकल्प काल में स्त्री और पुरुष की इच्छा मात्र परस्पर मिलन के लिये काफी थी, तब विवाह नहीं होते थे। उसके बाद संस्पर्श का युग आया जिसमें सगोत्र विवाह का प्रारम्भ हुआ। क्षत्रिय पक्षों में यह परम्परा बुद्ध के समय तक प्रचलित थी। उसके अनन्तर गोत्र छोड़ने की परम्परा जब से पड़ी, तब से 'मैथुन' शब्द का प्रयोग हुआ। किन्तु द्वन्द्व फिर क्या रहा? अब यहाँ हमें एक और *बात देखनी होगी। पहले माता के नाम पर गोत्र का नाम रक्खा जाता* था। देवों की माता अदिति थी। बाद में पुरुषों के नाम पर गोत्रों के नाम पड़ने लगे। तब पितृसत्ता का उदय हुआ और स्त्री को सन्तान पैदा करने का साधनमात्र समझा जाने लगा। ययाति की पुत्री माधवी को गालव ने इसी प्रकार सन्तान पैदा करने के लिए

चार पुत्रों के पास रक्खा था और उसके बाद ययाति ने अपनी पुत्री का विवाह रचने का प्रयत्न किया था। महाभारत में उद्दालक ने श्वेतकेतु से कहा, "हे पुत्र, यदि यह अतिथि ब्राह्मण तेरी माता को अपने साथ ले गया है, तो तू इस पर क्रोध न कर, क्योंकि इस संसार में स्त्रियां गायों की तरह स्वतन्त्र हैं।" उसी समय श्वेतकेतु ने यह मर्यादा बना दी कि आज से एक स्त्री और एक पुरुष का ही जीवन भर जोड़ा बनेगा और स्वेच्छाचरण वर्जित होगा। इससे स्पष्ट हो जाता है कि स्त्री और पुरुष के सामाजिक सम्बन्ध युग-युग में बदलते रहे। जिस समय पुरुष स्वामी हो गया और स्त्री उसके आधीन हो गयी तब वह घर की मालकिन हो गयी और इस तरह उसने जिसका दायित्व स्वीकार किया, उसी की सम्पत्ति का स्वामित्व प्राप्त करने का संघर्ष प्रारम्भ किया। इसी में जो द्वन्द्व पैदा हुआ उसी का जिक्र ऊपर के प्रसंग में किया गया है।

इस प्रकार आदिम काल की विवाह हीन व्यवस्था मातृसत्तात्मक युग में थी। उस युग में खेती नहीं होती थी। तब जंगल भी किसी की सम्पत्ति नहीं थे। लोग घूमते फिरते थे और वे चाहे जहां से फल तोड़ कर खाते थे। उन्हीं इच्छित फल देने वाले वृक्षों की याद, कल्पवृक्ष बनी।

जब पितृसत्ता का उदय हुआ तब सारा कबीला यानी गण इकट्ठा रहता था और इकट्ठे ही खेती-बाड़ी होती थी। सबकी गायें भी आपस में सबकी गायें होती थीं। धेनु दूध और बछड़ा देती थी। बछड़ा बैल बन कर धरती जोतता था और वह वृषभ बनकर बछड़े पैदा करता था। अनड्वान को उधेड़ कर उसकी खाली खाल में मरे हुए मनुष्य को सी दिया जाता था और उसे अग्नि पर रखकर वैदिक ऋषि प्रार्थना करते थे कि हे अग्नि, इस शव को आधा ही जला। इसके बाद पशुप के मुर्दे को उठाकर पक्षियों के खाने के लिये टांग दिया जाता था (इस प्रथा की परम्परा पारसियों अर्थात् अहुर वाले असुर के उपासकों में अभी तक विद्यमान है) और यह माना जाता था कि यह अनड्-वान् अर्थात् बैल इस मुर्दे की आत्मा को परलोक पहुंचायेगा। जिस प्रकार जीवित मनुष्य के लिये वृषभ आवश्यक था, उसी प्रकार मृत के लिए भी होना चाहिये था, क्योंकि तब बैल ही वाहन था। इसी की परम्परा अभी तक मरते समय गोदान के रूप में विद्यमान है, जिसमें यह माना जाता है कि यह दान में दी हुई गाय अपनी पूंछ पकड़वाकर परलोक के रास्ते में पड़ने वाली वैतरिणी नदी को पार करा देगी। उस समय बैल और गाय ने ही मनुष्य को खेतीबाड़ी और यातायात का सहारा दिया था। समाज के नियम मुख्यवलम्बित खेती पर निर्भर थे क्योंकि उसी से अन्न मिलता था। खेती गाय और बैल से होती थी। इसलिए गाय के चार पैरों पर धर्म स्थिर रहता था। गाय 'गो' शब्द से बना

लेकिन बाद में जब मनुष्यों में ईर्ष्या, द्वेष, वासना और हिंसा आदि प्रवृत्तियाँ बढ़ने लगीं, तो कल्पवृक्षों ने वैसे फल देना बन्द कर दिया। उस समय भगवान ऋषभदेव आदि तीर्थंकरों ने जन्म लिया और उन्होंने गोत्र छोड़कर विवाह करने की रीति तथा खेती करना मनुष्यों को सिखलाया और जैन धर्म का उपदेश दिया।

कल्पवृक्ष के अतिरिक्त हिन्दुओं में, ऐसा माना जाता है कि वहाँ एक कामधेनु भी थी जो प्राचीन काल में पुण्यात्माओं को मनमानी वस्तुयें देती थी। क्या कामधेनु सचमुच कोई गाय थी? महाकवि कालिदास ने अपने मेघदूत में अलकापुरी का जो वर्णन किया है तो वहाँ भी कल्पवृक्ष से स्त्रियों को वस्त्र मदिरा और शृंगार प्राप्त करते बताया है। वहाँ छहों ऋतुओं के फूल खिलते हैं और आनन्द ही आनन्द बना रहता है। कालिदास के वर्णन से स्पष्ट हो जाता है कि उनके समय में कल्पवृक्ष एक काल्पनिक वस्तु थी। जिस समय महाभारत में संजय ने धृतराष्ट्र को उत्तर कुरु और किम्पुरुष खण्ड का वर्णन सुनाया है वहाँ भी इच्छा-कामी वृक्षों मस्ती से घूमते जोड़ो और बिना काम किये सुख से खाने-पीने वाले लोगो का वर्णन किया है। इन सारी कथाओं से कामधेनु के युग की कुछ खास बातें प्रगट होती हैं। जैसे भाई-बहिन की शादी हो जाती थी सगोत्र विवाह होते थे, लोगों को चिन्तायें नहीं थी वे खेती नहीं करते थे और फल इत्यादि खाकर जीवित रहते थे। जब समय बदला परिवर्तन आये। महाभारत में भीष्म ने बताया है कि सबसे पहले संकल्प से सन्तान पैदा होती थी—अर्थात् इच्छा हुई और सन्तान पैदा हो गई। उसके बाद संस्पर्श सन्तान होने लगी अर्थात् स्त्री और पुरुष एक दूसरे को छू लेते थे तब सन्तान होती थी। उसके बाद मैथुन से सन्तान होने लगी और भीष्म के युग में स्त्री पुरुष के द्वन्द्व से सन्तान जन्म लेने लगी। इन सबके क्या मानी हैं?

संकल्प काल में स्त्री और पुरुष की इच्छा-मात्र परस्पर मिलन के लिये काफी थी, तब विवाह नहीं होते थे। उसके बाद संस्पर्श का युग आया जिसमें सगोत्र विवाह का प्रारम्भ हुआ। क्षत्रिय वर्णों में यह परम्परा बुद्ध के समय तक प्रचलित थी। उसके अनन्तर गोत्र छोड़ने की परम्परा जब से पड़ी, तब से 'मैथुन' शब्द का प्रयोग हुआ। किन्तु प्रश्न फिर क्या रहा? अब यहाँ हमें एक और बात देखनी होगी। पहले माता के नाम पर वंश का नाम रखा जाता था। देवों की माता अदिति थी। बाद में पुरुषों के नाम पर वंशों के नाम पड़ने लगे। तब पितृसत्ता का उदय हुआ और स्त्री को सन्तान पैदा करने का साधनमात्र समझा जाने लगा। ययाति की पुत्री माधवी को गालव ने इसी प्रकार सन्तान पैदा करने के लिए

चार पुरुषों के पास रक्खा था और उसके बाद ययाति ने अपनी पुत्री का विवाह रचने का प्रयत्न किया था। महाभारत में उद्दालक ने श्वेतकेतु से कहा, "हे पुत्र यदि यह अतिथि ब्राह्मण तेरी माता को अपने साथ ले गया है, तो तू इस पर क्रोध न कर, क्योंकि इस संसार में स्त्रियाँ गायों की तरह स्वतन्त्र हैं। उसी समय श्वेतकेतु ने यह मर्यादा बना दी कि आज से एक स्त्री और एक पुरुष का ही जीवन भर जोड़ा बनेगा और स्वेच्छाचरण वर्जित होगा। इससे स्पष्ट हो जाता है कि स्त्री और पुरुष के सामाजिक सम्बन्ध युग-युग में बदलते रहे। जिस समय पुरुष स्वामी हो गया और स्त्री उसके आधीन हो गयी तब वह घर की मालकिन हो गयी और इस तरह उसने जिसका दायित्व स्वीकार किया उसी की सम्पत्ति का स्वामित्व प्राप्त करने का संघर्ष प्रारम्भ किया। इसी में जो द्वन्द्व पैदा हुआ उसी का जिक्र ऊपर के प्रसंग में किया गया है।

इस प्रकार आदिम काल की विवाह-हीन व्यवस्था मातृसत्ताक युग म थी। उस युग में खेती नहीं होती थी। तब जंगल भी किसी की सम्पत्ति नहीं थे। लोग घूमते फिरते थे और जे चाहे जहां से फल तोड़ कर खाते थे। उन्हीं इच्छित फल देने वाले वृक्षों की याद कल्पवृक्ष बनी।

जब पितृसत्ता का उदय हुआ तब सारा कबीला यानी गण इकट्ठा रहता था और इकट्ठे ही खेती-बाड़ी होती थी। उनकी गायें भी आपस में सबकी गायें होती थीं। धेनु दूध और बछड़ा देती थी। बछड़ा बैल बन कर धरती जोतता था और वह वृषभ बनकर बछड़े पैदा करता था। अनड्वान को उधेड़ कर उसकी गीली खाल में मरे हुए मनुष्य को सी दिया जाता था और उसे अग्नि पर रखकर वैदिक ऋषि प्रार्थना करते थे कि हे अग्नि, इस शव को खाना ही मत। इसके बाद अनप के मुर्दे को उठाकर पक्षियों के खाने के लिये टांग दिया जाता था (इस प्रथा की परम्परा पारसियों अर्थात् अहुर नामी असुर के उपासकों में अभी तक विद्यमान है) और यह माना जाता था कि यह अनड्वान अर्थात् बैल इस मुर्दे की आत्मा को परलोक पहुँचायेगा। जिस प्रकार जीवित मनुष्य के लिये वृषभ आवश्यक था उसी प्रकार मृत के लिए भी होना चाहिये था क्योंकि तब बैल ही वाहन था। इसी की परम्परा अभी तक मरते *समय गोदान के रूप में विद्यमान है, जिसमें यह माना जाता है कि यह दान में* दी हुई गाय अपनी पूछ पकड़वाकर परलोक के रास्ते में पड़ने वाली वैतरिणी नदी को पार करा देगी। उस समय बैल और गाय ने ही मनुष्य को खेतीबाड़ी और भोजन का सहारा दिया था। समाज के नियम सुव्यवस्थित खेती पर निर्भर थे क्योंकि उसी से अन्न मिलता था। खेती गाय और बैल से होती थी इसलिए गाय के चार पैरों पर धर्म स्थित रहता था। गाय 'गौ' शब्द से ।

है जिसके संस्कृत में कई अर्थ हैं सूर्य किरण, इन्द्रिय, वाणी पृथ्वी, इत्यादि। इस प्रकार गौ का पर्याय धेनु पृथ्वी के लिये भी प्रयुक्त होने लगा। पृथ्वी को कामदुधा कहा गया। महाकवि कालिदास ने 'कुमार सम्भव' में एक रूपक में एक प्रभाव-पूर्ण वर्णन किया है 'इस पृथ्वी का दोहन करने के लिये जब पृथु को बिठाया गया तब जिस प्रकार गाय के सामने बछड़ा करते हैं वह दूध देती है उसी प्रकार पृथ्वी को इच्छा जर बैठी और मन देने के लिये हिमालय ही उसके सामने बछड़ा बनाकर खड़ा किया।' ध्यान रहे कि हिमालय से ही *नदियाँ बहकर आर्यावर्त को सींचा करती थीं।*

यों स्पष्ट हो जाता है कि अपनी इतनी बड़ी उपयोगिता के कारण ही गाय को 'कामधेनु' मान लिया गया था। इस प्रकार मातृसत्ता ने हमको कल्पवृक्ष, और पितृसत्ता के उदय ने हमें कामधेनु दी।

अब इस प्रश्न को लें कि पहले मनुष्य का चरित्र अच्छा था और वह बाद में बिगड़ता गया। परन्तु जरा इन उदाहरणों को देखिये : प्राचीनतम काल में इन्द्र ने गौतम-पत्नी अहिल्या से छल किया था। बृहस्पति ने अपनी भाभी ममता का अतिक्रमण किया था। अश्विनीकुमारों ने हिरण्यहस्त को पराई स्त्री से पैदा किया था। उस समय हरिश्चन्द्र का पुत्र रोहिताश्व बाप की आज्ञा का उल्लंघन करके घर से भाग गया था। शुनःशेप का वध करने के लिए धन के लोभ से स्वयं उसका पिता अजीगर्त तैयार हो गया था। मनु ने अपनी पुत्री इड़ा से ही सम्बन्ध स्थापित करने की चेष्टा की थी। देवयानी ने बृहस्पति कच पर ही डोरे डालने चाहे थे। यह सब सतयुग की बातें हैं। उसी जमाने में इन्द्र ने धोखे से नमुचि को मारा था। पद पाने पर नहुष मदान्ध हो गया था। सतयुग में राजा नल जुआ खेलते थे। परन्तु राम की माता कौशल्या गन्धर्व चित्ररथ को देख कर मोहित हो गयी थी। इसी प्रकार त्रेता में राजा राम ने अकारण ही बालि का वध किया था—धोखे से। सीता ने लक्ष्मण जैसे पवित्र व्यक्ति को लांछन लगाया था। कैकेयी ने राज्य लोभ में पुत्र को निर्वासित कराया था। महाभारत-काल में तो हमें नैतिकता का ह्रास और भी विचित्र दिखाई देता है। सतयुग में भी दारुण अत्याचार करने वाले मौजूद थे और द्वापर में भी। अतः यह कहना कि पहले लोग सुखी थे या सज्जन थे, यह भ्रम है। उस समय भी भयानक अकाल पड़ते थे। त्रेता और द्वापर की सन्धि में विश्वामित्र ने चाण्डाल का मरा हुआ कुत्ता खाकर अपने पेट की आग बुझाई थी। शास्त्रों को गहराई से पढ़ने पर पता चलता है कि तब के युगों में समाज में ऐसी रीतियाँ प्रचलित थीं जिनका कलियुग में वर्जन किया गया जैसे—ब्राह्मण, शूद्रों के हाथ का पकाया खाना

खाते थे, मांस खाते थे, विधवाओं के विवाह होते थे, स्त्रियाँ वेद पढ़ती थीं और यज्ञ करती थीं। यह प्रश्न उठाने पर हिन्दुओं के विचारकों ने यही कहा कि पुरखों की मान्यताएँ तो लो मगर उनकी नकल मत करो। इस प्रकार नैतिकता का प्रश्न तो साफ हो जाता है। पाप सत्ययुग में भी था और अब भी है।

जैसा कि हम ऊपर उल्लेख कर आये हैं पहले पृथ्वी का शासक ब्राह्मण ही था। उसके बाद जब ब्राह्मण ने अपनी शक्ति को क्षत्रियों के साथ बाँट लिया तब उसके लिए युग बदल गया। वह पहले चौका हुआ था, जमता था लेकिन उसके बाद वह कड़ा रह गया, उसकी शक्ति कम गयी। महाभारत में स्पष्ट लिखा है कि पहले सत्ययुग में बर्बर, पुलिन्द, शबर और अन्य म्लेच्छ जातियाँ नहीं थीं। जब उनका विकास हुआ तो धर्म पर आघात पहुँचा, इससे स्पष्ट हो जाता है कि त्रेता में काफी अनार्य बढ़ गये थे। राजा राम ने राक्षसों की शक्ति को नष्ट करके शान्ति स्थापित की। किन्तु वे राक्षस संस्कृति को नष्ट नहीं कर पाये। क्षत्रियों पर उसका गहरा प्रभाव पड़ा और आर्य और अनार्य योद्धाओं, शासकों, अर्थात् क्षत्रियों में परस्पर मिलन प्रारम्भ हो गया, उस समय द्वापर युग प्रारम्भ हुआ। ब्राह्मण की शक्ति और भी कम हो गयी। वह बैठ गया। महाभारत युद्ध के बाद अनार्य नागों ने फिर सिर उठाया और परीक्षित का वध कर दिया। ब्राह्मणों ने ही उसके पुत्र जनमेजय को प्रोत्साहित करके नागों का वध कराया। उस समय आर्य पिता और नाग माता के पुत्र आस्तीक ने यह यज्ञ रुकवाकर जनमेजय में और तक्षक में सन्धि करायी थी। उस समय आस्तीक ने ब्राह्मणों को शाप दिया था कि हे ब्राह्मणो तुमने अपने क्रोध के कारण इतनी हत्या करायी है, इसलिये अब से तुम्हारा वचन सत्य नहीं होगा।

यहीं से ब्राह्मणों के अधिकार और भी कम हो गये और वह सो गया। अपनी बाजी हार गया, और इसलिये उसने अपने लिये कलियुग की घोषणा कर दी।

कलियुग की घोषणा समाजशास्त्रीय दृष्टि से भारतीय समाज की एक व्यवस्था के विघटन का उद्घोष है। इस विघटन में निम्नलिखित बातें हुईं

(१) ब्राह्मण की शक्ति कम हुई—अर्थात् वैदिक ब्राह्मण के नियमन टूट गये।

(२) बहुत से क्षत्रियों ने ब्राह्मणों का विरोध किया।

(३) महाभारत-काल में वैश्यों को सम्पत्ति रखने का कोई अधिकार

नहीं था यह बात समाप्त हो गई। उसके बाद वैश्य धन एकत्र करने लगे।

(४) युद्ध पहले यथा कामवश्य थे, वे भी ऐसे नहीं रहे।

(५) युधिष्ठिर के समय में दास-प्रथा थी। द्रौपदी को दासी बना कर ही भरी सभा में नंगी किया गया था। परन्तु वैश्यों की उन्नति ने दास प्रथा को तोड़ा। वैश्यों ने काम ज्यादा लेने और फिजूल खर्च रोकने को ठेके पर काम कराया। दास प्रथा टूटने लगी। श्रेणियाँ (Guilds) का उदय हुआ।

(६) ग्रामीण सभ्यता नागरिक सभ्यता बनने लगी।

(७) पहले आर्यों के चार वर्ण थे। अब विभिन्न जातियों के पुरोहित परस्पर मिलने के कारण पुरोहित व्यवसाय के कारण ब्राह्मण वर्ण में घुसे। उनके अपने अपने देवता थे। इस प्रकार अनेक देवता हिन्दू धर्म में मान्य हुए। इसी प्रकार अन्य वर्णों में भी विभिन्न जातियों (Races) के विभिन्न लोग पेशे के हिसाब से बँट गये। चार वर्ण जो पहले आर्यों में थे हिन्दू समाज के मूलाधार (Broad base) बन गये।

(८) पहले आर्यों या कई वैदिक व्यवस्था को मानने वालों में 'आश्रम' माने जाते थे। ऐसे भी उल्लेख मिलते हैं कि आश्रम-व्यवस्था असुरों की देन थी। परन्तु महाभारत युद्ध के बाद यह व्यवस्था भी टूट गयी।

(९) अनेक अन्य जातियों (Races) जैसे नाग वर्णभिन्न जातियाँ (Castes) जैसे शूद्र और कबीला जातियाँ (Tribes) जैसे शबर बाल्हीक इत्यादि ने भी सिर उठा लिया और वे भी अपने लिये महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त करने की चेष्टा करने लगे।

यह सब वास्तव में भारतीय समाज का विघटन (disorganization) था, जो गौतम बुद्ध के पहले चला रहा था। उस समय बौद्ध जैन और वैष्णव मतों ने अपना सिर उठाया और वैष्णव मत ने भक्ति का स्वर ऊँचा किया। इसका प्रभाव बहुत बाद तक भी रहा।

कहा है—

आनिन्द्य योन्यधिक्रियते पारम्पर्यात् सामान्यवत् ।७८।

महापातकिनां त्वार्त्तौ । ८२ ।

(शाण्डिल्य भक्तिसूत्र द्वितीय अध्याय)

पं० श्री रामनारायणदत्त शास्त्री 'राम' ने इसकी व्याख्या की है—भक्ति में उच्च जाति से लेकर चाण्डालादि नीच जाति तक के मनुष्यों का समान रूप से अधिकार है; ठीक उसी तरह जैसे अहिंसा, सत्य अस्तेय, आदि सामान्य धर्मों के ज्ञान और अनुष्ठान में सबका समान अधिकार है; एवं तथा शास्त्रों के

उपदेश की परम्परा से यही बात सिद्ध होती है [७८] (यदि चाण्डाल योनि तक के मनुष्यों का भक्ति में अधिकार है, तब तो महापातकी मनुष्यों का भी उसमें अधिकार हो सकता है । इसके उत्तर में कहते हैं—) जिनके द्वारा पतन हेतुभूत महापातक बन गये हैं ऐसे लोगों का केवल आर्त भक्ति में ही अधिकार है और किसी में नहीं । (उसके द्वारा पाप निवृत्ति हो जाने पर सब प्रकार की भक्ति में अधिकार हो जाता है ।) [८२] ।

इस प्रकार भक्ति के माध्यम से समाज में एक नयी चेतना पैदा कर दी ।

यह तीनों ही आन्दोलन मानवतावादी (humanist) थे किन्तु तीनों का तीन अलग वर्गों से अनुप्राणन होता था ।

बौद्धों में क्षत्रिय जैनों में वैश्य और वैष्णवों में शूद्रों के स्वार्थ का विशेष ध्यान था । यह एक बहुत ही महत्वपूर्ण बात है । इसलिये भारतीय इतिहास की लम्बी दौड़ में अन्ततोगत्वा इन तीनों में वैष्णव मत ही अधिक प्रभाव शाली प्रमाणित हुआ क्योंकि इसमें शूद्र अर्थात बहुजन (masses) को सहारा मिलता था । इस्लाम ने बौद्धों को मिटा दिया जैन निर्बल हो गये किन्तु उसकी उस कट्टरता को जो भारतीय संस्कृति को ही नष्ट कर देना चाहता था, केवल वैष्णव मानववाद (Vaishnava Humanism) ही झेल सका ।

वैष्णव मत पहले ब्राह्मणों में मान्य नहीं था । कथा भी है कि भृगु ने (गीता में जिसे भार्गव ब्राह्मण कहा है) विष्णु के वक्ष पर लात मारी थी । परन्तु विष्णु ने क्षमा कर दिया और ब्राह्मण का मन जीत लिया—अर्थात वैष्णवों ने ब्राह्मणों की अवज्ञायें सह लीं । परन्तु कालान्तर में ब्राह्मणों ने वैष्णव मत को मजबूरन स्वीकार कर लिया । वैष्णव मत जाति-विरोधी था । परन्तु ब्राह्मणों ने बार बार चातुर्वर्ण्य में भक्ति का अधिकार शूद्रों को देकर भी वर्णव्यवस्था को स्थापित करना चाहा । मुगल काल में महात्मा तुलसीदास ने ऐसा ही किया । उन्होंने तत्कालीन सामाजिक विघटन का चित्र इस प्रकार दिया है—

नारि बिबस नर सकल गोसाईं ।
नाचहिं नट मर्कट की नाईं ।
सूद्र द्विजन्ह उपदेसहिं ग्याना ।
मेलि जनेऊ लेहिं कुदाना ।
सब नर काम लोभ रत क्रोधी ।
देव बिप्र श्रुति संत बिरोधी ।

गुन मन्दिर सुन्दर पति त्यागी ।
भजहिं नारि पर पुरुष अभागी ।
सौभागिनी बिभूषन हीना ।
बिधवन्ह के सिंगार नबीना ।
गुर सिष्य बधिर अंध का लेखा ।
एक न सुनइ एक नहिं देखा ।
हरइ सिष्य धन सोक न हरई ।
सो गुर घोर नरक महुँ परई ।
मातु पिता बालकन्हि बोलावहिं ।
उदर भरै सोइ धर्म सिखावहिं ।
(रामचरितमानस, उत्तरकाण्ड)

तुलसीदास के समय में जैसे एक और संकट उत्पन्न हो गया । शूद्र द्विजों को उपदेश देते थे । जनेऊ पहन कर दान लेते थे । सब जगह वेदों का विरोध हो रहा था । स्त्रियाँ कुलटा हो चली थीं । पातिव्रत नष्ट हो रहा था और पुरुष भी पत्नी के प्रति ईमानदार नहीं रहे थे । विधवाएं शृंगार करने लगी थीं । गुरु शिष्य के सम्बन्ध भी टूट रहे थे । गुरु लोभी हो गये थे । माता पिता बालकों को अच्छी शिक्षा नहीं देते थे । और—

बरन धर्म नहिं आश्रम चारी ।
श्रुति बिरोध रत सब नर नारी ।
द्विज श्रुति बेचक भूप प्रजासन ।
कोउ नहिं मान निगम अनुशासन ।
मारग सोइ जा कहुँ जोइ भावा ।
पंडित सोइ जो गाल बजावा ।
मिथ्यारंभ दंभ रत जोई ।
ता कहुँ संत कहइ सब कोई ।
सोइ सयान जो परधन हारी ।
जो कर दंभ सो बड़ आचारी ।
जो कह झूठ मसखरी जाना ।
कलिजुग सोइ गुनवंत बखाना ।
निराचार जो श्रुति पथ त्यागी ।
कलिजुग सोइ ग्यानी सो बिरागी ।
जाके नख अरु जटा बिसाला ।
सोइ तापस प्रसिद्ध कलिकाला ।

असुभ बेष भूषन धरें भच्छाभच्छ जे खाहिं।
तेइ जोगी तेइ सिद्ध नर पूज्यते कलि जुग माहिं॥
(रामचरितमानस, उत्तरकाण्ड)

वर्णाश्रम नष्ट हो गये थे। ब्राह्मण वेद को बेचते थे। राजा प्रजा को सताते थे। कोई वेद का अनुशासन नहीं मानता था। लोग दूसरे के धन का अपहरण करते थे। धन ने आचार को पराजित कर दिया था। इसको तुलसीदास ने कलियुग कहा था। उस समय लोगों में खानपान का भी ध्यान नहीं रहा था।

तुलसीदास ने तो कलियुग के विरुद्ध राजा राम की सभा में पत्रिका (अर्जी) भिजवाई थी।

कलि कोई कल्पना नहीं थी। पुराणों में तथा अन्य ग्रन्थों में, और आज से लगभग ४०० वर्ष तक के वर्णनों में कलियुग का प्रायः एक सा ही वर्णन मिलता है। इसका कारण है कि समाज की व्यवस्था इतनी अधिक जड़ थी कि वह धीमे नहीं बदलती रही थी। परन्तु दिनोंदिन हालत बिगड़ रही थी और इसीलिये यह मान लिया गया था कि कलि में दिन पर दिन पतन होगा। तुलसीदास कहते हैं—

जे बरनाधम तेलि कुम्हारा।
स्वपच किरात कोल कलवारा।
नारि मुई गृह संपति नासी।
मूड़ मुड़ाइ होहिं संन्यासी।
ते बिप्रन्ह सन आपु पुजावहिं।
उभय लोक निज हाथ नसावहिं।
बिप्र निरच्छर लोलुप कामी।
निराचार सठ बृषली स्वामी।
सूद्र करहिं जप तप ब्रत नाना।
बैठि बरासन कहहिं पुराना।
सब नर कल्पित करहिं अचारा।
जाइ न बरनि अनीति अपारा।
भये बरन संकर कलि भिन्न सेतु सब लोग।
करहिं पाप पावहिं दुख भय रुज सोक बियोग।

× × ×

तपसी धनवंत दरिद्र गृही।
कलि कौतुक तात न जात कही।

कुलवंति निकारहिं नारि सती ।
गृह आनहिं चेरि निबेरि गती ।
सुत मानहिं मातु पिता तब लौं ।
अबलानन दीख नहीं जब लौं ।
ससुरारि पिआरि लगी जब तें ।
रिपुरूप कुटुंब भए तब तें ।
नृप पाप परायन धर्म नहीं ।
करि दंड बिडंब प्रजा नितहीं ।

तेली कुम्हार स्वपच किरात कोल सब ही सिर उठा रहे थे। कलि में सब ही वर्णसंकर से हो गए थे।

धनवंत कुलीन मलीन अपी ।
द्विज चिन्ह जनेऊ उघार तपी ।
नहिं मान पुरान न बेदहि जो ।
हरि सेवक संत सही कलि सो ।
कलि बारहिं बार दुकाल परै ।
बिनु अन्न दुखी सब लोग मरै ।

सुनु खगेस कलि कपट हठ दंभ द्वेष पाखंड ।
मान मोह मारादि मद ब्यापि रहे ब्रह्मंड ।
तामस धर्म करहिं नर जप तप व्रत मख दान ।
देव न बरषहिं धरनी बए न जामहिं धान ।

× × ×

कलिकाल बिहाल किए मनुजा ।
नहिं मानत क्वौ अनुजा तनुजा ।
नहिं तोष बिचार न सीतलता ।
सब जाति कुजाति भए मगता ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि तुलसीदास के लिये कलि एक यों-ही-सी (by the way) बात नहीं थी। वह उनके लिये एक ठोस और पूरा खतरा था।

तुलसीदास समाज-निर्माता थे। उन्होंने मुगलों के शोषक साम्राज्य के विरुद्ध भारतीय जनता को संगठित किया था। उनका कहना था कि चारों वर्ण अपने अपने काम करके एक होकर अपनी संस्कृति को बचाओ, अपने राम का आदर्श समाज में स्थापित करो और मनमानी करने वालों को हटाओ।

तुलसीदास ने सोये हुए पीड़ित लोगों को जगाया था। तुलसीदास पुनरुत्थानवादी (Revivalist) थे।

उन्होंने पुराने युगों की भी व्याख्या की है।

(१) कृतयुग में सब योगी विज्ञानी थे। सब लोग तब हरि ध्यान करके ही तर जाते थे।

(२) त्रेता युग में लोग यज्ञ (यजन=प्रयत्न) करते थे और प्रभु को अपने कर्म समर्पण करके तर जाते थे।

(३) द्वापर में लोग राम के चरणों की पूजा करते थे और इसी उपाय से भवसागर को तर जाते थे।

(४) परन्तु कलियुग में न योग था, न यज्ञ था। न ज्ञान था। केवल राम-गुण-गान ही एकमात्र आधार था। कहा है

कृतजुग सब जोगी विग्यानी।
करि हरि ध्यान तरहिं भव प्रानी।
त्रेता विविध जग्य नर करहीं।
प्रभुहि समर्पि कर्म भव तरहीं।
द्वापर करि रघुपति पद पूजा।
नर भव तरहिं उपाय न दूजा।
कलिजुग जोग न जग्य न ग्याना।
एक अधार राम गुन गाना।

इस प्रकार तुलसी ने शूद्रों को वैष्णवों के दिये हुये अधिकार फिर दिये, परन्तु उसके साथ ही वर्ण-व्यवस्था को एक राजनीतिक पैटर्न (Polical Pattern) जैसा बनाकर भारतीय (अर्थात हिन्दू) समाज के सामने रखा। कलि का प्रारम्भ क्यों हुआ था?

कलि जूए में हारा रूप था। प्रारम्भिक काल में जूए में हारने वाला कलि और जीतने वाला कृत कहलाता था। जुआ एक ग्राम खेल था। इन प्रतीकों (Symbols) को सर्वसाधारण समझते थे। अतः यह चल पड़े थे।

कलि सामाजिक विघटन (Social disorganization) था जिसमें पुरानी व्यवस्था नष्ट हो रही थी। परन्तु कलि केवल उच्च वर्गों के स्वार्थ का प्रतिनिधि नहीं था। कलि मस्तमौलापन बनता था भी शत्रु बन गया था।

तब कलि अकबर के साम्राज्य का वातावरण था तो पहले वह यवनों का प्रतीक था। कलि एक प्रतीक (Symbol) बन गया।

कलि का भारत में विशेष महत्व है। दो बातें कलि में मिल कर बसी हैं—

(१) मानवतावाद, जिसने विकास किया है।

(२) चातुर्वर्ण्य, जिसने अपने को बचाने के लिये, रूप बदल-बदल कर मानवतावाद की आड़ ली है।

अब प्रश्न यह है कि चार वर्णों की व्यवस्था भारत में बराबर बनी कैसे रही? गौतम २५०० वर्ष पहले थे, उन्होंने भी ब्राह्मण की निन्दा की थी कबीर ने उनके हजारों साल बाद ऐसा ही किया। बल्कि नानक इत्यादि भी किया। फिर भी कौन सी बात थी व्यवस्था का आदर्श वही बना रहा।

विदेशों में भी समाज में चार चार वर्ग थे। पर वे बदल गये। भारत में ही क्या बात थी?

इसका कारण थी यहां की जाति-प्रथा।

जाति-प्रथा खानपान पर निर्भर थी। पर उसका उदय टोटेम से हुआ था। उसमें पितर-पूजा (Ancestor Worship) थी और वर्ण जातियाँ (castes) विभिन्न जातियों (Racial stocks) से आई थी। अतः उनमें पुराने और परम्परात्मक भेद थे। प्रत्येक जाति एक विशाल व्यवस्था में समा गई थी। उसका भीतरी ढाँचा अपना ही था। बहुत से विदेशी इसी वर्ण-व्यवस्था में घुस गये, क्योंकि उसमें प्रवेश करने का अर्थ था, भारतीय समाज में अपनी मान्यता प्राप्त कर लेना। जोगियों ने इसका विरोध भी किया था। लेकिन इस्लाम के आक्रमण होने पर वर्ण-व्यवस्था भारतीय संस्कृति का प्रतीक बन गई और अभावहीन बिजली के समय में कहा है

तटि तीरथ ब्राह्मण के करमा,
पुन्नु दान खत्री के धरिमा,
बणिज बिउपार वैश्नो के करिमा
सेवा भाव सूद्र के धरिमा,
चारों वरनि यहु चारों करमा,
चरपट प्रणवै सुणिहो सिधु भगु बरि
कीए जोगी के मरमा।

—चरपटनाथ

चरपटनाथ एक महान योगी थे। उनकी रसेश्वर मत में जबर्दस्त देन है। उन्होंने वर्ण-व्यवस्था को स्वीकार कर लिया।

भारतीय समाज वास्तव में वर्ण-व्यवस्था के विरोध में मूलतः नहीं था। वह केवल वर्णों के अधिकारों और कर्त्तव्यों (duties) की फिर फिर व्याख्या करता रहा।

वर्ण-व्यवस्था का व्यापक अर्थ यह माना जाता था कि पेशों के हिसाब से

समाज में चार विभाजन होते हैं। कुछ लोग दिमागी काम करते हैं, कुछ राज चलाते हैं, कुछ व्यापार करते हैं और बाकी लोग समाज की सब तरह की सेवा करते हैं। चारों वर्णों का अन्त्यज या मजदूर के प्रति एक ही दृष्टिकोण था। परन्तु व्यवहार में जातियों में संघर्ष भी था। मोनियर विलियम्स अंग्रेजों के आने के समय में ही भारत में अनेक ब्राह्मण पाये थे।

उत्तरी ब्राह्मण
गौड़ [1]
(१) कान्यकुब्ज (कनौज)
(२) सारस्वत (उत्तर-पश्चिम)
(३) गौड़ (बंगाल और दिल्ली)
(४) मैथिल (उत्तरी बिहार)
(५) उत्कल (उड़ीसा)
दक्षिणी ब्राह्मण।
द्रविड़
(१) महाराष्ट्र (मराठी प्रान्तीय)
(२) तैलंग (तेलुगू ,,)
(३) द्राविड़ (तमिल ,,)
(४) कर्णाट (कर्नाटक ,)
(५) गुर्जर (गुजरात ,,)

कान्यकुब्जों के १२९ भेद हैं। इनमें १०० तो वारेन्द्र कहलाते हैं, और २९ राढ़ कहलाते हैं।

इसी प्रकार प्रत्येक के भीतर अनेक अनेक उपभेद और भी थे। ऐसा ब्राह्मणों में था, बाकी लोगों का तो कहना ही क्या। मोनियर विलियम्स भारत को देखकर चकरा गया था। वह लिखता है—'हमारे यहाँ तो एक दूसरे में मिल सकते हैं, हम उनके भेद का तब पता भी नहीं चला सकते।'

परन्तु भारत में जगह-जगह लकीरें खिंची थीं। उन लकीरों को देखा विदेशी समझ नहीं पाते थे। भारतीय जाति-प्रथा की विचित्रता यह थी कि

(१) यहाँ वर्ग बँटे हुये थे।

---

1 Hinduism Monier Williams p III.

2 With us all ranks and orders run into each other and blend imperceptibly together, that it becomes impossible to seperate them into sharply defined strak or to say when

(२) वर्ग ऊँचे नीचे माने जाते थे।

(३) पर नीचे वर्ग वाला अपने आपको किसी भी तरह घटिया नहीं मानता था।

(४) वह अपने से किसी को नीचा मानता था।

(५) लेकिन हर वर्ग अपने भीतर ऊँचे वर्ग वाले को भी मिलाने को तैयार नहीं था।

(६) वर्ग एक व्यवस्था के प्रतीक थे। पचास वर्ष का ठाकुर भी दस वर्ष के ब्राह्मण के बेटे के पाँव छूता था पर वह ब्राह्मण को अपनी जाति में नहीं मिला सकता था।

यह भारत की विचित्रता थी।

नारद पुराण के सृष्टिक्रम में सनक ने नारद को उपदेश दिया है कि भारत सर्वश्रेष्ठ है।

ऐसा क्यों किया गया? भारत पर इतना गर्व क्यों था?

पहले हम देखें कि जाति-प्रथा-विरोधी कितनी जातियाँ आईं और यहाँ के कितने आन्दोलनों का पता चलता है।

जाति	आन्दोलन
(१) यवन	(१) जैन
(२) शक	(२) बौद्ध
(३) कुषाण	(३) वैष्णव (उत्तरी)
(४) बर्बर	(४) शैव (अवैदिक)
(५) पह्लव	(५) शैव (वैदिक)
(६) चीन (तिब्बती)	(६) सिद्ध (वज्रयानी)
(७) अरब	(७) नाथ योगी
(८) पठान (मुसलमान)	(८) कबीरपंथ
(९) तुर्क	(९) दक्षिण के आलवार, रामानुज
(१०) मंगोल (मुगल)	(१०) बाउल और सहजयानी
(११) पुर्तगाली	(११) चैतन्य महाप्रभु
(१) फ्रेंच	(१२) नानक तथा अन्य निर्गुण संत
(१३) डच	(१३) सिक्ख गुरु
(१४) अंगरेज	(१४) गुरु रामदास
	(१५) राधास्वामी मत
	(१६) आर्य समाज
	(१७) ब्रह्मसमाज।

(१८) गांधी

(१९) सर्वोदय आंदोलन।

(२०) हिमालय

ये तो मोटे तौर पर गिनाये गये हैं। यह २५०० वर्ष का चार्ट है। अभी छोड़नेवाले कितने ही छूट गये हैं।

इसका कारण था कि इसी व्यवस्था के आधार पर यहाँ की अर्थ-व्यवस्था थी और उसी पर संस्कृति टिकी हुई थी। नारद पुराण कहता है

भारतवर्ष में मनुष्य जो सात्विक, राजसिक और तामसिक तीन प्रकार के कर्म करते हैं, उनका फल भोग भूमियों में क्रमशः भोगा जाता है। भारतवर्ष में किया हुआ जो शुभ अथवा अशुभ कर्म है, उसका क्षणभंगुर (बचा हुआ) फल जीवों द्वारा अन्यत्र भोगा जाता है। आज भी देवता लोग भारतभूमि में जन्म लेने की इच्छा करते हैं। वे सोचते हैं, 'हम लोग कब संचित किये हुये महान, अक्षय, निर्मल एवं शुभ पुण्य के फलस्वरूप भारतवर्ष की भूमि पर जन्म लेंगे और कब वहाँ महान पुण्य करके परम पद को प्राप्त होंगे—अथवा वहाँ नाना प्रकार के दान भाँति-भाँति के यज्ञ या तपस्या के द्वारा जगदीश्वर श्रीहरि की आराधना करके उनके नित्यानन्दमय अनामय पद को कब प्राप्त कर लेंगे।

यह भारत का गौरव है। इसी भारत में इतनी असाम्य मौजूद थे परन्तु यहाँ पुराण भारत में मान्य रहे हैं और आज तक इसका आदर मिलता है। कहा है

जो भारतभूमि में जन्म लेकर भगवान विष्णु की आराधना में लग जाता है, उसके समान पुण्यात्मा तीनों लोकों में कोई नहीं है। भगवान के नाम और गुणों का कीर्तन जिसका स्वभाव बन जाता है, जो भगवद्भक्तों का प्रिय होता है अथवा जो महापुरुषों की सेवा-शुश्रूषा करता है, वह देवताओं के लिये भी वन्दनीय है। जो नित्य भगवान विष्णु की आराधना में तत्पर है अथवा हरि भक्तों के स्वागत-सत्कार में संलग्न रहता है और उन्हें भोजन कराकर बचे हुए (अवशिष्ट) अन्न का स्वयं सेवन करता है, वह भगवान विष्णु के परम पद को प्राप्त होता है।

इस प्रकार प्रगट होता है कि वैष्णव मत का एक व्यापक प्रभाव था, जिसमें जनता को कल्याण का मार्ग दिखाई देता था। आगे कहा है

जो भारतवर्ष में रहकर श्रद्धापूर्वक पूर्वोक्त प्रकार के अनेकात्मक सत्कर्म करता रहता है, वह हम लोगों का वन्दनीय है। जो शीघ्र ही इन पुण्यात्माओं में से किसी एक की श्रेणी में अपने आप को ले जाने की चेष्टा नहीं करता, वह पापाचारी एवं मूढ़ ही है उससे बढ़ कर बुद्धिहीन दूसरा कोई नहीं है, जो

भारतवर्ष में जन्म लेकर पुण्यकर्मों से विमुख होता है, वह अमृत का घड़ा छोड़ कर विष का पात्र अपनाता है।

अब समाज-व्यवस्था बताई है—

जो मनुष्य वेदों और स्मृतियों में बताये धर्मों का आचरण करके अपने आपको पवित्र नहीं करता, वही आत्महत्यारा और पापियों का अगुआ है। जो कर्मभूमि भारतवर्ष का आश्रय लेकर धर्म का आचरण नहीं करता, वह वेदज्ञ महात्माओं द्वारा सबसे 'अधम' कहा गया है। जो शुभकर्मों का परित्याग करके पापकर्मों का सेवन करता है, वह कामधेनु को छोड़कर आक का दूध खोजता फिरता है। इस प्रकार ब्रह्मा आदि देवता भी अपने भोगों के नाश से भयभीत होकर भारतवर्ष के भूभाग की प्रशंसा किया करते हैं। अतः भारतवर्ष को सबसे अधिक पवित्र तथा उत्तम समझना चाहिए, यह देवताओं के लिए भी दुर्लभ तथा सब कर्मों का फल देने वाला है। जो इस पुण्यमय भूभाग में अच्छे कर्म करने के लिये उद्यत होता है, उसके समान भाग्यशाली तीनों लोकों में दूसरा कोई नहीं है। जो इस भारतवर्ष में जन्म लेकर अपने कर्मबन्धन काट डालने की चेष्टा करता है, वह नरवप में छिपा हुआ साक्षात् 'नारायण' है। (ना० पु०)

जीवन में व्यक्ति के लिये आचरण को ही सर्वोपरि माना गया है। यह व्यवहार में तो पूरी तरह लागू नहीं होता था, फिर भी सिद्धान्त रूप में स्वीकृत था। कहा है :

जो परलोक में उत्तम फल प्राप्त करने की इच्छा रखता है, उसे आलस्य छोड़कर अच्छे कर्मों का अनुष्ठान करना चाहिए। उन कर्मों को भक्तिपूर्वक भगवान विष्णु को समर्पित कर देने पर उनका फल अक्षय माना गया है। यदि कर्म फलों की ओर से मन में वैराग्य हो तो अपने पुण्यकर्मों को भगवान् विष्णु में प्रेम होने के लिये उनके चरणों में समर्पित कर दें। ब्रह्मलोक तक के सभी लोग पुण्य क्षय होने पर पुनर्जन्म देने वाले होते हैं; परन्तु जो कर्मों का फल नहीं चाहता, वह भगवान् विष्णु के परम पद को प्राप्त कर लेता है। भगवान् को तुष्ट करने के लिये वेदवाक्यों द्वारा बताये हुए आश्रमों के अनुसार कर्मों का अनुष्ठान करना चाहिए। मनुष्य निष्काम हो या सकाम, वही विधि पूर्वक कर्म अवश्य करना चाहिए। कर्मफल की इच्छा त्यागने वाले को अविनाशी पद मिलता है। जो अपने वर्ण और आश्रम के कर्म को छोड़ देता है, वह विद्वानों द्वारा नीच या पतित माना जाता है। (ना० पु०)

परन्तु साथ में ही वर्ण और आश्रम को भी महत्त्व दिया गया है।

धर्मशास्त्रों में वानप्रस्थ को कलियुग के अन्तर्गत छोड़ दिया गया था, फिर भी तीन आश्रम तो बाकी थे ही। ब्राह्मण कौन है ? बताते हैं—

सदाचारपरायण ब्राह्मण अपने वासुदेव के साथ वृद्धि को प्राप्त होता है। यदि वह भगवान के चरणों का ध्यान करता है तो उस पर भगवान् विष्णु तुष्ट होते हैं। सब धर्मों के फल भगवान् वासुदेव हैं, तपस्या का चरम लक्ष्य भी वासुदेव ही हैं, वासुदेव के तत्त्व को समझ लेना ही उत्तम ज्ञान है तथा वासुदेव को प्राप्त कर लेना ही उत्तम गति है। ब्रह्मा जी से लेकर कीट-पर्यन्त यह सम्पूर्ण स्थावर-जङ्गम जगत वासुदेवस्वरूप है, उनसे अलग कुछ नहीं है। वे ही ब्रह्मा और शिव हैं वे ही देवता और असुर तथा यज्ञरूप हैं, वे ही यह ब्रह्माण्ड भी हैं। उनसे भिन्न अपनी अलग सत्ता रखने वाली दूसरी कोई वस्तु नहीं है। जिससे पर या अपर, अत्यन्त अणु और महान भी कोई नहीं है। उन्हीं भगवान विष्णु ने इस विविध विश्व को व्याप्त कर रखा है। (ना०पु०)

इसमें यहाँ दो बातें पता चलती हैं—

(१) प्राचीन कालीन समाज में समन्वयुक्ति (Assimilation) हुआ था। विष्णु और शिव पहले अलग-अलग थे। बाद में उन्हें एक ही शक्ति के दो रूपों की तरह माना गया।

(२) परवर्ती काल में देवता, असुर, यज्ञ तथा वासुदेव—सबको एक दूसरे का पर्याय माना जाने लगा।

क्या ब्राह्मण पहले शिव और विष्णु को मानता था ?

पहले विष्णु उसके लिये उपेन्द्र था। फिर वह एक मुख्य बना। विचार है उसने त्रिलोक जीता (सूर्य रूप में किरणें तीनों लोकों में फैला दीं) परन्तु तब भी वह सर्वोपरि नहीं था। श्वेताश्वतरोपनिषद में शिव का इस रूप में उल्लेख है। उसके बाद के युग में शिव को भी मान्यता मिली। इन्होंने पुराने देवताओं को पीछे हटा दिया। जिस प्रकार इन्द्र, मरुद्गण अश्विनीकुमार, अग्नि, यम, पवन, पूषन इत्यादि के उत्कर्ष ने वरुण, अदिति, यम और अर्यमा की पूजा को हटा कर निचला दर्जा दे दिया था, अब शिव और विष्णु ने इन्द्रादि तथा गरुड़ नाग इत्यादि को पीछे हटाया। शिव और शिव के साथ साथ गरुड़ मोर, मूषक, हाथी सिंह, गौरी, लक्ष्मी, स्कन्द, समुद्र, पर्वत, वानर, पक्षी, वृक्ष इत्यादि टोटेम ही नहीं, कुलदेवता तुलसी, भैरव, पार्वत्य मातृकाएं इत्यादि भी आ मिले और इनके दो विशाल परिवार बने। इस प्रकार विघटन में समाज ने नया स्वरूप पकड़ा। उस समय ब्राह्मण ने अपना स्वरूप बदला। नारद पुराण कहता है—

ब्राह्मण सभी वर्णों का श्रेष्ठ गुरु है। जो दिये हुये दान को अक्षय बनाना

चाहता हो, उसे ब्राह्मण को ही दान देना चाहिए। सदाचारी ब्राह्मण निडर होकर सबसे दान ले सकता है, किन्तु क्षत्रिय और वैश्य कभी किसी से दान ग्रहण न करें। जो ब्राह्मण लोभी, गुणहीन, दम्भाचार-परायण तथा अपने कर्म का त्याग करने वाला है, उसको दिया हुआ दान निष्फल जाता है। जो परायी स्त्री में आसक्त, पराये धन का लोभी तथा नक्षत्र-सूचक (ज्योतिषी) है, उसे दिया हुआ दान भी बेकार जाता है। जिसके मन में दूसरों के दोष देखने का दुराग्रह भरा है, जो दाम्भिक कपटी और यज्ञ के अनधिकारियों से यज्ञ कराने वाला है उसको दिया हुआ दान भी निष्फल जाता है। जो सदा माँगने में ही लगा रहता है जो हिंसक दुष्ट और रस का विक्रय करने वाला है, उसे दिया हुआ दान भी बेकार ही होता है। जो गीत गाकर जीविका चलाता है, जिसकी स्त्री व्यभिचारिणी है, दूसरों को कष्ट देने वाला है जो तलवार से जीविका चलाता है, जो स्याही से जीवन निर्वाह करता है, जो जीविका के लिये देवता की सेवा करना स्वीकार करता है, जो समूचे गाँव का पुरोहित है, जो धावन का काम करता है जो दूसरों की रसोई बनाता है, जो कविता द्वारा लोगों की झूठी बड़ाई करता है, जो मद्य और न खाने वाली चीजों को खाता है, जो शूद्रों का अन्न खाता है, शूद्रों के मुर्दे जलाता है, जो व्यभिचारिणी स्त्री की सन्तान का अन्न खाता है, और जो भगवान् विष्णु के नाम-जप को बेचता है उसको दिया हुआ दान भी व्यर्थ ही जाता है। जो सन्ध्याकर्म को त्यागने वाला है तथा दूषित दान-ग्रहण से दग्ध हो चुका हो, जो दिन में सोता और मैथुन करता है और सायंकाल में खाता है, जो महापातकों से युक्त है, जिसे जाति भाइयों ने समाज से बाहर कर दिया है उसे दान देना भी व्यर्थ है। जो कुण्ड (पति के रहते हुए भी व्यभिचार से उत्पन्न हुआ) और गोलक (पति के मर जाने पर व्यभिचार से पैदा हुआ) है, जो परिवित्ति (छोटे भाई के विवाहित हो जाने पर भी स्वयं अविवाहित) शठ, परिवेत्ता (बड़े भाई के अविवाहित रहते हुए भी स्वयं विवाह करने वाला), स्त्री के वश में रहने वाला और अत्यन्त दुष्ट है, उसे दिया हुआ दान भी न के बराबर ही माना जाता है। जो शराबी, मांसखोर, स्त्री-लम्पट अत्यन्त लोभी, चोर और चुगली खाने वाला है, जो कोई भी पापपरायण और सज्जन पुरुषों द्वारा सदा निन्दित हो, उनसे न तो दान लेना चाहिए और न दान देना ही चाहिए। (ना० पु०)

कलि में इस प्रकार ब्राह्मणों ने स्वयं ही मांस भक्षण का परित्याग कर दिया। वर्ण-व्यवस्था को बनाये रखकर भी ब्राह्मण ने यहाँ अपने को पुरोहित वर्ग से अलग करने की चेष्टा की है। ब्राह्मण को एक अखण्ड शील का अनुगमन करने वाला बताया गया है।

जो ब्राह्मण सत्कर्म में लगा हुआ हो उसे यत्नपूर्वक दान देना चाहिए। जो दान श्रद्धापूर्वक तथा भगवान् विष्णु के समर्पणपूर्वक दिया हुआ एवं जो उत्तम पात्र के याचना करने पर दिया गया हो वह दान अति उत्तम है। इस लोक या परलोक के लाभ का उद्देश्य रखकर जो सुपात्र को दान दिया जाता है, वह सकाम दान मध्यम माना गया है। जो दम्भ से, दूसरों की हिंसा के लिए, अविधिपूर्वक क्रोध से अश्रद्धा से और अपात्र को दिया जाता है, वह दान अधम माना गया है। राजा बलि को सन्तुष्ट करने के लिए यानी अपवित्र भाव से तथा अपात्र को दिया हुआ दान अधम स्वार्थ-सिद्धि के लिये किया हुआ दान मध्यम तथा भगवान की प्रसन्नता के लिये किया हुआ दान उत्तम माना जाता है। यह वेद-वेत्ताओं में श्रेष्ठ ज्ञानी पुरुष कहते हैं। (भा० पु०)

नई परिस्थिति में दान की भी नयी व्याख्या करने की चेष्टा की गई।

दान, भोग और नाश—ये धन की तीन गतियाँ हैं, जो न दान करता है, और न उपभोग में लाता है, उसका धन केवल उसका नाश का कारण होता है। धन का फल है धर्म और धर्म वही है जो भगवान विष्णु को प्रसन्न करने वाला है। (भा० पु०)।

धन और धर्म को यहां मिलाने की चेष्टा हुई और धर्म की व्याख्या श्रद्धा में रखी गई। दान को आवश्यक माना गया। क्यों ? क्योंकि समाज में धन एकत्र करने वाली प्रवृत्ति बढ़ रही थी। पूछते हैं

क्या वृक्ष जीवन धारण नहीं करते ? वे भी इसी जगत में दूसरों के हित के लिये जीते हैं। जहाँ वृक्ष भी अपनी जड़ों और फलों के द्वारा दूसरों का हित करते हैं वहाँ यदि मनुष्य परोपकारी न हो तो वे मरे हुये के ही समान हैं। जो मरणशील मानव शरीर से, धन से अथवा मन और वाणी से दूसरों की भलाई नहीं करते, उन्हें महान पापी ही समझना चाहिये। (भा० पु०)

परोपकार को इतना महत्व देना समाज की प्रमुखता को स्वीकार करना था। समाज में धन के विस्तार के साथ स्वार्थ वृत्ति बढ़ती जा रही थी इसी लिए एक दूसरे के प्रति सहिष्णुता का उपदेश दिया गया।

ध्यान रहे कि यह मनोवृत्ति कलियुग की है—अर्थात् एक समाज के विघटन से जो दूसरा समाज जन्म ले रहा था, वह अपने लिये नये मूल्य निर्धारित कर रहा था। एक प्रकार से वर्ण अर्थात् वर्गों का फिर से नया पुनर्गठन हो रहा था। पुराना हिसाब समाप्त हो चला था। अब नये सिरे से सम्बन्धों को स्थापित किया जा रहा था।

इस मानव वादी दृष्टिकोण में चातुर्वर्ण्य के लिये भी नयी जगह खोजी जा

रही थी। समाज के विभिन्न स्वार्थ एक दूसरे से मिलकर अपनी जगह बना रहे थे। तभी कहा है

जो-जो अभीष्ट वस्तुएं हैं वह सब ब्राह्मण को दान कर दे, ऐसा मनुष्य पुनर्जन्म से रहित भगवान् विष्णु के धाम में जाता है। अन्न और जल के समान दूसरा कोई दान न हुआ है, न होगा। अन्नदान देने वाला प्राणदाता कहा गया है, और जो प्राणदाता है वह सबकुछ देने वाला है। इसलिए अन्नदान करने वाले को सम्पूर्ण दानों का फल मिलता है। (मा॰ पु॰)

इससे यह भी स्पष्ट होता है कि आर्थिक रूप से ब्राह्मण काफी सीमा तक पराजित हो गया था। इसलिये दान की इतनी महिमा है। कहा है

जलदान शीघ्र सन्तुष्ट करने वाला है। इसलिये ब्रह्मवादी मनुष्यों ने जलदान को अन्नदान से अधिक श्रेष्ठ बताया है। महापातक अथवा उपपातकों से युक्त मनुष्य भी यदि जलदान करने वाला है तो वह उन सब पापों से मुक्त हो जाता है, यह ब्रह्मा का कथन है। शरीर को अन्न से उत्पन्न कहा गया है। प्राणों को भी अन्नजनित मानते हैं अतः जो अन्नदान देने वाला है, उसे प्राण दाता समझना चाहिए; क्योंकि जो जो तृप्तिकारक दान है वह समस्त मनोवांछित फलों को देने वाला है। अतः इस पृथ्वी पर अन्नदान के समान कोई दूसरा दान नहीं है। (मा॰ पु॰)

किन्तु दान का महत्त्व जाति परक ही नहीं था। उसमें अन्य भी योजनाएं थीं।

जो दरिद्र अथवा रोगी मनुष्य की रक्षा करता है, उस पर भगवान् विष्णु खुश होकर उसकी इच्छाओं को पूरी करते हैं। जो मन, वाणी और क्रिया द्वारा रोगी की सेवा करता है। वह सब पापों से छूट कर सम्पूर्ण कामनाओं को प्राप्त कर लेता है। जो ब्राह्मण को निवास-स्थान देता है, उस पर प्रसन्न हो देवेश्वर विष्णु अपना लोक देते हैं जो ब्रह्मवेत्ता ब्राह्मण को कपिला गाय दान देता है वह सब पापों से मुक्त हो ब्रह्म-स्वरूप हो जाता है। जो भय से व्याकुल चित्त वाले पुरुषों को अभय दान देता है उसे यदि तराजू के एक पलड़े में रखें और दूसरे पलड़े में पूर्ण रूप से उत्तम दक्षिणा देकर सम्पन्न किये हुये सभी यज्ञों को रखें, तो वे समान होंगे। जो भय-विह्वल ब्राह्मण की रक्षा करता है वह सम्पूर्ण तीर्थों में स्नान कर चुका और सब यज्ञों की दीक्षा ले चुका समझा गया है। अन्नदान करने वाला स्व-लोक में और कन्यादाता ब्रह्मलोक में जाता है। (मा पु॰)

किन्तु साथ में ही चातुर्वर्ण्य और आश्रमों को भी स्थान देने को कहा गया है

जो अपने आश्रमोचित आचार के पालन में संलग्न सम्पूर्ण भूतों के हित में तत्पर तथा दम्भ और असूया से रहित हैं, वे ब्रह्मलोक में जाते हैं। जो वीतराग और ईर्ष्यारहित हो दूसरों को परमार्थ का उपदेश देते हैं और स्वयं भी भगवान की आराधना में लगे रहते हैं, वे वैकुण्ठ धाम में जाते हैं। जो सत्संग में आनन्द का अनुभव करते हैं, सत्कर्म करने के लिये सदा उद्यत रहते, और दूसरों के अपवाद से मुँह मोड़ लेते हैं वे विष्णुधाम में जाते हैं। जो सदा ब्राह्मणों और गौओं का हित साधन करते और पराई स्त्रियों के संग से विमुख होते हैं, वे यमलोक का दर्शन नहीं करते हैं। जिन्होंने इन्द्रियों और आहार को जीत लिया है जो सबों के प्रति क्षमा भाव रखने वाले और सुशील हैं तथा जो ब्राह्मणों पर भी क्षमा भाव रखते हैं, वे वैकुण्ठ धाम में जाते हैं। जो अग्नि का सेवन करने वाले गुरु-सेवक पुरुष हैं तथा जो पति की सेवा में तत्पर रहने वाली स्त्रियाँ हैं, वे कभी जन्म-मरण रूप संसार के बन्धन में नहीं पड़तीं। जो सदा देव पूजा में तत्पर, हरिनाम की परायण रहने वाले तथा प्रतिग्रह से दूर रहते हैं, वे परमपद को प्राप्त कर लेने वाले होते हैं। जो ब्राह्मण के अभाव पक्ष को बताते हैं, वे सहस्र अश्वमेध यज्ञों का फल भोगते हैं। जो पूजा रहित शिवलिङ्ग का पत्र पुष्प फल अथवा जल से पूजन करता है वह विमान पर बैठकर भगवान शिव के पास जाता है। जो भक्ष्य-भोज्य और फलों द्वारा निर्जन स्थान में स्थित शिवलिंग का पूजन करता है वह पुनरावृत्तिरहित शिव-सायुज्य को प्राप्त करता है। (ना० पु०)।

अब स्वर्ग और नरक के साथ मनुष्य की नैतिकता को बाँधा गया है।

जो पूजा रहित विष्णु-प्रतिमा का जल से पूजन करता है, उसे विष्णु का सालोक्य प्राप्त होता है। जो देवालय में गोचर्म के बराबर भूभाग को भी जल से सींचता है, वह स्वर्ग लोक पाता है। जो देव मन्दिर की भूमि को चन्दन मिश्रित जल से सींचता है, वह जितने कणों को भिगोता है, उतने ही कल्प तक उस देवता के समीप निवास करता है। जो मनुष्य पत्थर के चूने से देव मन्दिर की दीवारों को पोतता है या उसमें स्वस्तिक आदि के चिन्ह बनाता है, उसको अनन्त पुण्य प्राप्त होता है। जो भगवान विष्णु या शिव के समीप अखण्ड दीप की व्यवस्था करता है उसको एक एक क्षण में अश्वमेध यज्ञ का फल सुलभ होता है। जो देवी के मन्दिर की एक बार, सूर्य के मन्दिर की सात बार गणेश के मन्दिर की तीन बार और विष्णु-मन्दिर की चार बार परिक्रमा करता है, वह उन उनके धाम में जाकर लाखों युगों तक सुख भोगता है। जो भक्ति भाव से भगवान विष्णु गौ तथा ब्राह्मण की प्रदक्षिणा करता है, उसे पग पग पर अश्वमेध यज्ञ का फल मिलता है। जो काशी में भगवान शिव

के लिंग का पूजन करके प्रणाम करता है, उसके लिये कोई कर्त्तव्य शेष नहीं रह जाता है, उसका फिर संसार में जन्म नहीं होता। जो नियम से भगवान शिव की दक्षिण और वाम परिक्रमा करता है, वह मनुष्य उनकी कृपा से स्वर्ग से नीचे नहीं आता है। जो रोग शोक से रहित भगवान विष्णु की स्तोत्रों द्वारा स्तुति करता है, वह मन से जो-जो चाहता है, उन सब इच्छाओं को प्राप्त कर लेता है। जो भक्ति-भाव से युक्त हो देव मन्दिरों में नृत्य या गान करता है, वह इस लोक में आकर मोक्ष का भागी होता है। जो मनुष्य देव-मन्दिरों में बाजा बजाते हैं वे हंसयुक्त विमान में बैठ कर ब्रह्माजी के धाम को चले जाते हैं। जो देवालय में करताल बजाते हैं, वे पापों से छूट कर दस हजार वर्ष तक विमानचारी होते हैं। (ना० पु०)

समाज में नैतिकता ही उसके मूल्यों का मानदण्ड है। यह कानून से भी ऊपर होती है, क्योंकि इसका सम्बन्ध राज्य से भी ऊपर परमात्मा से माना गया है। यह मनुष्य को सामाजिक बनाती है और अपराध करने से रोकती है। समाज में इसका गहरा प्रभाव पड़ता है। इसीलिये इस पर बहुत बल दिया है। कहा है

जो लोग भेरी, मृदंग पटह, मुरज और डिंडिम आदि द्वारा देवेश्वर शिव को प्रसन्न करते हैं वे सम्पूर्ण कामनाओं से पूजित हो स्वर्ग-लोक में जाकर पाँच कल्पों तक सुख भोगते हैं। जो भगवान विष्णु के मन्दिर में ताल या झाँझ आदि का शब्द करता है वह सब पापों से मुक्त हो भगवान विष्णु के लोक में जाता है, जो सबके साक्षी निरंजन एवं ज्ञानस्वरूप विष्णु हैं, वे सन्तुष्ट होने पर सब कर्मों का यथायोग्य फल देते हैं। जिन देवाधिदेव सुदर्शन-चक्रधारी श्रीहरि के स्मरण-मात्र से सब कर्म सफल होते हैं वे जगदीश्वर परमात्मा ही सब कर्मों के फल हैं। पुण्य कर्म करने वाले पुरुषों द्वारा सदा स्मरण किए जाने पर वे भगवान उनकी सब पीड़ाओं का नाश करते हैं। भगवान विष्णु के उद्देश्य से जो कुछ किया जाता है, वह अक्षय मोक्ष का कारण होता है। भगवान विष्णु ही धर्म हैं, धर्म के फल भी भगवान विष्णु ही हैं। इसी प्रकार कर्म कर्मों के फल और उनके भोक्ता भी भगवान विष्णु ही हैं। कार्य भी विष्णु हैं, करण भी विष्णु हैं, उनसे भिन्न कोई वस्तु नहीं—अर्थात् सबकुछ भगवान विष्णु ही हैं। (ना० पु०)

अब परमात्मा का एक रूप नहीं माना गया है। वह शिव भी हो सकते हैं, विष्णु भी। वेद भी उसके साथ जुड़ा है। असंख्य देवी-देवता तो हैं ही। यह एक बहुत व्यापक भूमि है। इसे हिन्दू धर्म का नया रूप कह सकते हैं।

इसमें वर्णाश्रम भी है और साथ में जाति भी है। मोक्ष मार्ग को भी स्वीकार किया गया है।

परन्तु समाज के कुछ दैनिक जीवन-व्यवहार सम्बन्धी नियम भी थे। सिद्धान्त और व्यवहार में पूरा सामंजस्य बैठ नहीं पाया था। भारतीय समाज में वस्तुतः यह द्वन्द्व बहुत दिनों चला है और आज भी चल रहा है। रूढ़ि अपनी जगह आज भी मौजूद है और हमारे सिद्धान्त उनका स्वयं ही खंडन करते हैं। फिर भी परम्परा चलती जाती है।

चातुर्वर्ण्य को रखने की योजना यों प्रगट होती है—

जो मनुष्य भोजन करते समय क्रोध में या अज्ञानवश किसी अपवित्र वस्तु को या चाण्डाल एवं पतित को छू लेता है, वह अपवित्र वस्तु को छू लेने पर तीन रात और चाण्डाल या पतित को छू लेने पर छः रात तक पञ्चगव्य से तीनों समय स्नान करे तो शुद्ध होता है। यदि कदाचित भोजन करते समय ब्राह्मण की गुदा से मलस्राव हो जाय अथवा झूठे मुंह अथवा अपवित्र रहने पर ऐसी बात हो जावे तो उसकी शुद्धि निम्नलिखित कार्य करने से हो सकती है। पहले वह ब्राह्मण शौच जाकर जल से पवित्र होवे अर्थात् जल से हाथ पैर साफ करके कुल्ला और स्नान करे। इसके बाद दिनरात उपवास करके पञ्चगव्य पीने से शुद्ध होता है। यदि भोजन करते समय पेशाब हो जाये या पेशाब करने पर बिना शुद्ध किये हुए ही भोजन करले तो दिनरात उपवास करे और अग्नि में घी की आहुति दे। यदि भोजन के समय ब्राह्मण किसी भी निमित्त से अपवित्र हो जाये तो उस समय ग्रास को जमीन पर रख कर स्नान करने के बाद शुद्ध होता है। यदि उस ग्रास को खाले तो उपवास करने पर शुद्ध होता है और यदि अपवित्र अवस्था में सारा भोजन करके उठे तो तीन रात्रि तक उपवास करने से शुद्ध होता है। यदि भोजन करते समय वमन हो जाये तो अस्वस्थ मनुष्य तीन सौ गायत्री मन्त्रों का जप करे और स्वस्थ मनुष्य तीन हजार गायत्री जपे यही उसके लिये उत्तम प्रायश्चित्त है। (ना० ५०)

यहां हम देखते हैं कि अधिक बल स्वास्थ्य और स्वच्छता पर दिया गया है। जाति-व्यवस्था का एक कारण यह भी था। पशुओं के साथ अस्वास्थ्य और रोग को भी जोड़कर ही रख दिया गया है। सफाई मुख्य है—

यदि द्विज मलमूत्र करने पर चाण्डाल या डोम से छू जाये तो वह त्रिरात्र व्रत करे और यदि भोजन करके झूठे मुंह छू जाये तो छह रात तक व्रत करे। यदि रजस्वला स्त्री और सूतिका स्त्री को चाण्डाल छूले तो तीन रात तक व्रत करने पर शुद्धि होती है। यदि रजस्वला को कुत्तों चाण्डालों अथवा कौओं से छू जाये तो वह अशुद्ध अवस्था तक निराहार रहे और चौथे दिन स्नान करके

से शुद्ध होती है। यदि दो रजस्वलायें आपस में स्पर्श कर लेती हैं, तो ब्रह्मकूर्च पीने से उनकी शुद्धि होती है और ऊपर से भी ब्रह्मकूर्च द्वारा उन्हें स्नान कराना चाहिए। जो जूठे से छुल जाने पर तुरन्त स्नान नहीं कर लेता उसके लिये भी यही प्रायश्चित है। ऋतु काल में मैथुन करने वाले पुरुष को गर्भाधान होने की आशंका से स्नान करने का विधान है। बिना ऋतु के स्त्री संगम करने पर मलमूत्र की ही भाँति शुद्धि मानी गयी है—अर्थात् हाथ, मुँह धोकर कुल्ला करना चाहिये। मैथुन कर्म में लगे हुये दोनों पति-पत्नी अशुद्ध होते हैं, परन्तु शैय्या से उठने पर स्त्री तो शुद्ध हो जाती है पर पुरुष तब तक अशुद्ध रहता है जब तक वह स्नान नहीं कर लेता। जो लोग पतित न होने पर भी अपने बन्धुजनों का त्याग करते हैं (राजा को उचित है कि) उन्हें उत्तम साहस का दण्ड दे। यदि पिता पतित हो जाये तो उसके साथ इच्छानुसार बर्ताव करे—अर्थात् अपनी रुचि के अनुसार उसका त्याग और ग्रहण दोनों कर सकते हैं किन्तु माता का त्याग कभी न करे। (ना० पु०)

सेक्स (यौन जीवन के सम्बन्ध में उस समय और ही प्रकार की धारणायें थीं। सेक्स टैबू के यहाँ कुछ रूप यों स्पष्ट होते हैं।

समाज में बहुत सी बातें निषिद्ध मानी जाती थीं—

जो रस्सी आदि साधनों द्वारा फाँसी लगाकर आत्मघात करता है, वह यदि मर जाये तो उसके शरीर में पवित्र वस्तु का लेप करा दे, और यदि जीवित बच जाये तो राजा उससे दो सौ मुद्रा दण्ड ले। उसके पुत्र और मित्रों पर एक एक मुद्रा दण्ड लगावे और वे लोग शास्त्रीय विधि के अनुसार प्रायश्चित करें। जो मनुष्य मरने के लिये जल में प्रवेश करके अथवा फाँसी लगाकर मरने से बच जाते हैं जो संन्यास ग्रहण करके और उपवास व्रत शुरू करके उसे त्याग देते हैं, जो विष पीकर अथवा ऊँचे स्थान से गिर कर मरने की चेष्टा करने पर भी जीवित बच जाते हैं तथा शस्त्र का अपने ऊपर आघात करने पर भी नहीं मरते वे सब सम्पूर्ण लोक से बहिष्कृत हैं। इनके साथ भोजन या विवाह नहीं करना चाहिए। ये सबके-सब एक चान्द्रायण अथवा दो तप्तकृच्छ व्रत करने से शुद्ध होते हैं। (ना पु०)

इस प्रकार आत्महत्या को निकृष्ट बताया गया है। मनुष्य के जीवन की सामाजिकता को अधिक महत्व देने के लिये ही इस प्रकार के विधान बने हैं। राज्य (राजा) को भी व्यक्ति से सम्बन्धित बताया गया है।

आगे कहा है :

कुत्ते सियार, और वानर आदि जातियों के काटने पर तथा मनुष्य द्वारा दाँतों से काटने पर भी मनुष्य दिन रात अथवा सन्ध्या या कोई भी समय क्यों न

हो तुरन्त स्नान कर लेने पर शुद्ध हो जाता है। जो ब्राह्मण अज्ञान से या अनजान में किसी प्रकार चाण्डाल का अन्न खा लेता है वह गोमूत्र और यावक का आहार करके पन्द्रह दिन में शुद्ध होता है। जो अथवा ब्राह्मण का घर जला कर मरे हुए मनुष्य का स्पर्श करके तथा उसके बन्धनों को काटकर ब्राह्मण अपनी शुद्धि के लिये एक कृच्छव्रत का आचरण करे। माता, गुरुपत्नि, भगिनि, पुत्री, पुत्रवधू से समागम करने वाला ही प्रज्वलित अग्नि में प्रवेश कर जाय। उसके लिये शुद्धि का कोई दूसरा उपाय नहीं है। रानी, संन्यासिनी, धाय, अपने से श्रेष्ठ वर्ण की स्त्री तथा समान गोत्र वाली स्त्री के साथ समागम करने पर मनुष्य दो कृच्छ् व्रत का अनुष्ठान करे। पिता के गोत्र या माता के गोत्र में उत्पन्न होने वाली अन्यान्य स्त्रियों तथा सभी पर स्त्रियों से सम्बन्ध रखने वाला पुरुष उस पाप से छूट कर अपनी शुद्धि के लिये कृच्छ चान्द्रायणव्रत करे। हिमकण युक्त तपाये हुए कुशोदक को केवल एक बार ३ रात तक पीकर वेश्यागमन के पाप का निवारण करते हैं। (ना० पु०)

परस्त्रीगमन, वर्णसंकरता, वेश्यागमन तथा अन्य ऐसी बातों को वर्जित माना गया है। इनको कानून से रोककर धर्म और नैतिकता के नाम पर रोकने की चेष्टा की गई है। खेतिहर समाज में गाय को बहुत महत्त्वपूर्ण माना जाता था।

गुरुतल्पगामी के लिए जो व्रत है, वही कुछ लोग गोघात के लिये बताते हैं और कुछ विद्वान अवकीर्णी (धर्मभ्रष्ट) के लिए भी उसी व्रत का विधान करते हैं। जो डण्डे से गौ के ऊपर प्रहार करके मार गिराता है उसके लिए गोवध का जो सामान्य प्रायश्चित है उससे दूना व्रत करने का विधान है। तभी वह व्रत उसके पाप को दूर कर सकता है। (ना० पु०)

गौ का रक्षण आवश्यक है।

गौ हाँकने के लिये अंगूठे के बराबर मोटी, बाँह के बराबर बड़ी पल्लव-युक्त और गीली पतली डाल का डण्डा उचित बताया गया है। यदि गौओं के मारने पर उनका गर्भ भी हो और वह मर जाये तो उसके लिये, अलग-अलग एक-एक कृच्छव्रत करे। यदि कोई काठ, ढेला, पत्थर अथवा किसी प्रकार के शस्त्र द्वारा गौओं को मार डाले तो भिन्न-भिन्न शस्त्र के लिये शास्त्र में इस प्रकार प्रायश्चित बताया गया है। काठ से मारने पर सान्तपन व्रत का विधान है। ढेले से मारने पर प्राजापत्यव्रत करना चाहिये। पत्थर से आघात करने पर तप्त कृच्छ और किसी शस्त्र से मारने पर अतिकृच्छव्रत करना चाहिये। (ना० पु०)

आज भी गोहत्या करने वाले को पाप का प्रायश्चित करना पड़ता है। यह धर्मांधता धर्म और खेतिहर समाज के सम्बन्ध पर आधारित है।

यदि कोई गौओं ब्राह्मणों के लिये अच्छी नीयत से औषधि, तेल एवं भोजन दे, और उसके देने के बाद उसकी मृत्यु हो जाये तो उस दशा में कोई प्रायश्चित नहीं है। तेल और दवा पीने पर या दवा खाने पर, शरीर में बैठे हुये कांटे या लोहे आदि को निकालने का प्रयत्न करने पर मृत्यु हो जाये तो भी कोई प्रायश्चित नहीं है। चिकित्सा या दवा करने के लिये, बछड़ों का बन्ध बांधने से अथवा ग्राम को उनकी रक्षा के लिये उन्हें घर में रोकने या बांधने से भी कोई दोष नहीं होता। (ना० पु०)

गाय और ब्राह्मण को एकसा स्थान देना एक मोड़ है। पहले ब्राह्मण को इतना अरक्षित नहीं माना जाता था। ब्राह्मण को पूज्य बनाने का यह एक नया रूप था। कहते हैं--

(उपयु क्त पापों का प्रायश्चित करते समय मनुष्य को इस विधि से मुण्डन करना चाहिये) एक पाद (चौथाई) प्रायश्चित करने पर कुछ रोम-मात्र कटा देने चाहियें। दो पाद के प्रायश्चित में केवल दाढ़ी-मूँछ मुड़ा ले, तीन पाद का प्रायश्चित करते समय शिखा के सिवा और सब बाल बनवा दे और पूरा प्रायश्चित करने पर सबकुछ मुड़ा देना चाहिए। इसी प्रकार स्त्रियों के सिर मुड़ाने का विधान है। स्त्री के लिये सारे बाल कटाने और वीरासन से बैठने का नियम नहीं है। उसके लिये गोशाला में निवास करने की विधि नहीं है बल्कि यदि स्त्रियों को प्रायश्चित करना पड़े तो उसके सारे बाल समेट कर दो अंगुल बाल कटा देने चाहिए।

राजा राजकुमार अथवा बहुत से शास्त्रों का ज्ञाता ब्राह्मण हो उन सबके लिए केश मुड़ाये बिना ही प्रायश्चित बताना चाहिए। उन्हें केशों की रक्षा के लिए दूने व्रत पालन करने की आज्ञा है। दूना व्रत करने पर उसके लिए दक्षिणा भी दूनी होनी चाहिए। यदि ऐसा न करे तो हत्या करने वाले का पाप नष्ट नहीं होता और दाता नरक में पड़ता है। जो लोग वेद और स्मृति के विरुद्ध व्रत-प्रायश्चित बताते हैं, वे धर्म पालन में विघ्न डालने वाले हैं। राजा उन्हें दण्ड द्वारा पीड़ित करे, परन्तु किसी कामना या स्वार्थ से मोहित होकर राजा उन्हें कदापि दण्ड नहीं दे, नहीं तो, उनका पाप सौ गुना होकर उस राजा पर ही पड़ता है। तदनन्तर प्रायश्चित पूरा कर लेने पर ब्राह्मणों को भोजन कराये। बीस गाय तथा एक बैल उन्हें दक्षिणा में दे। यदि गौओं के अंगों में घाव होकर उसमें कीड़े पड़ जायें अथवा मक्खी आदि लगने लगें और इन कारणों से गौओं की मृत्यु हो जाये तो उन गायों को रखने वाला पुरुष आधे कृच्छ्रव्रत का अनुष्ठान करे, और अपनी शक्ति के अनुसार दक्षिणा दे। इस प्रकार प्रायश्चित कराके

ये ह ब्राह्मणों को भोजन कराकर कम-से-कम एक माशा सुवर्ण दान करे तो शुद्धि होती है। (ना० पु०)

यहाँ हम देखते हैं कि प्रायश्चित्त में ब्राह्मण का आर्थिक लाभ भी सम्मिलित कर लिया गया है—अर्थात् समाज के प्रत्येक नियम के खंडन के लिए ब्राह्मण ने अपने लिये (फीस) शुल्क नियत किया है। राजा के साथ वह भी दण्ड लेने का अधिकारी है। कहा है—

जल के भीतर की बाँबी की चूहों के बिल की ऊसर भूमि की, रास्ते की, श्मशान की भूमि की तथा शौच से बची हुई—ये सात प्रकार की मृत्तिका काम में नहीं लानी चाहिए। ब्राह्मण को प्रयत्नपूर्वक इष्टापूर्त कर्म करने चाहियें। इष्ट (यज्ञ-याग आदि) से वह स्वर्ग पाता है और पूर्त कर्म से वह मोक्ष सुख का भागी होता है। धन की अपेक्षा रखने वाले यज्ञ दान आदि कर्म इष्ट कहलाते हैं। और धर्मशाला बगीचा आदि कार्य को पूर्त कहा जाता है—विशेषतः बगीचा, किसी देवता के लिए बने हुए तालाब, बावड़ी, कुआँ पोखर और देवमन्दिर—ये यदि गिरते या नष्ट होते हों तो जो इनका उद्धार करता है, वह पूर्त कर्म का फल भोगता है क्योंकि ये सब पूर्त कर्म हैं। सफेद गाय का मूत्र काली गौ का गोबर, ताँबे के रंग वाली गाय का दूध सफेद गाय का दही और कपिला गाय का घी—इन सब वस्तुओं को लेकर एकत्र करे तो वह पञ्चगव्य बड़े-बड़े पातकों का नाश करने वाला होता है। कुशों द्वारा लाये हुए तीर्थ-जल, और नदी-जल के साथ उक्त सभी द्रव्यों को अलग-अलग प्रणव मन्त्र से लाकर प्रणव द्वारा ही उन्हें उठाके प्रणव जप करते हुए ही उनका आलोडन करे और प्रणव के उच्चारणपूर्वक ही उनको पिये। पलाश वृक्ष के बिचले पत्ते में या ताँबे के शुभ पात्र में अथवा कमल के पत्ते में या मिट्टी के बर्तन में कुशोदक सहित उस पञ्चगव्य को पीना चाहिए। (ना० पु०)

हम देखते हैं कि उस समय के विश्वास कुछ दूसरे ही थे। आज के युग से उन्हें देखने पर हमें कुछ अजीब सा लगता है। यह किन परम्पराओं से प्रारम्भ हुए थे यह हम आज नहीं बता सकते। तत्कालीन धर्म के विचार अलग थे।

एक सूतक में दूसरा सूतक उपस्थित हो जावे तो दूसरे में दोष नहीं लगता। पहले सूतक के साथ ही उसकी शुद्धि हो जाती है। एक जनना शौच के साथ दूसरा जननाशौच और एक मरणाशौच के साथ दूसरा मरणाशौच भी शुद्ध हो जाता है। एक मास के भीतर गर्भ-स्राव हो तो तीन दिन का अशौच बतावे। दो मास से ऊपर होने पर जितने महिने में गर्भ-स्राव हो, उतनी ही रात्रियों में

उसके अशौच की निवृत्ति होती है। साध्वी रजस्वला स्त्री रज बन्द हो जाने पर स्नान-मात्र से शुद्ध होती है। विवाह से सातवें पद पर या सप्तपदी की क्रिया पूरी होने पर अपने पितृ-सम्बन्धी गोत्र से च्युत हो जाती है यानी उसके पति का गोत्र ही जाता है अतः उसके लिए श्राद्ध और तर्पण पति के गोत्र से ही करने चाहिए। पिण्डदान में पति और पत्नि दोनों का प्रयोग होता है अतः प्रत्येक पिंड में दो नाम से सङ्कल्प होना चाहिए। इसका मतलब यह है कि पिता या पितामह आदि को सपत्नीक विशेषण लगाकर पिण्डदान करना चाहिए। इस तरह छः व्यक्तियों के लिये तीन पिण्ड देने योग्य हैं। ऐसा दाता मोह में नहीं पड़ता। (ना० पु०)

स्त्री का महत्त्व इस रूप से आवश्यक समझा गया था। पितृसत्ता में स्त्री को सृष्टि के लिये आवश्यक माना जाता था। यह बात हमें सर्वत्र दिखाई देती है। यह सम्बन्ध पितृलोक में भी रहता है। कहा है—

माता अपने पति के साथ विश्वेदेवपूर्वक श्राद्ध का उपभोग करती है। इसी भाँति पितामही और प्रपितामही भी अपने-अपने पति के साथ श्राद्ध-भोग करती हैं। प्रत्येक वर्ष में माता-पिता का एकोद्दिष्ट श्राद्ध द्वारा सत्कार करें। उस वार्षिक श्राद्ध में विश्वेदेव का पूजन नहीं किया जाता। अतः उनके बिना ही वह श्राद्ध भोजन करावे। उसमें एक ही पिंड दे। नित्य, नैमित्तिक काम्य वृद्धिश्राद्ध तथा पार्वण – विद्वान पुरुषों के ये पाँच प्रकार के श्राद्ध जानने चाहिए। ग्रहण, संक्रांति, पूर्णिमा या अमावस्या पर्व, उत्सवकाल तथा महालय के समय पर मनुष्य तीन पिण्ड दे और मृत्यु तिथि को पिंड दे। जिस कन्या का विवाह नहीं हुआ है, वह पिण्ड गोत्र और सूतक के विषय में पिता के गोत्र से अलग नहीं है। पाणिग्रहण और मन्त्रों द्वारा वह अपने पिता के गोत्र से अलग होती है। (ना० पु०)

पितृलोक और पितृसत्ताक समाज की व्यवस्था को स्त्री के सम्बन्ध में मिला दिया गया है। स्त्री की महत्ता अपने आप में नहीं मानी गयी है। सवर्णता को अधिक महत्त्व दिया गया है।

जिस कन्या का विवाह जिस वर्ण के साथ होता है, उसके समान उसे सूतक भी लगता है। उसके लिये पिंड और तर्पण भी उसी वर्ण के अनुसार होने चाहिए। विवाह हो जाने पर चौथी रात में वह पिण्ड, गोत्र और सूतक के विषय में अपने पति के साथ एक हो जाती है। (ना पु०)

इससे स्पष्ट होता है कि विवाह से स्त्री का सामाजिक पद बदलता है और उसके ही धार्मिक पद (status) भी। आगे कहा है—

मृत व्यक्ति के प्रति हित बुद्धि रखने वाले बंधुजनों को शवदाह के प्रथम, द्वितीय,

उसके अशौच की निवृत्ति होती है। साध्वी रजस्वला स्त्री रज बन्द हो जाने पर स्नान-मात्र से शुद्ध होती है। विवाह से सातवें पद पर या सप्तपदी की क्रिया पूरी होने पर अपने पितृ-सम्बन्धी गोत्र से च्युत हो जाती है यानी उसके पति का गोत्र हो जाता है। अतः उसके लिए श्राद्ध और तर्पण पति के गोत्र से ही करने चाहिए। पिण्डदान में पति और पत्नि दोनों का ग्रंथन होता है; अतः प्रत्येक पिंड में दो नाम से संकल्प होना चाहिए। इसका मतलब यह है कि पिता या पितामह आदि को सपत्नीक विशेषण लगाकर पिण्डदान करना चाहिए। इस तरह छः व्यक्तियों के लिये तीन पिण्ड देने योग्य है। ऐसा करता मोह में नहीं पड़ता। (मा० पु०)

स्त्री का महत्त्व इस रूप से आवश्यक समझा गया था। पितृसत्ता में स्त्री को सृष्टि के लिये आवश्यक माना जाता था। यह बात हमें सर्वत्र दिखाई देती है। यह सम्बन्ध पितृलोक में भी रहता है। कहा है—

माता अपने पति के साथ विश्वेदेवपूर्वक श्राद्ध का उपभोग करती है। इसी भाँति पितामही और प्रपितामही भी अपने-अपने पति के साथ श्राद्ध-भोग करती है। प्रत्येक वर्ष में माता-पिता का एकोद्दिष्ट श्राद्ध द्वारा सत्कार करे। उस वार्षिक श्राद्ध में विश्वेदेव का पूजन नहीं किया जाता। अतः उनके बिना ही वह श्राद्ध भोजन करावे। उसमें एक ही पिंड है। नित्य, नैमित्तिक, काम्य, वृद्धिश्राद्ध तथा पार्वण– विद्वान पुरुषों के ये पाँच प्रकार के श्राद्ध जानने चाहिए। ग्रहण, संक्रांति, पूर्णिमा या अमावस्या पर, उत्सवकाल तथा महालय के समय पर मनुष्य तीन दफा दे और मृत्यु तिथि को पिंड दे। जिस कन्या का विवाह नहीं हुआ है, वह पिण्ड गोत्र और सूतक के विषय में पिता के गोत्र से अलग नहीं है। पाणिग्रहण और मन्त्रों द्वारा वह अपने पिता के गोत्र से अलग होती है। (मा० पु०)

पितृलोक और पितृसत्ताक समाज की व्यवस्था को स्त्री के सम्बन्ध में मिला दिया गया है। स्त्री की महत्ता अपने आप में नहीं मानी गयी है। सवर्णता को अधिक महत्त्व दिया गया है।

जिस कन्या का विवाह जिस वर्ण के साथ होता है, उसके समान उसे सूतक भी लगता है। उसके लिये पिंड और तर्पण भी उसी वर्ण के अनुसार होने चाहिए। विवाह हो जाने पर चौथी रात में वह पिण्ड, गोत्र और सूतक के विषय में अपने पति के साथ एक हो जाती है। (मा० पु०)

इससे स्पष्ट होता है कि विवाह से स्त्री का सामाजिक पद बदलता है और उसके ही धार्मिक पद (status) भी। आगे कहा है—

मृत व्यक्ति के प्रति हित बुद्धि रखने वाले संगुजनों को ग्रसवाह के प्रथम, द्वितीय,

तृतीय, अथवा चतुर्थ दिन अस्थि सञ्चय करना चाहिये या ब्राह्मण आदि चारों वर्णों का अस्थिसंचय क्रमशः चौथे पाँचवे सातवें, और नवें दिन भी कर्तव्य बताया गया है। जिस मृत व्यक्ति के लिये ग्यारहवें दिन वृषोत्सर्ग किया जाता है, वह प्रेत लोक से मुक्त और स्वर्गलोक में प्रतिष्ठित होता है। नाभि के बराबर जल में खड़ा होकर मन-ही-मन यह चिन्तन करे कि मेरे पितर आवें और वह जलाञ्जलि ग्रहण करें। दोनों हाथों को संयुक्त करके जल से पूर्ण करे और गोशृङ्गमात्र जल उठा कर उसे पुनः जल में डाल दे। जल में दक्षिण की ओर मुँह करके खड़ा हो आकाश में गिराना चाहिये क्योंकि पितरों का स्थान आकाश और दक्षिण दिशा है। देवता आप (जल) कहे गये हैं और पितरों का नाम भी आप है अतः पितरों के हित की इच्छा रखने वाला पुरुष उनके लिये जल में ही जल दे। (मा० पु०)।

उस समय पितर पूजा (Ancestor worship) इस रूप में उपस्थित थी। इससे हम समझ सकते हैं कि उस समय के विश्वास दूसरे आधारों पर निर्भर थे। हमें समाजशास्त्रीय दृष्टि से उनका अध्ययन करना चाहिये। विज्ञान सम्बन्धी धारणाएं तब प्रथम थीं

जो दिन में सूर्य की किरणों से तपता है, रात में नक्षत्रों के तेज तथा वायु का स्पर्श पाता है और दोनों संध्याओं के समय भी उक्त दोनों वस्तुओं का सम्पर्क लाभ करता है वह जल सदा पवित्र माना गया है। जो अपने स्वाभाविक रूप में, जिसमें किसी अपवित्र वस्तु का मेल न हुआ हो वह जल सदा पवित्र है, ऐसा जल किसी पात्र मे हो या पृथ्वी पर, शुद्ध माना गया है। देवताओं और पितरों के लिये सदा जल में ही जलाञ्जलि दे और जो बिना संस्कार के ही मरे हैं, उनके लिये विद्वान पुरुष भूमि पर जलाञ्जलि दे। श्राद्ध और होम के समय एक हाथ से पिण्ड एवं आहुति दे किन्तु तर्पण में दोनों हाथों से जल देना चाहिये। यह शास्त्रों द्वारा निश्चित धर्म है। (मा० पु०)

अब हम भारतीय विश्वासों का यह रूप देखते हैं

(१) पृथ्वी पर जीवन मनुष्य के कर्म।

(२) कर्म के फलाफल से स्वर्ग और नरक।

(३) विभिन्न लोकों की सत्ता की स्वीकृति और पृथ्वी पर किए कर्मों से मनुष्य का उनसे सम्बन्ध।

(४) परलोक की स्वीकृति—अर्थात् पितर लोक को स्वीकृति।

इसके अतिरिक्त दैनिक जीवन में भी अनेक पाप पुण्य की मर्यादाएं हैं—

(१) एक नैतिकता (Ethics) है। उसका खंडन नहीं होना चाहिये।

(२) चातुर्वर्ण्य आदि इस समाज की व्यवस्था के प्रतीक हैं।

(३) पाप एक प्रकार से सामाजिक विघटन की प्रक्रिया (Process of social disorganization) है।

(४) तत्कालीन विज्ञान की अपनी मान्यताएं हैं, जिनमें पितृलोक, स्वर्ग लोक और नरक को माना जाता है।

(५) इनका मानव जीवन और सामाजिक जीवन से सम्बन्ध जोड़ दिया गया है।

यों हमारे सामने दण्डों का एक नया चित्र आता है। दण्ड दो प्रकार के हैं—

(१) एक राजा के द्वारा लगाया दण्ड।

(२) एक समाज के नियम के उल्लंघन का दण्ड।

राजा और समाज दोनों का ही अन्ततोगत्वा धर्म से सम्बन्ध है। धर्म का तत्कालीन विज्ञान की धारणा से सम्बन्ध है।

नरक की पूरी कल्पना की गई है। नरक का समाज पर पूरा आतंक है।

नरक पाप का फल देने वाले निम्नलिखित माध्यम हैं। यह नारद पुराण का साक्ष्य है, जिसे हम यहाँ उद्धृत करते हैं—

(१) तपन,
(२) बालुका,
(३) रौरव
(४) महारौरव,
(५) कुम्भ
(६) कुम्भपाक,
(७) निरुच्छ्वास,
(८) कालसूत्र,
(९) प्रमर्दन,
(१०) भयंकर असिपत्रवन,
(११) लालाभक्ष,
(१२) हिमोत्कट,
(१३) मूषावस्था,
(१४) वसाकूप,
(१५) वैतरिणी नदी,
(१६) श्वभक्ष,
(१७) मूत्रपान
(१८) पुरीषह्रद,

(१९) तप्तशूल,
(२०) तप्तशिला,
(२१) शाल्मली वृक्ष,
(२२) शोणित कूप,
(२३) भयानक शोणित भोजन,
(२४) वह्निज्वाला निवेशन,
(२५) शिला वृष्टि,
(२६) शस्त्रवृष्टि,
(२७) अग्निवृष्टि,
(२८) क्षारोदक,
(२९) उष्णतोय,
(३०) तप्ताय पिण्डभक्षण,
(३१) अधः शिरः शोषण,
(३२) मरुप्रपतन,
(३३) पाषाण वर्षा,
(३४) कृमि भोजन,
(३५) क्षारोदपान,
(३६) भ्रमण,
(३७) क्रकचदारण,
(३८) पुरीष-लेपन,
(३९) पुरीष-भोजन,
(४०) महाघोर रेतः पान,
(४१) सर्वसन्धिदाहन,
(४२) धूमपान,
(४३) पाशबन्ध,
(४४) नानाशूलानुलेपन,
(४५) अंगार-शयन,
(४६) मुसलमर्दन,
(४७) विविध काष्ठयन्त्र
(४८) कर्षण,
(४९) छेदन,
(५०) पतनोत्पतन,
(५१) गदादण्डादिपीडन,

(५२) नयनस्य प्रहरण,
(५३) नासावर्धबंधन,
(५४) नासामुखपीताम्बुसेचन,
(५५) लवणभक्षण,
(५६) स्नायुबन्ध,
(५७) अस्थिच्छेद,
(५८) धाराम्बुपूर्णरन्ध्रप्रवेश,
(५९) मांस भोजन,
(६०) महाघोर पित्तपान,
(६१) श्लेष्म-भोजन,
(६२) वृक्षाग्रपातन,
(६३) जलान्तर्मज्जन,
(६४) पाषाणधारण
(६५) कण्टकोपरिशयन
(६६) पिपीलिकादशन,
(६७) वृश्चिकपीडन,
(६८) व्याघ्रपीडा
(६९) शृगालीपीडा,
(७०) महिष-पीडन,
(७१) कर्दमशयन
(७२) दुर्गन्धपरिपूर्ण,
(७३) बहुशस्त्रास्त्रक्षेपन
(७४) महाक्षार निषेचन
(७५) अत्युष्णतैलपान,
(७६) महाकटुनिषेवण,
(७७) कषायोदकपान,
(७८) तप्तपाषाण-तक्षण,
(७९) अत्युष्णशीत-स्नान,
(८०) दशनशीर्णन,
(८१) तप्तायः शयन, और
(८२) अयोभार-बन्धन,

इस प्रकार करोड़ों तरह की नरक यातनाएं होती हैं, जिनका हजारों वर्षों में भी वर्णन नहीं किया जा सकता।

में जाते हैं। पालकी दान करने से भी जीव विमान द्वारा सुखपूर्वक यात्रा करता है। मुखासन गद्दे, कुर्सी आदि के दान से वह सुखपूर्वक जाता है। बगीचे लगाने वाला पुरुष शीतल छाया में सुख से परलोक की यात्रा करता है। पुष्प माला दान करने वाले पुरुष पुष्पक विमान से जाते हैं। जो देवताओं के लिए मन्दिर, सन्यासियों के लिए आश्रम तथा अनाथों और रोगियों के लिए घर बनवाते हैं, वे परलोक में उत्तम महलों के भीतर रहकर विहार करते हैं। जो अग्नि, देवता गुरु, ब्राह्मण, माता और पिता की पूजा करता है तथा गुणवानों और दीनों को रहने के लिये घर देता है, वह सब कामनाओं को पूर्ण करने वाले ब्रह्मलोक का प्राप्त होता है। जिसने श्रद्धा के साथ ब्राह्मण को एक कौड़ी का भी दान किया है वह स्वर्गलोक में देवताओं का अतिथि होता है तथा उसकी कीर्ति बढ़ती है। अतः श्रद्धापूर्वक दान देना चाहिए। (प० पु०)

ध्यान रहे पौराणिक ने 'श्रेष्ठ' ब्राह्मण पर बहुत जोर दिया है। ब्राह्मणत्व की जाँच भी शील के आधार पर ही की जाती थी।

इस प्रकार भारतीय समाज का विघटन एक बहुत लम्बे समय से होता चला आ रहा है। अपराध-नियमन के लिए इसीलिए फलाफल का जाल फैलाया गया। सिद्धान्त रूप में बहुत बड़ी बातें कही गई।

आज हमारा समाज नये मोड़ पर है। हम फिर नये मानदण्डों की खोज कर रहे हैं, परन्तु हमारे देश की अधिकांश जनता—ग्रामों में—अभी तक इन्हीं पुराने फलाफल के मानदण्डों से मन ही मन आतंकित रहती है। हमारी आवश्यकता है कि अतीत के शील के आदर्शों में से अच्छी बातें स्वीकार करें और फिर से मानववादी संस्कृति का निर्माण करें, जो उन बाधाओं और सीमाओं को पीछे छोड़ दें जिनसे निकलना चाहकर भी हमारे पूर्वज नहीं निकल पाये थे। उन्होंने अपनी सीमा में सबकी व्याख्या की थी और हम निकाले थ लेकिन उनकी धर्म-व्यवस्था उनके सिद्धान्तों का फल नहीं थी उनके सिद्धान्त उनकी धर्मव्यवस्था को उनकी अपनी सीमाओं में व्याख्यामात्र थे, जो किसी प्रकार उनसे सामंजस्य कर लेना चाहते थे।